साहित्यिकों से

❋

विनोबा

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
वर्धा (म० प्र०)

पहली बार : १०,०००
अगस्त, १९५५
मूल्य : आठ आना

मुद्रक :
विद्यामन्दिर प्रेस लि०
मानमन्दिर, बनारस

हिन्दी साहित्यिकों की अपील

आचार्य सन्त श्री विनोबा भावे ने जो सर्वोदय-यात्रा आरम्भ की है, वह उसी अहिंसक क्रान्ति का स्वाभाविक प्रसार है, जिसका सूत्रपात गांधी जी ने किया था, तथा जिसके द्वारा हमारा देश राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल हुआ। किन्तु नूतन समाज की रचना किस प्रकार से हो, यह समस्या देश के सामने अब भी अपना समाधान खोज रही है। समता और सामाजिक न्याय, इस भावी समाज के लक्ष्य हैं, किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यदि हम हिंसक साधनों का आश्रय लेते हैं, तो हमारी वह अहिंसक परम्परा विनष्ट हो जायगी, जो हमें गांधी जी से मिली है तथा जो भारत की सनातन संस्कृति का सार है। इसके विपरीत, यदि हम अपना मार्ग निश्चित रूप से निर्धारित करके उस पर अविलम्ब ही उत्साह से चलना आरम्भ नहीं करते हैं, तो हम अपनी निष्क्रियता और असावधानता के फलस्वरूप हिंसा के आवर्त्तों में भी ग्रस्त हो जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में विनोबा जी ने जो प्रयास आरम्भ किया है, उसे हम आशा और उत्साह से देखते हैं तथा हमें लगता है कि यही वह मार्ग है जिसे हमें तुरन्त अपना लेना चाहिए, जिसमें से आवश्यकतानुसार हमें नये-नये मार्ग मिलते जायँगे।

अतएव हमारी प्रार्थना है कि देश की जनता बिनोबाजी के महान् प्रयास में हार्दिक और सक्रिय सहयोग प्रदान करे, जिससे अहिंसक क्रान्ति की सभी मंजिलें हम शान्तिपूर्वक तय कर सकें, तथा जिस प्रकार हमने अहिंसक उपायों के द्वारा अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करके सभ्यता के सामने एक नया आदर्श रखा है, उसी प्रकार समत्त्व और सामाजिक न्याय पर आधारित नये समाज की रचना करके हम विश्व को यह भी बतला सकते हैं कि जिस समत्व की स्थापना के लिए रक्तपात की प्रक्रिया आवश्यक समझी जाती है, उसकी उपलब्धि हम शान्ति, प्रेम और अहिंसा से भी कर सकते हैं और यही मार्ग अधिक मानवीय और श्रेष्ठ है।

विशेषत: अपने पत्रकार बन्धुओं से हमारी प्रार्थना है कि वे लेखों, संवादों और टिप्पणियों आदि के द्वारा देश में वह वातावरण उत्पन्न करने में सहायक हों, जो इस अहिंसक क्रान्ति की प्रगति और सफलता के लिए आवश्यक हैं।

बिनीत

मैथिलीशरण गुप्त	सियारामशरण गुप्त
महादेवी वर्मा	वृन्दावनलाल वर्मा
रामधारी सिंह "दिनकर"	गंगाप्रसाद पाण्डेय
राय कृष्णदास	बाबा राघवदास

—:o:—

अनुक्रम

वागीश्वर वाग्दान दें

: १ :

आप सब लोग साहित्यिकों के तौर पर यहाँ आये हैं। यद्यपि मुझे साहित्य से प्रेम है, तथापि मेरी गिनती साहित्यिकों में नहीं। किंतु साहित्य का जो अर्थ मैं समझा हूँ, वह आपको बता देता हूँ।

'साहित्य' शब्द ही यह बतलाता है कि वह निरपेक्ष वस्तु नहीं है। वह किसी के सहित जाने वाली चीज है। साहित्य तो जीवननिष्ठा के प्रकाशनार्थ होता है। जीवननिष्ठा और साहित्य, दोनों एकरूप होने चाहिए। वाणी और अर्थ की उपमा कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर से दी है। अर्थ याने जीवन और वाणी याने साहित्य। ये दोनों एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते। वाणी के कारण जीवन की प्रभा फैलती है। उनका संबंध सूर्य और किरण जैसा है। दोनों अभिन्न हैं, फिर भी प्रचारक का काम किरण ही करती है। साहित्य जीवन की प्रभा के रूप में प्रकट होता है।

राष्ट्र के साथ-साथ साहित्य भी उन्नति या अवनति करता है। उसी प्रकार साहित्य जीवन को भी उन्नत या अवनत कर सकता है। जीवन और साहित्य को उन्नत करनेवाले दो प्रकार के उदाहरण हम लोगों ने देखे हैं। पहले प्रकार का उदाहरण गांधीजी का है। गांधीजी वैसे कोई साहित्यिक नहीं माने जाते थे, फिर भी उनके प्रभाव के कारण हिन्दुस्तान की हर भाषा का साहित्य उन्नत हुआ है।

दूसरे प्रकार का उदाहरण है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का। उनकी सद्भावना और विश्ववृत्ति के कारण समाज ऊँचा चढ़ा है। कवि जब महात्मा होते हैं, तब उनका असर जीवन पर पड़ता है।

साहित्य और सत्य एकत्र

कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ साहित्य और सत्य दोनों, एकत्र दीख पड़ते हैं; जैसे महर्षि व्यास। वे शब्द-निष्णात भी थे, व्यवहारवेत्ता भी थे, कर्मयोगी भी थे और समाज पर जब कभी आपत्ति आ जाती थी, तो वहाँ भी हाज़िर हो जाते थे। इस प्रकार के दूसरे भी कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। शंकराचार्य वैसे ही थे। उन्होंने कई प्रकार के ग्रंथ लिखे। उनमें से कुछ तत्त्वज्ञान के हैं, कुछ आम जनता के लिए हैं तथा कुछ भक्ति-पूर्ण हैं। शंकर एक महान् कर्मयोगी भी थे।

राम और वाल्मीकि

लेकिन एक ही व्यक्ति में दोनों गुण एकत्र हों, यह एक विशेष ईश्वरीय प्रसाद है। आम तौर पर एक ही गुण वाले लोग अधिक होते हैं। ये यदि एक-दूसरे के पोषक हों तो वह बहुत बड़ी बात होगी। वाल्मीकि ने रामायण लिखी। रामचन्द्र न होते तो वाल्मीकि न होते, और वाल्मीकि न होते तो रामचन्द्र न होते।

महान् प्रभावशाली शब्द

आपसे मैं आशा यह करता हूँ कि आप ऐसे शब्द-प्रयोग कीजिये कि जो पावन हों, मंगल हों, शान्तिदायी हों, जिनसे समाज को तुष्टि और पुष्टि भी मिले। आप सोचेंगे तो आपके ध्यान में यह चीज़ आ

जायेंगी कि जो आदमी तपस्वी नहीं है, चिन्तनशील नहीं है, उसके हृदय में महान् शब्द स्फुरित ही नहीं होते। ऋषि भले ही बड़ा कर्मयोगी न हो, तथापि यदि वह जीवन-निष्ठ होगा, तो उसके शब्द प्रेरणा देंगे। कभी-कभी सामान्य लोगों को भी महान् शब्द स्फुरते हैं, लेकिन वे उनके हृदय में टिकते नहीं हैं। पर ऋषियों के मुख से प्रेरित शब्दों की गंगोत्तरी होती है। उससे गंगा बनती है। सामान्य लोगों का छोटा-सा झरना मात्र रह जाता है।

सौहार्द पूर्ण शब्द

हम तो यह चाहते हैं कि सारा समाज सौहार्द से भरा हो। मेरा काम तो उसमें निमित्तमात्र है। समाज में तरह-तरह के भेद हैं। लेकिन लोगों में अगर सौहार्द होगा तो उससे विविधता में भी एक सुरीला संगीत पैदा होगा। मैं भेदों के विरुद्ध तो प्रचार कर रहा हूँ, लेकिन विविधता को मिटाना नहीं चाहता। विविधता अगर मिट जाय, तो जीवन ही नीरस बन जायगा। मैं 'वर्ग-विरोध', 'संघर्ष' आदि शब्दों से कुछ अलग तरह के शब्द निकाल रहा हूँ। परमेश्वर ने जो पंचमहाभूत, पंचतत्त्व बनाये हैं, उन्हें मैं एक समझता हूँ। उनमें मुझे कोई वर्ग नहीं दीखता।

'भूदान' शब्द

मुझे सौहार्द की खोज में 'भूदान' शब्द हाथ लगा है, और वह अच्छा चल रहा है। अभी एक भाई ने कहा कि 'भूदान' से हरएक दिल में सहानुभूति पैदा होती है। परमेश्वर की कृपा से मुझे शब्द ही ऐसा मिल गया कि जो बहुतों को समान भूमिका पर ला सका है। उससे शान्तिवादी और क्रान्तिवादी, दोनों प्रकार के लोग इकट्ठे हो

रहे हैं। जहाँ काली जमुना और शुभ्र गंगा एकत्र होती है, वहीं प्रयाग का संगम होता है। भूदान-यज्ञ भी प्रयाग के समान संगमात्मक कार्यक्रम बन रहा है। उसमें प्राचीन सभ्यता और अर्वाचीन सभ्यता का भी संगम है।

मैं आपसे कह रहा हूँ कि आप मुझे इस काम में मदद दीजिये। आपमें से किसी के पास अगर थोड़ी भी ज़मीन हो, तो उसमें से कुछ हिस्सा मुझे दीजिये। मैं तो लेने को निकला हूँ। यह सारा नया सिलसिला है। आज जब कि हम आम तौर पर लेने की बातें सुनते हैं, ऐसे वक्त मैं देने की बातें सुना रहा हूँ।

वाग्दान दीजिये

मैंने 'विदर्भ साहित्य-सम्मेलन' को संदेशा दिया था कि आप मुझे 'वाग्दान' दीजिये। वही माँग मैं आपसे कर रहा हूँ। राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी ने भूदान के बारे में शक्तिशाली शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी इस अपील के कारण और भी कई सहृदय कवियों को स्फूर्ति मिली है।

एक कवि जब कहता है : "**भूमि-दान-यज्ञ हम सफल बनायेंगे**" तो इसका असर लोगों पर बहुत ही गहरा पड़ता है। लोग जब यह गाते हैं, तब स्पष्ट पता चलता है कि अब नवीन युग का उदय हो रहा है।

जगानेवाले शब्द

कुछ लोग सूर्योदय के कारण जागते हैं। कुछ लोग चिड़ियों के गाने से जागते हैं। उसी प्रकार लोगों को जगाने की शक्ति वाणी में, साहित्य में, सारस्वत में है। उस शक्ति का उपयोग मैं आपसे इस काम के लिए चाहता हूँ।

मैं कमजोर औजार हूँ

मैंने यह काम नम्रतापूर्वक शुरू किया है। मैं यह नहीं मानता कि इस काम के लिए मुझसे अधिक शक्तिशाली वाहन दुनिया में नहीं है। लेकिन ईश्वर की योजना कुछ ऐसी विचित्र और नाटकीय है कि उसने कृष्णावतार में गोपालों से काम लिया, रामावतार में वानरों से काम लिया। उसी प्रकार वह मुझ जैसे तुच्छ लोगों से काम ले रहा है। वही मुझे शब्द-शक्ति आदि देगा। मुझे इस बात का बहुत भान है कि मैं इस काम के लिए बड़ा कमजोर औजार हूँ।

निरहंकार बनने की कोशिश

मैं यह नहीं मानता कि मैं अपनी योग्यता बदल सकूंगा। गधा अगर घोड़ा बनना चाहे, तो भी वह घोड़ा बन नहीं सकता। लेकिन एक बात मैं जानता हूँ कि अगर हम अहंकार छोड़ दें तो हमारी नाचीज वस्तु भी शक्तिशाली बन जायगी। अगर हम अहंकारशून्य—बाँस की पोली नली की तरह—बन गये, तो परमेश्वर हमें लेगा और हमारी मुरली बना कर उसे बजायेगा; यद्यपि निरहंकार बनना भी आसान काम नहीं है। लेकिन शक्तिशाली बनने की अपेक्षा वह कम मुश्किल है। मैंने इसलिए तय किया है कि अहंकार को छोड़कर सबको परमेश्वर समझ कर उनसे माँगूंगा।

मैं वाग्वीरों से वाग्दान की माँग करता हूँ।

साहित्यिक का लक्षण : प्रेमभरा दिल : २ :

चिंतन की एक शक्ति होती है, जो आत्मा की गहराई में जाकर विश्व की सूक्ष्मता में प्रवेश कर के जीवन के सिद्धान्तों का शोध करती है। इस चिंतन-शक्ति के अभाव में समाज लूला बन जायगा, प्रगति रुक जायगी। भौतिक, वैज्ञानिक संशोधनों के लिए जिस प्रकार एकान्त-चिंतन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक संशोधनों के लिए भी एकान्त-सेवन करना पड़ता है। ऐसे एकांत से भी, जो ब्रह्मर्षि होते हैं, वे संसार को जीवन के तत्त्वज्ञान का चिंतनात्मक सार देते हैं, जिसमें जीवन की समस्याओं का हल रहता है।

समाज-सेवक : राजर्षि

दूसरी शक्ति सेवा की होती है। ब्रह्मर्षियों द्वारा प्राप्त चिंतन-शक्ति के आधार पर समाज-सेवक लोक-सेवा में रत रहते हैं, जिन्हें 'राजर्षि' कहते हैं। ऐसे सेवा करनेवाले सेवक समाज में न रहें, तो समाज का न केवल एक अंग क्षीण हो जायगा, बल्कि सारा समाज शुष्क हो जायगा।

इस तरह की समाज-सेवा करनेवाले विचारक समाज में आवाज बुलन्द करते हैं। आन्दोलन की जरूरत हो तो आन्दोलन खड़ा करते हैं। संघटन की जरूरत हो तो संगठन बनाते हैं और अगर कभी लोगों की इच्छा से सत्ता भी ग्रहण करनी पड़े, तो वैसा भी करते हैं।

सत्ता ग्रहण करनेवाले ये लोग केवल सेवापरायण होते हैं। उनका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता। इधर ब्रह्मर्षियों से वे विचार लेते हैं, उधर समाज-सेवा के क्षेत्र में उन पर अमल करते हैं। पुरानी परिभाषा में उन्हें 'राजर्षि' कहते हैं। ज्ञानपूर्वक, लोकरंजन करते हुए लोक-सेवा में लगे हुए ये राजर्षि भी समाज की एक बड़ी शक्ति हैं।

निर्विकार, कुशल साहित्यिक : देवर्षि

तीसरी शक्ति साहित्य की है। जिन विचारों का ज्ञानियों को अनुभव होता है और जो आत्मा की गहराई में सिद्ध हो चुके होते हैं, उन विचारों को ऐसे चुने हुए शब्दों में वे ज्ञानी प्रकट करते हैं। लोक-वाणी में लोग उन्हें ग्रहण कर सकें, इसमें विचार को तो पहचानना पड़ता ही है, लेकिन उस विचार को वाणी का पहनाव पहनाना पड़ता है। वरना उचित शब्दों के अभाव में, प्रकाश के बजाय अप्रकाश भी हो सकता है। विचार तो अंतर की गहराई में होता है। जब उसे प्रकट करने जाते हैं, तब किसी एक शब्द का सहारा लेना पड़ता है। तब कुछ न्यूनता रहने का भाव होता है। दूसरा शब्द इस्तेमाल करें तो कुछ अतिरिक्त भाव भी प्रकट हो सकता है। दोनों का प्रयोग करें तो कोई विपरीत भाव भी प्रकट हो सकता है। इसलिए एक-एक शब्द के बारे में विवेक रखना पड़ता है, ताकि न न्यून-भाव प्रकट हो, न अतिरिक्त भाव, न विपरीत भाव। इन त्रिविध दोषों को टालकर विचार ठीक जैसे का तैसा प्रकट कर सकना चाहिए। यह तीसरी शक्ति (जनता के हृदयों तक विचार पहुँचाने की कुशलता की शक्ति) जिनमें होती है, उन्हें 'देवर्षि' कहते हैं।

ब्रह्मर्षियों की मिसाल देनी हो तो हम वशिष्ठ-याज्ञवल्क्य के नाम ले सकते हैं। देवर्षियों में नारद प्रसिद्ध ही हैं। राजर्षियों में जनक महाराज सुप्रसिद्ध हैं, जो निरंतर जन-सेवा में लगे रहते थे। यह जरूरी नहीं है कि ऐसे लोग राजा ही हों। वे लोगों की सेवा में लीन हैं, इतना काफी है।

साहित्यकारों की साधना का पथ

इस तरह साहित्यकारों को लोक-हृदय के अनुकूल परिपूर्ण शब्द प्रकट करने की कुशलता साधनी चाहिए, अर्थात् सम्यक्, मधुर और कुशल, तीनों तरह की वाणी बोलना, जिसमें न्यून, अतिरिक्त और विपरीत भाव न हों, एक महान् साधना है, जो उसीको सधती है जिसे अपना निज का कोई विकार न हो। जो निज का विकार रखता हो, वह इस तरह की सम्यक् वाणी नहीं प्रकट कर सकता। थर्मामीटर को खुद का बुखार नहीं होता, इसलिए वह दूसरों का बुखार नाप सकता है। जिसको खुद का बुखार होता है, वह दूसरे का बुखार नहीं नाप सकता। इसी तरह जिसे खुद का कोई विकार न हो, वही दूसरों के लिए सम्यक् वाणी दे सकता है। जिसको खुद का विकार हो, वह निर्विकार विचार दे नहीं सकता।

तीन ऋषियों के तीन महान् लक्षण

नारद सबसे मिलते थे। देव, दानव, मानव, सब लोगों में हो आते थे—तो यह जो दिव्य-शक्ति वाक्-प्रचार की है, वह उसीको सधती है, जिसके पास उत्तम भक्ति हो। जैसे, ब्रह्मर्षि का लक्षण चिंतन शक्ति है, राजर्षि का लक्षण उसकी निरहंकार सेवा-भावना है, वैसे ही देवर्षि का लक्षण है—सबके लिए प्रेम से भरा हुआ दिल।

सबके विचारों को परखने के लिए बुद्धि की तटस्थता, वाणी की निर्विकारता और अपने बारे में निरहंकारिता जरूरी है । जहाँ सूक्ष्म बुद्धि से मनन करके वाणी का उपयोग किया जाता है, वहाँ सब तरह की शोभा, ऐश्वर्य, वैभव, सौंदर्य और आनन्द की वृद्धि होती है ।

सहित्य की शक्ति का स्रोत

किंतु जिस देश में लोग असम्यक् वाणी प्रकट करते हैं, जो जी में आया लिख डालते हैं, और चूँकि संपादक बने हैं, इसलिए किसी भी तरह का क्यों न हो शीघ्र प्रकाशन पसंद करते हैं; सारांश, किसी भी तरह कालम भरने की जिम्मेवारी पूरी कर देना पर्याप्त समझते हैं, समय और स्थान की कोई भी पाबंदी महसूस नहीं करते, जिस देश में इस तरह वाणी का दुरुपयोग होता है, उस देश में लक्ष्मी स्वप्नवत् रहनेवाली है । अगर आपको मनन करने के लिए अवसर नहीं मिलता है, तो एक कालम कोरा रखा जा सकता है । यह तो मैंने सहज ही कहा । मैं जानता हूँ कि हिंदुस्तान के अखबारवाले कुल मिलाकर काफी विवेकी हैं । हिन्दुस्तान की तालीम की सतह ध्यान में रखते हुए यही कहना होगा कि हमारे अखबारवाले काफी संयम रखते हैं । संयम तो हमारी संस्कृति में ही पड़ा है । रघुवंश में बताया है कि सत्ययुक्त और मनन-युक्त वाणी, जो नित्य मधुर, लोक-सुलभ, लोक-ग्राही हो, तो उससे एक बड़ी भारी शक्ति प्रकट हो सकती है ।

हमारे यहाँ के साहित्य में जो सद्विचार जिस तरह प्रकट हुआ है, उस तरह शायद ही दूसरी जगह हुआ हो । इस देश में ब्रह्म-विचार का मनन हुआ । इस देश में जनक और अशोक जैसे महान् सेवक हुए, इस देश में व्यास, वाल्मीकि और शुक जैसे अद्वितीय कवि और

विचारक निर्मित हुए और उनकी परंपरा यहाँ चली। उनका संदेश अनेक भाषाओं में प्रकट हुआ। एक बहुत बड़ा आदर्श हमारे सामने उन्होंने रखा।

साहित्यिकों से निवेदन

आज हमारे सामने जो समस्याएँ हैं, वे छोटी नहीं हैं, और हमारे देश को जो मौका मिला है, वह भी छोटा नहीं है। हमारे देश ने एक दूसरे ढंग से आजादी हासिल की है, इसलिए सारी दुनिया को इस देश से एक विशेष आशा है। उसका खयाल रखकर अगर यहाँ के साहित्यिक चिंतन करेंगे, तो वे बहुत बड़ी सेवा कर सकेंगे। इस जमाने में भी हमारे देश ने अरविंद घोष जैसे ब्रह्मर्षि, रवि ठाकुर जैसे देवर्षि, और गांधीजी जैसे राजर्षि पैदा किये। ऐसे महान् आदर्श हमारे सामने उपस्थित हैं। उन सबको ध्यान में रखकर जिस तरह देश की शोभा बढ़े, ऐसी साहित्य-सेवा हमारे साहित्यिक करेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूँ। मैं इस विषय को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता। बहुत बड़ी शक्ति हमारे पास है, क्षेत्र भी उतना ही बड़ा है। हमारे अंदर आत्मा है, बाहर यह सारा विश्व रूप है। देहरी द्वार की तरह वाणी दोनों के बीच खड़ी है, उस पुल की तरह, जो नदी के दोनों किनारों को जोड़ता है। इसलिए अगर हम वाणी ठीक प्रकट करते हैं, तो उस वाणी से सारी दुनिया को सजाते हैं, सारी दुनिया को प्रकाशित करते हैं, सारी दुनिया की सेवा करते हैं। इसलिए हमें ऐसी ही शक्ति संग्रह करनी चाहिए।...

काशी विद्यापीठ
१३-७-५२

भूदान-यात्रा का आमंत्रण : ३ :

मैं अपने को साहित्यिक नहीं मानता। वैसे साहित्य के लिए मेरे मन में प्रेम है, और परमेश्वर ने मुझे हिन्दुस्तान की सब भाषाओं के और प्राचीन भाषाओं के साहित्य से परिचय प्राप्त करने का अवसर दिया है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैंने गहराई से अध्ययन किया है, परन्तु आत्म-संतोष के लिए मैंने अपना काम करते-करते कुछ अध्ययन किया है, क्योंकि मेरा जीवन कर्म-रत रहा है। वेदों से लेकर आज तक का जो विचार-प्रवाह है, उससे शब्द के खयाल से नहीं, विचारों के खयाल से मैं परिचित हूँ। उस विचारधारा में जो अच्छाइयाँ हैं, उनके प्रति मेरा प्रेम है। पश्चिम का साहित्य भी मैंने देखा है।

दो प्रकार का साहित्य

मैं साहित्यिक नहीं हूँ। आपके सामने यह व्याख्यान भी कार्यवश दे रहा हूँ। यह व्याख्यान केवल अहेतुक नहीं है, उसके पीछे हेतु है। संभव है कि साहित्य हेतु-युक्त हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। भगवद्‌गीता ने दो प्रकार के साहित्य का जिक्र किया है। एक तो वह कि स्फूर्ति हुई और उनके मुख से सूक्तों द्वारा वेद प्रकट हुआ और दूसरा वह साहित्य, जो हेतु-युक्त होता है।

साहित्यिक देवर्षि हैं

मेरा दावा साहित्यिक होने का नहीं है, परन्तु मैं जो बोलता हूँ, और करता हूँ, उसमें सदिच्छा और सद्‌भाव रहता है। इसलिए

उसकी अच्छे-साहित्य में गिनती हो सकती है। साहित्यिकों से मेरा प्रेम रहा है, और उनकी मुझ पर कृपा भी रही है। मैं उनकी कद्र करता हूँ। मैं मानता हूँ कि सामाजिक जीवन में उनका स्थान ऊँचा है, इसलिए मैंने साहित्यिकों को "देवर्षि" कहा है। ऋषि तीन प्रकार के होते हैं: ब्रह्मर्षि, राजर्षि और देवर्षि। जो तत्त्व-चिंतन में मग्न रहते हैं, जीवन की गहराई में पैठते हैं, उन्हें 'ब्रह्मर्षि' कहा जाता है। 'ब्रह्मर्षि' के चिंतन को 'राजर्षि' व्यवहार में लाते हैं, और 'देवर्षि' उसका गायन करते हैं। नारद देवर्षि थे।

सहज प्रेरणा

साहित्य आत्महेतु के लिए होता है, परमेश्वर के लिए होता है, और अहेतुक भी होता है। कुल मिलाकर साहित्यिकों से बोले बगैर, लिखे बगैर रहा नहीं जाता। उन्हें सहज प्रेरणा होती है, अन्तःस्फूर्ति होती है, जैसे, गंगा सहज बहती है, सूरज सहज प्रकाश देता है। सूरज को उसका भान नहीं होता है कि मैं प्रकाश दे रहा हूँ। उसी तरह देवर्षि स्वाभाविक रूप से बोलेंगे, रोयेंगे। हेतु-पूर्वक बोलेंगे तो भी गायेंगे। साहित्यिकों का स्थान बहुत ही ऊँचा है। 'भगवद्गीता' का मतलब है—भगवान् की गायी हुई चीज। इसलिए साहित्यिकों का जीवन में विशेष स्थान है।

अज्ञात देवर्षि

इस जमाने में भी ऐसे देवर्षि हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर देवर्षि थे। जो बड़े होते हैं, प्रसिद्ध होते हैं, वे ही अच्छे और उत्तम साहित्यिक होते हैं, ऐसी बात नहीं है। वे तो अच्छे हैं ही, परन्तु उनसे भी बढ़कर वे हो सकते हैं, जिन्हें लोग जानते नहीं। सूरज की सात प्रकार की किरणें हम जानते हैं, परन्तु जो 'अल्ट्रावायोलेट' और 'इंफ्रारेड'—जैसी

किरणें होती हैं, उन्हें हम देख नहीं सकते, परन्तु उनका लाभ मिलता है। इस तरह जो सूर्य-किरणें प्रकट होती हैं, उनसे भी वे किरणें अधिक उपकारक होती हैं, जो प्रकट नहीं होतीं। इसलिए दुनिया को जिनकी पहचान हुई है वे उतने महान् नहीं थे, जितने महान् वे थे, जिनकी दुनिया को पहचान नहीं हुई। भगवान् बुद्ध, ईसा आदि महान् व्यक्तियों की महिमा दुनिया गाती है। वे महान् थे, इसमें कोई शक नहीं है। परन्तु उनके भी कोई गुरु थे, जिनके नाम सिर्फ वे ही जानते हैं, दुनिया नहीं जानती। इसलिए हम उनकी योग्यता नहीं नाप सकते, क्योंकि हम उनको जानते नहीं। लेकिन, वे हो गये। उनके संकल्प में ऐसी शक्ति थी कि उससे काम हो गये। कभी-कभी वे अव्यक्त रूप से हमें प्रेरणा देते हैं, और हमको वेग मिलता है। किनसे वेग मिलता है, हमें मालूम नहीं होता, क्योंकि वे अव्यक्त रूप से काम करते हैं। दुनियां में वे ही अधिक महान् और उच्च कोटि के हैं।

विन्या ने पत्थर फोड़ा

मुझे बचपन का एक किस्सा याद आता है। हमारे घर में पत्थर फोड़ने का काम चल रहा था। मैं काम देखने जाता था। कभी-कभी मैं कहता था कि मैं भी फोड़ना चाहता हूँ। तो वे लोग मुझे ऐसा पत्थर फोड़ने के लिए देते थे कि जो टूटने की तैयारी में होता था। मैं ज्योंही अपनी छोटी-सी हथौड़ी से उसपर आघात करता था, त्योंही वह टूट जाता था। तब सब लोग कहते थे कि 'विन्या ने पत्थर फोड़ा।' उसी तरह दुनिया में वे लोग होते हैं, जिनका नाम दुनिया जानती है, लेकिन जिनको दुनिया जानती नहीं, वे सूक्ष्म अवस्था में रहते हैं। चिन्तन-मनन करना और उसके अनुसार जीवन बनाना

यही उनका काम होता है। उनकी महत्ता को हम पहचानते नहीं, परन्तु वे विचार को उतनी दूर तक लाते हैं कि जिसके आधार पर दुनिया में आगे कोई उस विचार को प्रसिद्ध करता है। शंकराचार्य का नाम दुनिया लेती है। दुनिया उनको बड़ा अद्वैतवादी मानती है, परन्तु अद्वैत में तो वे बच्चे थे। उनके पहले कितने महान् अद्वैतवादी हुए थे, जिनका नाम नहीं हुआ। नाम शंकराचार्य का हुआ, क्योंकि वे अपनी छोटी-सी हथौड़ी से पत्थर फोड़ने वाले "विन्या" के जैसे थे।

बुनियाद के पत्थर

तुलसीदासजी ने रामायण में लक्ष्मण का वर्णन किया है—"**रघुपति कीरति विमल पताका, दंड समान भयउ जस जाका।**" रघुपति की जो विमल पताका दीख रही है, उसके आधार स्वरूप लक्ष्मण थे। हम कहते हैं "झंडा ऊँचा रहे हमारा।" कोई यह नहीं कहता "डंडा ऊँचा रहे हमारा।" परन्तु डंडे के बिना झंडा ऊँचा नहीं रह सकता। नाम तो झंडे का ही होता है, डंडे का नहीं। लक्ष्मण डंडे के समान खड़ा था, कभी झुका नहीं। तुलसीदास जी ने उसके यश की महिमा पहिचानी और प्रकट की। स्वयं लक्ष्मण ही कबूल नहीं करेंगे कि वे रामजी से बढ़कर थे, लेकिन रामजी उन्हें वैसा मानते थे। रामजी कहते थे कि अगर तू नहीं होता तो मेरा क्या होता। जिस समय लक्ष्मण को बाण लगा, उस समय रामजी यह कहकर रोये कि अब मेरा क्या होगा! सारी लीला उन्हींकी थी। लक्ष्मण भी उनकी लीला का ही भाग था। इसलिए वह तुलना यहाँ पर लागू नहीं होती, परन्तु ऐसी मिसालें देखने को मिलती हैं। बुनियाद को कोई नहीं देखता है। सब ऊपर का मकान देखते हैं। परन्तु बुनियाद

के पत्थरों की अपनी महिमा होती है । फिर भी कोई यह नहीं कहता है कि इस मकान की बुनियाद कितनी अच्छी है । हाँ, कोई मकान पाँच सौ साल का पुराना हो तो शायद लोग उसकी बुनियाद की ओर ध्यान देंगे । लेकिन आज तो ऊपर की चीजें ही देखी जाती हैं । जिनके नाम हम जानते हैं, वे जुगनू हैं, वे जुगनू के जैसे होते हैं और जिनके नाम हम नहीं जानते हैं वे ज्योति जैसे होते हैं । मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम लिया था । परन्तु कई महान् व्यक्ति ऐसे होंगे जो अनामिक रह गये ।

भव्य कल्पना

"विष्णु-सहस्रनाम" में भगवान् के सब नाम एकत्र करके एक भव्य कल्पना की सृष्टि हुई है । वह एक बड़ा अद्भुत ग्रंथ है । उसमें भगवान् के लिए इस प्रकार के दो शब्द आये हैं—"**शब्दातिग: शब्दसह:**" वह शब्द के उस पार होता है, परन्तु शब्द को सहन करता है । जिन्होंने सूक्ष्म विचार किया, उनका यह अनुभव है कि वाणी में न मालूम क्या-क्या प्रकट होता है ! कभी-कभी विपरीत भी प्रकट होता है । वाणी में सम्यक् प्रकट होना कठिन है । इसलिए उत्तम-से उत्तम साहित्यिकों की वाणी जो प्रकट हुई है, वह भगवान् ने सहन कर ली है । उससे कोई बात प्रकट नहीं हुई । फिर भी कु प्रकट हुआ ।

अन्तः प्रेरणा

कालिदास ने अज-विलाप का जो वर्णन किया, उसे सुनकर हृदय गद्गद हो जाता है, लेकिन किसी माँ का लड़का मर जाता है तो माँ ऐसी रोती है कि दूसरों को रुलाती है । आखिर कालिदास ने क्या

किया ? इतना ही किया न कि शब्दों द्वारा शोक प्रकट किया। लेकिन अगर उस माँ से लिखने के लिए कहा जाय तो भी उससे लिखा नहीं जायगा। वह माँ यदि कवि है, उसके हाथ में हमने कलम रख दी और उससे कहा कि कुछ तो लिखो, अपना दुख नाहक न जाने दो, तो भी वह उस समय नहीं लिख पायेगी, बाद में चाहे लिख सके, जब वह उससे अलग हो जायगी। जिस भावना में हम होते हैं, उसको प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता है। जिनसे लिखे बग़ैर नहीं रहा जाता, वे ही साहित्यिक हैं।

रामनाम का रस

हम आपको आज्ञा नहीं दे सकते कि आप भूदान के गीत गायें। आपको जो सूझेगा, वही आप गायेंगे। हम आपसे सिर्फ इतना ही कहेंगे कि आपके सामने जो कुछ हो रहा है, वह एक क्रान्ति का काम है। हम तो उसमें भगवान् का एक खेल देख रहे हैं। उसमें ऐसे दृश्य दीखते हैं जिससे हमको तो स्फूर्ति होती है। इस विषय पर आज तक हमारे कई व्याख्यान हुए, परन्तु हमारा इसमें रस कम नहीं होता है, जैसे रामनाम लेने में कभी कम नहीं होता है, वैसा ही रमणीय और कमनीय यह विषय हमें मिला है। भगवान् ने हमें जो वाक्शक्ति दी है उसको इसमें पूरा अवकाश मिलता है। भगवान् ने किसी एक के हृदय को ही यह धर्म दिया है, ऐसी बात नहीं है। दुनिया में कुछ समानधर्मा होते हैं और कुछ विशेषताएँ भी होती हैं। समान-धर्मियों में, आपमें किसी को अगर सहज स्फूर्ति हुई तो आप इस विषय को छेड़िये।

स्फूर्ति का प्रश्न

बापू ने रवीन्द्र से प्रार्थना की थी कि वे जलियाँनवाला बाग के

हत्याकांड पर कुछ लिखें। उन्होंने कहा कि 'मुझे अभी स्फूर्ति नहीं हुई है।' ऐसा हो सकता है। उत्तम से उत्तम स्फूर्ति का विषय होने पर भी किसी का स्वभाव ऐसा हो सकता है कि उसे वह छूता नहीं। इसलिए हम यह नहीं कहेंगे कि आप साहित्यिकों का यह धर्म है कि आप भूदान पर लिखिये। परन्तु सहज स्फूर्ति हो जाय तो यह एक लिखने लायक विषय है, इतना ही हम कहना चाहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि आपको तो ऊबड़-खाबड़ जमीन ही मिलती है। तो मैं जवाब देता हूँ कि भगवान् ने रुक्मिणी को स्वीकार किया, इसमें भगवान् की कोई विशेषता नहीं। उन्होंने कुब्जा को स्वीकार किया, इसीमें उनकी विशेषता है। इसलिए मुझे ऊबड़-खाबड़ जमीन मिलती है तो मैं उसे उर्वरा बनाऊँगा। मैंने आश्रम में खेती का प्रयोग करते समय अपने साथियों से कहा था कि कुछ तो खराब जमीन लेकर प्रयोग करो, तभी देश की सेवा होगी। भूदान-यज्ञ में हम देख रहे है कि लोग किस तरह अपने जिगर के टुकड़े देते हैं। कइयों ने शबरी के बेर अर्पण किये हैं। मेरे लिए यह सारा विषय स्फूर्ति का है।

समान-धर्मियों से प्रार्थना

आपमें से जो समान-धर्मी होंगे उनसे मैं कहूँगा कि आप इसका निरीक्षण कीजिये और शब्द में लाने का प्रयत्न करने की प्रेरणा हुई तो कीजिये। अगर इसमें कोई मल दीख पड़े तो इसे निर्मल बनाइये। विरोधी कल्पनाएँ भी प्रकट कीजिये। भट्ठी में डालने पर स्वर्ण अपना गुण दिखाता है, इसलिए आपके मन में जो कुछ आये, उसे प्रकट कीजिये।

हमारे साथ घूमिये

साहित्यिकों के साथ बातचीत करने का समय मिलता है तो मुझे बहुत खुशी होती है। साहित्यिकों में जितनी विविधता होती है उतनी और कहीं नहीं होती। जैसे, सृष्टि में हर प्राणी अपने-अपने ढंग का होता है, वैसे ही साहित्यिकों की सृष्टि भी विचित्र होती है। हमारे देवता भी उसी तरह विचित्र होते हैं। कोई तुलसी-दल से प्रसन्न होता है तो कोई बिल्वपत्र से; कोई नंदी पर बैठता है, कोई मोर पर, तो गणपति चूहे पर। आप साहित्यिकों का देव तो गणपति है। इसलिए आप भी किस चूहे पर बैठेंगे और आपका मन कहाँ लगेगा, कोई नहीं जानता। हो सकता है कि आपको नंदी, गरुड़, मोर आदि का आकर्षण न हो और चूहे का ही आकर्षण हो। फिर भी हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप कुछ दिन हमारे साथ घूमने के लिए आइये। आपकी संगति से हमें भी आनंद होगा।...

पटना (बिहार)
२३-१०-'५५

साहित्यिक का मूल गुण : सचाई

: ४ :

मुझे अच्छा लगा कि इस आन्दोलन में जो छिपी हुई स्फूर्ति है, वह साहित्यिकों को स्वाभाविक ही मिली और हृदयंगम हुई। सियारामशरणजी ने मैथिलीशरणजी की कविताओं का एक संग्रह मेरे पास भेजा है। उन्होंने भूदान पर कुछ कविताएँ लिखी हैं। संग्रह मुझे अच्छा लगा। मेरी ऐसी कोई योजना नहीं थी कि साहित्यिकों को इकट्ठा करके कुछ कहूँ। जो पुण्य-कार्य हम कर रहे हैं उसकी सुगंध तो फैलती ही है। सुगंध फैलने पर भ्रमर तो आते ही हैं। उन्हें बुलाना नहीं पड़ता। रसिक भ्रमर सहज आते हैं, इसलिए इस विषय में मैं साहित्यिकों को बुलाना नहीं चाहता। मैं अपने को साहित्य-प्रेमी मानता हूँ। ऐसा इसलिए मानता हूँ कि दुनिया का बहुत कुछ साहित्य पढ़ने का मौका मुझे मिला है, इसीलिए बहुत सारे साहित्य से परिचय हो गया। मैं साहित्यिक नहीं हूँ, पर साहित्य का रस ग्रहण करने की क्षमता परिस्थिति के कारण मुझमें पैदा हुई है। नतीजा यह हुआ कि मेरे कुछ विचार बने हैं और इसीलिए मैं साहित्यिकों को बार-बार बुलाकर तकलीफ नहीं देना चाहता। यह बात नहीं कि मुझे उनकी कोई परवाह नहीं। साहित्यिक सहज ही आकृष्ट हो सकते हैं, प्रयत्न से नहीं। यही साहित्यिकों की विशेषता है।

साहित्यिक सच्चा हो

साहित्यिकों में कई गुण होते हैं, जिनसे वे परिपूर्ण होते हैं। और कुछ गुण हो या न हो, मूलभूत गुण तो उनमें होना ही चाहिए, जिनके बिना वे साहित्यिक नहीं हो सकते वह है—सचाई। साहित्यिक सच्चा होना चाहिए। वह सच्चा सत्पुरुष हो या सच्चा दुर्जन। सच्चा सत्पुरुष हो तो सोने में सुगंध आ जायगी। अगर दुर्जन हो तो सच्चा दुर्जन हो, भीतर और बाहर से दुर्जन हो, तब जीवन-शाला में शिक्षण पा सकता है। जीवन ऐसी शाला है जिस पर चलते ही जाओ, चाहे सीधे रास्ते पर चलो या काँटे के रास्ते पर। अनुभव से ज्ञान प्राप्त होता है, यही खूबी है। सन्मार्ग पर चलो या कुमार्ग पर, साहित्य का निर्माण होता ही है। आप जानते हैं, दुनिया का सबसे श्रेष्ठ और सुन्दर साहित्य एक बदमाश ने लिखा है, जिसका नाम है वाल्मीकि। वाल्मीकि कवि-सम्राट् हैं, इसमें शंका नहीं। आप जानते हैं, वे एक महान् दुर्जन थे। मनुष्य की हत्या पर जीवन चलाते थे, लेकिन उनका जीवन सीधा और सच्चा था, अन्दर से और बाहर से उसमें कोई फर्क नहीं था।

राम राम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।

तुलसी भीतर बाहर हुँ, जो चाहसि उजियार॥

—"अन्दर और बाहर प्रकाश चाहता है तो जो जीभ है वहाँ राम नाम का दीप खड़ा कर दे।" वाणी एक ऐसा साधन है जो बाहर और भीतर को जोड़ सकती है, लेकिन जिनके अन्दर एक और बाहर दूसरा होता है, उनकी वाणी निस्तेज बनती है। उसका समाज पर

असर नहीं होता। समाज के सामने जो सीधी बातें बोलता है उसका असर होता है।

अनुभव और वाणी

कालिदास ने 'विलाप' लिखा है। जिसका पति मर गया, बच्चा मर गया, वह स्त्री विलाप करती है। उसे कोई सिखाता नहीं, वह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। जहाँ अनुभव आता है, वहाँ वाणी प्रकट होती है। यह बनावटी बात नहीं, अनुभव की बात है। वह बच्चे के मरने का अनुभव करती और अपना शोक प्रकट करती है। किसी माँ के बारे में ऐसा नहीं सुना कि उसने विलाप इसलिए नहीं किया कि उसने किसी कॉलेज में तालीम नहीं पायी थी और बच्चा बिना विलाप के चला गया।

आप सब बालक ध्रुव को जानते हैं। ध्रुव तो एक छोटा बालक था। जंगल में तपस्या करने गया था। उसके सामने साक्षात् परमेश्वर खड़े हो गये। यह देखकर वाणी निकली नहीं, उसे कुछ सूझा नहीं, आखिर बच्चा ही तो था। कहते हैं कि भगवान् ने अपने शंख का स्पर्श उसके गाल से किया। स्पर्श होते ही वाणी प्रकट हुई

"**योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्ताम्**"—ऐसा दिव्य श्लोक वह बोल गया। वह दिव्य-वाणी थी। उसने जो दृश्य देखा उसका परिणाम हुआ और उसके प्रभाव से ऐसी वाणी निकली। भगवान् को देखकर वह प्रसन्न हो गया। जहाँ प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वहाँ वाणी प्रकट होती है। कोई मुत्सद्दी लोग अन्दर एक और बाहर दूसरा दिखाते हैं। वे दुनिया को चाहे तो ठग लें, पर अपने आपको नहीं ठग सकते, इसीलिए वे अपने को प्रकट भी नहीं कर सकते।

परमेश्वर के सामने सब खोल दीजिये

अन्तर और बाह्य में भेद रखनेवाले व्यक्ति काव्य नहीं लिख सकते, वैसे किताब के पन्ने-पर-पन्ने भले ही भरते जायँ। 'इंडियन पिनल कोड' लिखनेवाले को कभी कोई काव्य सूझता भी है? कविता का रस वहाँ प्रकट होता है, जहाँ वह अन्दर-बाहर एक-रस हो जाता है। वहाँ तो पवित्र गंगा बहती है। इसलिए मैंने कहा कि अगर कोई मनुष्य बुरा है तो उसे सचमुच बुरा होना चाहिए। पर बुरे भी सच्चे बुरे नहीं होते हैं, ढोंग करते हैं। गीता ने कहा है "**मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः**" यह रजोगुण है। मेहनत करके वह अपनी जगह पर बैठ जाता है, क्योंकि उसका सारा जीवन दम्भ से भरा रहता है। लिबास करेंगे तो दम्भ से करेंगे, बोलेंगे तो दम्भ से बोलेंगे, स्वागत में भी ढोंग करेंगे। कई जगह हमें मान-पत्र दिये जाते हैं। हमें मालूम नहीं होता कि ये मान-पत्र हैं या अपमान-पत्र। हृदय का भाव उनमें नहीं रहता। अत्युत्तम शब्द लेकर लिखते हैं।

एक ग्रामीण आता और कहता है "बाबाजी, आपके दर्शन से हमें बहुत खुशी हुई!" कितना अच्छा लगता है यह सुनकर, कितने सीधे होते हैं लोग! ये तो लम्बा-चौड़ा मान-पत्र देते हैं। संस्कृत के शब्द ढूँढ़-ढूँढ़कर उसमें लिखते हैं। आजकल सभी जगह यह दाम्भिकता आ गयी है। कोई आता है मेरे पास बात करने के लिए, बहुत बातें करता रहता है। मैं चाहता हूँ कि वह उठ जाय। जब उठता और कहता है कि "बाबाजी, मैंने आपका काफी समय ले लिया", तब मैं कहता हूँ, "नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं।" क्या यह सचाई है? ऐसा कहना चाहिए, "हाँ भाई, तुमने मेरा बहुत समय लिया,

पर अब दुबारा ऐसी गलती मत करना।" मन में तो मैं चाहता हूँ कि वह कब उठेगा। असत् वर्तन से भी ज्यादा बुराई उसे ढँकने में है। अगर आप रोग को ढकेंगे तो डाक्टर क्या मदद करेगा? डाक्टर के पास तो दिल खोल देना चाहिए। वैसे ही ईश्वर के सामने दिल खोलकर रखना चाहिए। सूरदास का यह वचन आपने सुना होगा :

"मो सम कौन कुटिल खल कामी।"

यह क्या काव्य लिखा? उसने देखा, मेरे मन में बहुत दुर्गुण भरे हैं। लोग तो मुझे 'साधु'-'साधु' कहते हैं, पर जैसे-जैसे लोग मुझे 'साधु' कहते हैं, वैसे-वैसे मेरे मन में दम्भ भरता जाता है। इसलिए उसने आखिर भगवान् के सामने अपना दिल प्रकट कर दिया। घर को आग लगे और लोग उसे ठंडा-ठंडा बतायें तो कैसे काम होगा? मन में विकार है, पाप है, मलिनता है और फिर भी लोग कहते हैं 'अच्छे' हैं। ये सारे पाप, विकार, मलिनता प्रकट हो जायँ तो मनुष्य एक बार सज्जन बन सकता है।

अति-सज्जन और अति-दुर्जन का सम्मेलन होता है। उनका स्नेह-सम्मेलन होता है। कुछ लोग मन के भाव प्रकट नहीं करते। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ वाणी की चोरी होती है। मनु ने कहा है कि 'दस चोरी करनेवाले उतने दोषी नहीं, जितने दोषी वाणी की चोरी करनेवाले होते हैं।'

वाणी की चोरी

सारे अर्थ वाणी में से निकलते हैं। जिसने वाणी की चोरी की, उसने दुनिया-भर की सारी चोरियाँ कर डालीं। सब कुछ प्रकट

तो करो। डाक्टर के पास जाओगे तो पेट दुखता है, यह प्रकट करना होगा। अगर कहेंगे कि कुछ नहीं हुआ तो डाक्टर क्या करेगा ? तब वह कहेगा, मेरे पास क्यों आये ? क्यों रोते हो ? तो पेट में जो भला-बुरा है वह बताना होगा न ! जैसे डाक्टर के पास सब खोलकर बताना होता है, वैसे ही परमेश्वर के सामने भी खोलकर रखना पड़ता है। परमेश्वर और कौन है ? यह सारी जनता ही तो परमेश्वर है। उसके सामने सब कुछ खोलकर रखने की हिम्मत चाहिए। पाप-पुण्य जो कुछ हो, वह सब खोलकर रखना होगा।

साहित्यिक का मूल गुण

साहित्यिक का मूलभूत गुण होता है—सचाई। जो बात मेरे दिल को जँचे और आपके दिल को न जँचे, उस पर मैं आपसे कविता नहीं लिखवा सकता। मेरे कहने से कोई कवि नहीं बनता। कवि तो स्वतंत्र होता है। आप जानते हैं, महाभारत का बड़ा भारी युद्ध हुआ था। मसला जमीन का था। दोनों तरफ से दावे रखे गये और वैरभाव सबके दिल में आ गया। धर्मराज ने कहा, "हमें युद्ध नहीं चाहिए, अपना दावा हम छोड़ते हैं। हमारा पहला दावा था पूरा राज्य दें, दूसरा दावा था आधा राज्य दें, वह भी छोड़ते हैं। अब सिर्फ हमारी पाँच गाँव की माँग है, पाँच गाँव दीजिये।" श्रीकृष्ण ने दूसरे पक्ष के पास जाकर यह बात कही कि "आपके पास पाँच लाख गाँव हैं, उनमें से सिर्फ पाँच गाँव उन्हें दे दीजिये।" दुर्योधन ने कहा, "नहीं भाई, सूच्यग्र याने सूई की नोक पर जितनी मिट्टी रहेगी, उतनी भी दावे के नाम पर नहीं दूँगा। दावा न करके भीख माँगें तो मैं दे सकता हूँ। दान तो साधु-महन्तों को भी देते हैं।" इसी पर से झगड़ा हो गया।

दरिद्रनारायण का प्रतिनिधि

आज मैं लोगों के सामने अपना दावा रखता हूँ, दान माँगता हूँ, गरीबों का हक माँगता हूँ। सब जमीन ईश्वर की है, ऐसा समझाता हूँ। अपने को मैं दरिद्रनारायण का प्रतिनिधि मानता हूँ। लोग मुझे जमीन दे रहे हैं, अच्छे भाव से दे रहे हैं, लेकिन मैं इतने से ही तृप्त नहीं होनेवाला हूँ। मैं कहता हूँ, अच्छी जमीन दीजिये, परती भी दीजिये, अच्छी जमीन का छठा हिस्सा दीजिये। गरीबों से कहता हूँ—'जितनी देनी हो, उतनी दीजिये।' बड़ों से मैं कहता हूँ कि 'अपने पास थोड़ी रखकर बाकी सब दे दीजिये। केवल लकड़ी से यज्ञ नहीं होता। यज्ञ के लिए घी भी चाहिए।' तो जो अच्छी जमीन है, वह घी है और जो परती जमीन है, वह लकड़ी है। मुझे दोनों चाहिए। मैं ब्राह्मण हूँ, भिक्षा का मुझे हक है। लेकिन मैं ब्राह्मण के नाते नहीं, बल्कि दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि के नाते माँग रहा हूँ और लोग दे रहे हैं।

यह माना गया है कि यह कलियुग है, लेकिन मैं इसमें सतयुग भी देख रहा हूँ। मैंने सोचा कि लोग इसे 'कलियुग' क्यों कहते हैं। फिर मेरे ध्यान में आया कि कलियुग में सतयुग आ सकता है, कलियुग तो नाममात्र है। इतिहास देखने पर मुझे पता चला कि जो अच्छे-अच्छे युग माने गये हैं, उनमें भी बुरे लोग हुए हैं। इस कलियुग में भी महान् से महान् सत्पुरुष हो गये। अब तो सतयुग आ रहा है। अगर आपको यह दर्शन हुआ तो स्फूर्ति हो सकती है।

भगवान् का साक्षात्कार !

यहाँ अन्धों ने भी दान दिया है। वह रामचरण अन्धा ! जिस पड़ाव पर मुझे कम जमीन मिली थी, वहाँ उसने रात में बैलगाड़ी

से आकर हमें दान दिया। सोये हुए लोगों को उसने जगाया। दान दिया और चला गया। मैं तो सोया था। दूसरे दिन मुझे लोग बता रहे थे, एक अन्धा आया था जो दान देकर चला गया। मैंने कहा, वह अन्धा नहीं था, वह तो भगवान् था। उसे अन्धा कहनेवाला खुद ही अन्धा है। ऐसे कितने ही किस्से हुए हैं। मेरे लिए तो वह भगवान् का साक्षात्कार है। मेरे लिए तो इसमें काव्य ही काव्य भरा हुआ है। उससे मुझे सहज ही स्फूर्ति होती है।

मुझे याद है, एक बार रवि ठाकुर गांधीजी के आश्रम में आये थे। बापू ने कहा—'आपसे हो सके तो पंजाब के हत्याकांड पर काव्य लिखियें, शायद आपको स्फूर्ति हो।' उन्होंने कहा—'मुझे स्फूर्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ जो लोग गये वे शरण गये, नीचे झुके।' लेकिन बापू को उससे स्फूर्ति मिल गयी। वहाँ जो लोग गये, उनमें एक-दो बहनें भी थीं और पति के शव के लिए उन्होंने बहुत बहादुरी दिखायी। बापू को यह जो सारा दर्शन हुआ, वह रवि बाबू को नहीं हो सका था। उनको लगा कि इसमें अपने लोगों की दुर्बलता प्रकट हो रही है। उनकी यह सारी कमजोरी है।

इस आन्दोलन में हमें कुछ लोग रद्दी जमीन देते हैं। जो यही देखेंगे, उनको काव्य कैसे सूझेगा? कुछ लोग लज्जा से भी देते हैं। कुछ अच्छी जमीन भी देते हैं। जो लज्जा से देता है, वह भी अच्छा ही है। इतना ही दर्शन जिन्हें होता है उन्हें स्फूर्ति नहीं होगी। नदी में बाढ़ आती है तो गंदा पानी भी आता है और स्वच्छ, निर्मल पानी भी आता है। वैसे ही यह है। पर इसमें स्वच्छ निर्मल

पानी आ रहा है, यह देखकर आपको स्फूर्ति होगी तो आप बहुत काम कर सकेंगे ।

अनुभूति से काव्य-स्फुरण

जहाँ, न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि !'

कवि क्रांत-दर्शी होते हैं—इस पार का नहीं, उस पार का देखने-वाले । ग्रहण के दिन किसी ने कहा—'ग्रहण होता है तो क्या होता है, हम नहीं जानते । सूर्य-पृथ्वी के बीच चन्द्र आता है तो क्या हुआ, उसमें कौन-सी बड़ी बात है ?' मैंने कहा—'तू अगर इस नदी में डूबेगा तो क्या होगा ? कौन शोक करेगा ? तेरे पेट के और आसमान के बीच पानी आता है तो क्यों चिल्लाता है ?' दुनिया में ग्रहण जैसी घटना घटती है, तो चिन्तन के लिए मौका मिलता है । सूर्य का प्रकाश मंद होता है तो सोचने की बात होती है । जहाँ खग्रास ग्रहण होता है, वहाँ दुनिया के शास्त्रज्ञ दौड़-दौड़कर आते हैं । वे समझते हैं कि बड़ी भारी घटना घट रही है, क्योंकि वे लोग ज्ञानी होते हैं । जो ज्ञानी नहीं होते, उन्हें कुछ नहीं दीखता । सूर्य डूब रहा है और हम मौज-विलास में हैं, फुटबाल खेल रहे हैं । वह तो ध्यान का समय होता है ।

मैं जेल में था, बादशाह जैसा आनन्द था वहाँ । जेलर पूछने लगा—'आपको तो यहाँ कोई दुःख दीखता नहीं ?' मैंने कहा—'जेल में रहता हूँ तो मेरे लिए नया जेल थोड़े ही है । यही एक जेल है क्या ? शरीर का भी तो जेल है, उसमें भी आनन्द है । लेकिन यहाँ पर एक दुख है ।' उसने पूछा—'कौन-सा दुख है ?' मैंने कहा, 'नहीं, अभी नहीं बताऊँगा । सात दिन की मुद्दत देता हूँ । आप

सोचकर आइये।' वह सात दिन के बाद आया और कहने लगा—'मैं तो नहीं बता सकता।' मैंने कहा, 'यहाँ चारों ओर दीवारें खड़ी हैं, जिससे मुझे सूर्योदय और सूर्यास्त नहीं दिखाई पड़ता। यही मुझे दुख है।'

कितना रमणीय दृश्य होता है सूर्योदय और सूर्यास्त का! बिना इसको देखे दुनिया के एक रत्न को खोने का दुःख होता है। जो इस घटना को देखते हैं, उन्हें काव्य की स्फूर्ति होती है। जो नहीं देखते, उन्हें कोई काव्य नहीं स्फुरता।

शहर पर बम गिरा और सारा शहर तबाह हो गया। सूचना आयी और मिलिटरी के लोग दौड़ पड़े। उन्होंने कहा—'बहुत नुकसान तो नहीं हुआ, केवल १० प्रतिशत ही नुकसान हुआ।' जहाँ गणित का मामला आता है वहाँ ऐसा ही होता है। जैसे आप किसीके घरवालों से कहें—'दस में से केवल एक मरा, नौ तो जीवित ही हैं, तो तुम दस प्रतिशत ही शोक क्यों नहीं करते?' जो घटना घटी वह मामूली है, ऐसा जिसको लगेगा उसे काव्य की स्फूर्ति क्या मिलेगी? जहाँ करुणा, आनन्द हो और उस करुणा और आनन्द का भान न हो तो काव्य नहीं स्फुरेगा। दुःख की, आनन्द की अनुभूति आपको होगी तो उसके मुताबिक आप सहयोग देंगे। जिसने सचाई से वाणी का उपयोग किया उसने लाखों एकड़ से भी अधिक दान दिया।...

गया (बिहार)
३-८-'५३

साहित्यिक : ईश्वर से भी ऊँचा

बहुत खुशी होती अगर आज मैं बँगला में बोल सकता। वैसे मैं बँगला पढ़ तो लेता हूँ और साहित्यिक भाषा में कोई बोलते हैं, तो समझ भी लेता हूँ, लेकिन बोलने में समर्थ नहीं हूँ। हाँ, अगर दो-चार महीने बंगाल में रहने का मौका आये, तो आखिरी व्याख्यान बँगला में दे सकता हूँ। लेकिन आज वह स्थिति नहीं है। मैंने कोशिश की है कि हिन्दुस्तान की सब भाषाओं से मेरा प्रेम-परिचय हो। ज्ञान-परिचय के लिए काफी समय चाहिए। उतना अवकाश मुझ जैसे व्यक्ति को कहाँ से मिलता? लेकिन मैंने प्रेम-परिचय किया है। दक्षिण और उत्तर की करीब-करीब सभी भाषाएँ मैं समझ लेता हूँ।

परमेश्वर का काम

भूदान-यज्ञ के सिलसिले में घूमते हुए ज़गह-जगह हमें साहित्यिकों से मिलने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। सबने भूदान-यज्ञ के लिए बहुत हार्दिक सहानुभूति प्रकट की और उनके मन में उत्साह पैदा हुआ। मैंने कोई खास बात तो नहीं की; परन्तु ईश्वर जब किसी काम को चालना देता है तो सहस्रमुख से देता है। चारों ओर वह फैल जाता है और तब वह काम मनुष्य का नहीं रह जाता।

कालिदास के बाद रवीन्द्रनाथ

बंगाल तो साहित्यिकों का देश माना जाता है। यह पूर्व दिशा है। पूर्व दिशा में सूर्योदय पहले होता है, ऐसा कहा जाता है। यों

तो आजकल किसे पूर्व कहा जाय और किसे पश्चिम, पता नहीं चलता। अब तो सुदूरपूर्व की भी बात की जाती है। वैसे तो पृथ्वी के गोल होने से जो पूर्व है वह पश्चिम भी है और जो पश्चिम है वह पूव भी है। फिर भी आधुनिक हिन्दुस्तान के इतिहास में भारतीय अर्वाचीन साहित्य का उदय बंगाल में हुआ। यों तो आप साहित्यिकों के पचासों नाम लेंगे; लेकिन इतने सब नाम हिन्दुस्तान को मालूम नहीं हैं। फिर भी कम-से-कम बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ और शरच्चंद्र को न जाननेवाले पढ़े-लिखे लोग हिन्दुस्तान में कहीं भी नहीं होंगे। बंगाल के दूसरे भी महान् नाम हैं, जो हिन्दुस्तान में मशहूर हैं; पर इनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि वे दूसरे क्षेत्र के ज्ञानी थे। साहित्य के क्षेत्र में ये तीन नाम हिन्दुस्तान भर में अजर-अमर हो गये हैं। इनमें भी हम कह सकते हैं कि कालिदास के बाद भारतीय संस्कृति को समग्र रूप में देखनेवाला और सम्यक् रूप में व्यक्त करनेवाला रवीन्द्र-नाथ से बढ़कर शायद दूसरा कोई नहीं हुआ। वैसे महाकवि तुलसीदास, महाराष्ट्र के ज्ञानदेव, दक्षिण भारत के कम्बन और दूसरे भी कई महाकवि हो गये हैं, लेकिन उनकी योग्यता भिन्न क़ोटि की थी। वे धर्मपुरुष थे। एक साहित्यिक के नाते, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को पूरी तरह देखा, केवल धर्म की दृष्टि से नहीं बल्कि समग्र जीवन को, जीवन के सब पहलुओं को देखा, वे रविबाबू ही हैं।

दीपकों की यह पंक्ति

यहाँ पर जो इतने सारे दीपक[1] सँजोये गये हैं, उनकी क्या जरूरत है? जीवन के अनेक पहलू होते हैं, वैसे ही ये अनेक दीपक दीख रहे हैं। जीवन के अनेक पहलुओं का जिन्हें सम्यक् दर्शन हुआ है,

१—मंच पर जगमगाती दीप-पंक्ति की ओर इशारा है।

ऐसे महापुरुष कालिदास के बाद रवीन्द्रनाथ ही हुए हैं। अतः कहा जा सकता है कि अर्वाचीन काल में यहाँ पर पूर्व दिशा में प्रथम उदय हुआ। प्राचीनकाल की बात दूसरी थी। तब दूसरी जगहों पर प्रकाश का उदय हुआ था। भगवान् बुद्ध के जमाने में बिहार सामने आया था और उपनिषदों के युग में शायद पंजाब और उत्तर-प्रदेश आगे आये थे। किन्तु कालिदास के बाद जब हम आज की हालत देखते हैं तो अर्वाचीन भारतीय साहित्य में, इधर सौ-दो सौ वर्ष में, बंगाल ही आगे आया। अर्वाचीन साहित्य की जन्मभूमि बंगाल है, ऐसा माना जाता है। ऐसे स्थान के साहित्यिकों से मिलने का प्रसंग आया है, इसलिए बहुत आनन्द हो रहा है।

भूदान-यज्ञ की पूर्वपीठिका

साहित्यिक होने का मेरा दावा नहीं है, न मुझ पर ऐसा कोई आरोप किया जाता है कि मैं साहित्यिक हूँ। यह सही है कि मैंने मराठी में कुछ लिखा है और वह लोगों को प्रिय लगा है। वह घर-घर पढ़ा भी जाता है। लेकिन पढ़नेवाले उसे साहित्य के तौर पर नहीं देखते, एक जीवन-विचार के तौर पर, धर्म-विचार के तौर पर देखते हैं। इसलिए मेरा यह दावा नहीं है, न मेरे लिए दूसरों का दावा है कि मैं साहित्यिक हूँ। किन्तु मैं साहित्य की कीमत, साहित्य का महत्त्व और उसकी शक्ति को पहचानता हूँ तथा पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों ओर की आठ-दस भाषाओं का साहित्य देखने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। इसीलिए मैं साहित्य से परिचित हूँ।

मैं बचपन में कुछ लिखता था, कविता भी करता था। लोग मुझे गणितज्ञ के तौर पर जानते हैं। यह बात सही है। यहाँ आते ही जब मैंने दीपक देखे तो सारे दीपक गिन ही डाले।

रामकृष्ण परमहंस का एक दृष्टान्त है। एक बार एक भाई आये और आम का पेड़ देखकर आम गिनने लगे। फिर दूसरे भाई आये और उन्होंने आम देखते ही दो-चार आम मँगवा कर खा लिये। उधर पहलेवाले भाई आम गिनते ही रहे।

बचपन में मैं रामकृष्ण परमहंस का साहित्य बहुत पढ़ता था। उससे मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। इंग्लिश में, मराठी में और बँगला में भी मैंने उनका साहित्य पढ़ा है। उनकी यह मिसाल यहाँ पर लागू होती है। मैंने देखते ही दीपक गिन लिये। ग्यारह दीपक थे। मुझे याद आया कि हमारी इन्द्रियाँ ग्यारह हैं और एकादश इन्द्रियों की ज्योति से सारा विश्व प्रकाशित हुआ है। इस तरह मैं देखता गया और भाव-विभोर होता गया। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि मेरे जीवन में गणित है और लोग इस बात को जानते हैं।

काव्य-रचना का शौक

मुझे बचपन में कविता रचने का भी शौक था। एक-एक कविता में दो-दो, तीन-तीन दिन लगता था। कविता गुनगुनाकर देखने से मुझे मालूम हो जाता था कि कविता अब सर्वाङ्ग-सुन्दर हुई है। मैं उस समय बच्चा ही था, तो जो लिखता वह मुझे सर्वाङ्ग-सुन्दर ही लगता था। जब मुझे पूरा समाधान हो जाता था कि कविता सुन्दर बनी है, तब उसे पूरी करता था। बचपन में मैं बहुत कमजोर था और अक्सर जाड़े के दिनों में चूल्हे के सामने बैठकर मुझे कविता लिखने की स्फूर्ति होती थी। इस तरह जब मुझे विश्वास हो जाता था कि कविता बहुत अच्छी बनी है तब मैं वह कविता अग्निनारायण को समर्पण कर देता था। इसी तरह मैंने उस समय की सब कविताएँ

अग्निनारायण को समर्पित कर दीं। फ़िर भी मेरे मित्रों ने दो-चार कविताएँ छीन लीं, तो वे आज भी हैं। बाकी सारी कविताएँ अर्पण हो गयी हैं।

मैं अग्निनारायण को कविता तब अर्पण करता था, जब मुझे विश्वास हो जाता था कि यह कविता सर्वाङ्ग-सुन्दर बनी है। वह यज्ञ की भावना थी। वही भावना भूदान-यज्ञ में भी है। तो मैंने उसकी पूर्वपीठिका (जेनेसीस) आपको बतायी कि यह भावना मुझमें पहले से थी।

अब शायद आप साहित्यिकों को ऐसा लगे कि इस तरह कविताओं की आहुति देना अनुचित है। भगवान् ईसा ने कहा है कि दीपक जलाओगे तो क्या उसे किसी पात्र के अन्दर ढाँककर रखोगे? उसे तो प्रकट करना चाहिए। उसी तरह साहित्य जब सर्वाङ्ग-सुन्दर मालूम हो तो उसे दुनिया के सामने प्रकट करना चाहिए। कुछ लोगों की दृष्टि ऐसी होती है, परन्तु मेरी दृष्टि भगवान् की चीज भगवान् को अर्पण कर देने की थी। उस आहुति से दुनिया का कोई नुकसान हुआ, ऐसा मुझे कभी नहीं लगा। बल्कि, उसके कारण मेरे अन्दर एक-एक विचार घनीभूत होता गया।

आत्मनिष्ठा की वृद्धि

भाप की शक्ति को लोग पहले नहीं जानते थे, क्योंकि भाप प्रकट होती थी और हवा में चली जाती थी। इसलिए उसकी शक्ति मालूम नहीं होती थी। परन्तु इन दिनों एक जादू हाथ आया है। भाप को बन्द करके रखना और फिर उसकी शक्ति को प्रकट करना—यह अब मालूम हो गया है। उसी तरह जो साहित्य की भाप है, उसे

पैदा करके अन्दर ही अन्दर आत्मा में हम जीर्ण करते हैं, तो कुछ खोते नहीं, बल्कि उससे आत्मनिष्ठा बढ़ती ही है ।

विचार का प्रकाशन वाणी से हो सकता है, लेकिन वाणी से भी जो गहरी चीज है, जीवन और आचरण उसके जरिये विचार का प्रकाशन होता है । वाणी भी अच्छी है परन्तु उससे सूक्ष्म साधन है—जीवन । उसके जरिये वह प्रकट होता है । उसके बाद जब मैं ब्रह्म की खोज में घर छोड़कर निकल पड़ा तो काशी में आया । वहाँ गंगा के निकट मेरा कविता लिखने का शौक और बढ़ा । उस समय मैं गंगा-तट पर बैठता था । वहाँ के शान्त वातावरण में ध्यान, चिन्तन करके कविता लिखता था और जो अच्छी बन जाती थी, उसे गंगा को अर्पित कर देता था । इस तरह अग्निनारायण गया और गंगा आयी ।

माता की प्रेरणा

एक किस्सा मुझे याद आता है । बचपन में मेरी माँ गीता पर प्रवचन सुनने जाती थीं । मेरी माँ ने मुझसे कहा कि गीता तो संस्कृत में है, मैं नहीं समझ सकती । इसलिए मुझे मराठी में गीता चाहिए । तब मैंने उसे गीता का एक गद्य-अनुवाद ला दिया । उसने वह पढ़ा और कहने लगी कि यह तो गद्य है, पद्य होता तो अच्छा होता । उस समय जो एक पद्य-अनुवाद था, वह मैंने उसे दिया । उस पद्य से मुझे सन्तोष तो नहीं था, परन्तु दूसरा पद्य-अनुवाद था ही नहीं । वह कठिन था, फिर भी मुझे वही देना पड़ा । उन दिनों मैं कॉलेज में पढ़ता था । माँ ने मुझसे कहा कि यह पद्य तो संस्कृत जैसा ही कठिन है । तो मैंने कहा कि इससे आसान कोई दूसरा है ही नहीं । जब मैंने यह बताया तो वह सहज ही बोल गयी, "फिर तू खुद ही क्यों

नहीं अनुवाद करता ?" मुझे मालूम नहीं कि उसे मुझ पर इतना विश्वास कैसे हो गया था कि यह लड़का गीता का अनुवाद कर सकता है। शायद उसने मेरा कविता लिखना और आहुति देना—यह सारा अग्नि-कार्य देखा होगा। इसलिए शायद उसे ऐसा विश्वास हुआ हो। लेकिन यह कहना होगा कि मुझे अगर सबसे अधिक बल किसी ने दिया है तो (यह कहकर विनोबाजी २-३ मिनट तक रुक गये। आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी।) मेरी माँ ने दिया है। उसने मेरे लिए कुछ नहीं किया। वह मुझे कुछ सिखा भी नहीं सकती थी। वह विद्वान् नहीं थी। पढ़ी-लिखी नहीं थी। उसे पढ़ना तो मैंने ही सिखाया था। परन्तु उसने मुझ पर अत्यधिक विश्वास रखा। केवल उसके विश्वास से ही मुझमें बल आ गया। यह कीमिया है, जादू है। यही जादू मैंने वेद और उपनिषदों में पाया।

श्रुति को 'माता' कहते हैं। शंकराचार्य ने श्रुति का—वेदों का वर्णन किया है कि '**मातृ-पितृ-सहस्राणाम्**।' श्रुति या वेद इतने करुणामय हैं कि सहस्र माता-पिता से भी अधिक करुणामय हैं। श्रुति हम पर विश्वास रखती है और विश्वास से ही मनुष्य को बलवान् बनाती है। हम वेद के सामने जाते और कहते हैं कि 'हम दीन हैं, पापी हैं, वासनाओं से भरे हुए हैं।' श्रुति हमारी बात सुन तो लेती है, परन्तु हमसे कहती है कि "तू ब्रह्म है !" मानवता पर कितना अधिक विश्वास है यह ! हम खुद उसके पास जाकर कहते हैं कि "हम नादान हैं, पापी हैं, तू ही हमको बचा" तो वह हमें पहला ही वाक्य सुनाती है कि "तू पापी नहीं है, तू ब्रह्म है।"

अन्य पचासों धर्मग्रन्थ हैं, जो कहते हैं कि 'तू पापी है और अब

पुण्यवान् बन।' परन्तु श्रुति ऐसा नहीं कहती। वह विश्वास रखती है कि तू ब्रह्म है। वैसे ही मेरी माता ने मुझ पर विश्वास रखा। मैंने उस समय उसकी बात सुन ली, लेकिन वह चीज मेरे मन में पड़ी हुई थी। फिर कई साल बाद, जब मेरी माता मर चुकी थी, मुझे मराठी में गीता का कविता में अनुवाद करने की प्रेरणा हुई। उसे मैंने नाम भी दिया "गीताई" याने गीता माऊली, गीतामाता। अब वह चीज महाराष्ट्र में घर-घर पहुँच गयी है। उसकी तीन लाख से ज्यादा प्रतियाँ बिक चुकी हैं। उस पुस्तक का बहुत आदर होता है। जब मैं सोचता हूँ कि इसका इतना आदर क्यों होता है, तो मुझे यही उत्तर मिलता है कि उसके पहले मैंने जो कुछ चिन्तन-मनन किया था और लिखकर अग्निनारायण और गंगा को समर्पण किया था, उसी का यह प्रसाद है। वह मेरे द्वारा नहीं लिखा गया है। मैं उसे कोई साहित्यिक कृति नहीं मानता हूँ, उसमें धर्मचिन्तन है। मैंने यह माता की प्रेरणा से ही किया।

साहित्यिक : ईश्वर से भी बड़ा

मैं साहित्यिक नहीं हूँ, परन्तु साहित्यिकों का आशीर्वाद चाहता हूँ। क्योंकि साहित्य की शक्ति पर मेरा बहुत विश्वास है। मैं मानता हूँ कि साहित्य की शक्ति परमेश्वर की शक्ति के बराबर पड़ती है। मैंने यह धृष्टतापूर्ण वाक्य कहा है। परन्तु मैं मानता हूँ कि ब्रह्माण्ड में जो है, उसे ईश्वर की शक्ति माना जाता है। ब्रह्माण्ड में जो है, वह सब साहित्यिकों की वाणी में आता है। परन्तु जो ब्रह्माण्ड में नहीं है, वह भी साहित्यिकों की वाणी में आता है। शश-शृंङ्ग ईश्वर की सृष्टि में नहीं है, परन्तु साहित्यिकों की सृष्टि में है। आकाश-पुष्प

को किसने देखा था, परन्तु साहित्यिक सृष्टि में वह है । आकाश-गंगा भी आकाश में तो नहीं है, परन्तु साहित्यिक की सृष्टि में है। साहित्यिक तो आकाश में, पाताल में और धरती पर गंगा की धारा देखते हैं। इस तरह वे गंगा की तीन-तीन धाराएँ देखते हैं । लेकिन ईश्वर की सृष्टि में गंगा की एक ही धारा है, जो हिमालय से निकलती है और गंगासागर में लीन हो जाती है । इसलिए साहित्यिकों के पास बहुत शक्ति पड़ी है ।

साहित्य क्या है ?

मैं आपसे यह नहीं कहूँगा कि आप भदान-यज्ञ पर लिखिये, क्योंकि ऐसा कहना धृष्टता भी होगी और मूर्खता भी । धृष्टता इसलिए होगी कि साहित्यिक अपना धन्धा जानते हैं । उनको सहज ही क्या-क्या उचित है और क्या-क्या अनुचित, इसकी पहचान हो जाती है । उनसे कुछ कहना नहीं पड़ता । इसलिए जो कहेगा उसकी वह धृष्टता होगी और मूर्खता इसलिए होगी कि कोई भी साहित्यिक दूसरे के कहने से नहीं लिखता । वह तो अन्तःप्रेरणा से लिखता है, जब उसके लिए कोई बाहर का निमित्त कारण मिल जाता है । साहित्यिक जब लिखने बैठते हैं तो उन्हें ऐसा भान नहीं होता कि उन्होंने जो लिखा है, उससे उन्होंने संसार पर उपकार किया है । यदि ऐसा भान हो जाय तो वह साहित्य नहीं होगा । साहित्य तो वही है जो आत्मा के सहित , आत्मा के साथ चलता है । सहित यानी चलनेवाला साथी । इसलिए जब वह अन्दर की गहराई से बाहर आता है तब सारे संसार को पावन करता है । वह किस गुहा से निकलता है, किसी को मालूम नहीं है । उस गुहा में दुनिया की पहुँच नहीं है । गंगा जब बाहर

आती है, तब लोग उसे पहचानते हैं और गंगावगाहन करते हैं, परन्तु वह किस गुहा से निकलती है, उसे कोई नहीं जानता ।

साहित्यिक और राज्याश्रय

आजकल ऐसा जमाना आया है कि दूसरी ही बातें चलती हैं। उनमें कोई सार नहीं है, ऐसा तो हम नहीं कहते । अभी दिल्ली में 'साहित्य अकादमी' बनायी गयी । क्या हमारे भारत के साहित्य में 'अकादमी' के लिए कोई शब्द ही नहीं मिला ? यहाँ पर दस-बारह भाषाएँ हैं और वे दस हजार वर्षसे से विकसित हुई हैं । जब उन भाषाओं में उस काम के लिए कोई शब्द ही नहीं मिला तो वह कार्य क्या चलेगा ? विज्ञान की बात दूसरी है । विज्ञान के शब्द चाहे हमारी भाषाओं में न मिलें, परन्तु साहित्य के लिए समुचित शब्द नहीं मिलते हैं तो वह चीज ही मुझे खटकती है । फिर मैंने सोचा कि खैर, नाम कोई हो, पर काम ठीक हो तो ठीक होगा । लेकिन काम भी क्या होता है ? साहित्यिकों को इनाम दिया जाता है । अब सोचिये कि दुनिया में इनाम से कोई चीज बनती है ? तुलसीदास और कबीर को क्या इनाम मिला था ? हाँ, हमारे रवीन्द्रनाथ को इनाम मिला था, जिसे "नोबेल प्राइज" कहा जाता है । इस जमाने में हर बात की कीमत पैसे में आँकी जाती है । किसी ने अच्छा साहित्य लिखा, तो उसे अच्छी तरह से खिलाया-पिलाया जाना चाहिए, ऐसा कहा जाता है; लेकिन खिलाने-पिलाने का साहित्य से क्या सम्बन्ध है ? हम मानते हैं कि साहित्यिक को जीवन के लिए कुछ चाहिए । लेकिन आज हर चीज की कीमत पैसे में करते हैं और इसलिए इनाम देते हैं ।

सोचते हैं कि इससे उसको कुछ सहारा मिल जायगा; परन्तु साहित्यिक के जीवन का मूलस्रोत दूसरा ही होता है ।

भगवदर्पण

आन्ध्र में पोतना नाम के एक भक्त-कवि हो गये हैं। उन्होंने भागवत का तेलुगु में अनुवाद किया। वे किसान थे, खेती करते थे। बहुत ज्यादा संस्कृत नहीं जानते थे, लेकिन कुछ जानते थे। इसीलिए तो वे अनुवाद कर सके। उन्होंने ग्रन्थ लिखा तो उनके मित्रों ने सलाह दी कि यह ग्रन्थ राजा को अर्पण करो तो इसका खूब प्रचार होगा। उन दिनों साहित्य का आदर करनेवाले राजा होते थे। परन्तु पोतना ने कहा कि 'मैं सोचूँगा' और जब उन्होंने समर्पण-पत्रिका लिखी तो उसमें लिखा कि 'यह भगवान् की कृति भगवान् को ही अर्पण करता हूँ।'

पोतना खेती करके मिट्टी में अपना पसीना डालकर अपनी रोटी कमाते थे। बचे हुए समय में उन्होंने भागवत लिखी तो क्या वह किसी राजा को अर्पण की जा सकती है? हिन्दुस्तान का साहित्य ऐसे ही लोगों के कारण बढ़ा है जिन्होंने लक्ष्मी को माता समझा, दासी नहीं। जो निरन्तर साहित्य का सर्जन करते थे, वे जन-समाज में काम करते रहे और शरीर के लिए जीवनाधार के तौर पर जो कुछ मिलता था, उसीसे सन्तुष्ट रहते थे। उन्होंने राजाओं की परवाह नहीं की। पैसे से वे खरीदे नहीं जा सकते थे। ऐसे ही लोगों से हिन्दुस्तान का साहित्य बढ़ा है। तुलसीदास, कबीर, पोतना, तुकाराम—इस तरह भाषा के सर्वोत्तम साहित्यिकों को देखिए, वे राज्याश्रित नहीं

थे। वे भगवान् के आश्रित थे। जन-समाज में जीवन बिताते थे। आप उन्हीं के वारिस हैं।

अन्तःप्रेरणा से ही लिखें

आप साहित्यिक लोग जानते हैं कि जनता में विचार का कौन-सा प्रवाह चलना चाहिए। उससे आपको सहज प्रेरणा मिलेगी। उसीमें आपका भला है, मेरा भला है और हिन्दुस्तान का भला है। आप अन्तःप्रेरणा से ही लिखें। मैं आपसे एक बात कहना चाहता हूँ। हमें जीवनशुद्धि का काम सतत करते रहना चाहिए। फिर सहजभाव से आपको जो स्फुरित होगा, उसीसे देश आगे बढ़ेगा।

एक बात और। साहित्यिकों के पास भी तो कुछ सम्पत्ति होती है। तो जहाँ यह सार्वजनिक यज्ञ शुरू हुआ है, उसमें आपकी भी अपना हिस्सा समर्पित करना चाहिए। उससे सब लोगों को प्रेरणा मिलेगी। आपके हृदय का भी समाधान हो जायगा कि जनता की जो माँग है, उसमें हमने भी साथ दिया। इसलिए मैं चाहता हूँ कि इसमें आप कुछ-न-कुछ दें। फिर साहित्य की आपको जो भी प्रेरणा हो उसके अनुसार आप हमें जो भी कृपाप्रसाद दे सकते हैं, दें। मैं आप सबको भक्तिभाव से प्रणाम करता हूँ।...

बलरामपुर (मेदिनीपुर)

१६-१-'५५

साहित्यिक को एक चिनगारी ही बस ! : ६ :

बहुत खुशी की बात है कि आप लोगों से मिलने का हमें आज अवसर मिला। वैसे उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल,—तीनों बड़े प्रान्तों में हमारी यात्रा हो चुकी है और तीनों प्रान्तों में साहित्यिकों का आशीर्वाद, सहानुभूति और सहयोग भी हमें मिला है। उत्तर प्रदेश में राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त और सियारामशरणजी गुप्त के प्रयत्न से कुछ साहित्यिकों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था। बिहार में भी साहित्यिकों ने अच्छा योग-दान दिया। 'बेनीपुरी' जी और 'दिनकर' जी दोनों ने इस पर कुछ लिखा और काफी सहानुभूति दिखाई। बंगाल में तो हमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। वहाँ के प्रतिष्ठित साहित्यिक मिलने आये। बहुत भावना-पूर्वक उन्होंने हमारा पूरा हाल सुना। ताराशंकरजी वंद्योपाध्याय ने "आनन्द-बाजार-पत्रिका" में इस पर एक लेख भी लिखा। उन्होंने लिखा है कि उनका पूरा हृदय पहले से ही इस आन्दोलन के साथ है। उन तीन प्रदेशों के बाद आपके इस प्रदेश में हमारा आगमन हुआ।

साहित्यिक सम्प्रदाय से परे

तेलंगाना में जब यह काम शुरू हुआ था, उसे अब चार साल होने आये हैं। इस आन्दोलन ने सबका ध्यान खींचा है। सबसे पहले

उन लोगों का उत्साह इस काम से बढ़ा जो निर्माण का या रचनात्मक कार्य करते थे। यह स्वाभाविक था। जो लोग वर्षों तक गान्धीजी के साथ रहे थे और खादी, ग्रामोद्योग, नयी तालीम, ग्राम-सफाई आदि कामों में लगे हुए थे, वे अपने को कुछ मायूस या निराश-सा महसूस कर रहे थे। उन्हें इस काम से बहुत ही प्रेरणा मिली। भू-दान-यज्ञ से मानो उनमें नया प्राण-संचार हुआ, जिसका अनुभव इस प्रदेश में भी हुआ। आपने देखा है कि यहाँ पर गोप बाबू वगैरह इस काम में कूद पड़े हैं और सतत पद-यात्रा कर रहे हैं। प्रथम बल उनको मिला है, जो स्वाभाविक ही था। बाद में जिनका ध्यान इस आन्दोलन की ओर खिचा, उनमें हिन्दुस्तान के साहित्यिक थे। यह भी स्वाभाविक ही था। साहित्यिक किसी सम्प्रदाय के नहीं होते। साहित्यिकों का लक्षण ही यह है कि वे सम्प्रदायातीत होते हैं। जो सम्प्रदाय में बद्ध होते हैं, वे चिरंतन साहित्यिक नहीं होते, वे तो तात्कालिक साहित्यिक होते हैं। चिरंतन साहित्यिक तो सब पंथों, संप्रदायों से भिन्न, परे होते हैं। जीवन के लिए कोई क्रान्तिकारी या बुनियादी घटना घटे तो वह उनको सहज ही आकर्षक मालूम होती है। फिर वह घटना किसी संप्रदाय या पंथ की ही क्यों न हो, वह अगर बुनियादी चीज है तो साहित्यिकों को उसके प्रति आकर्षण होता है।

भूदान से गरीबों को आशा

फिर राजनैतिक पक्षवालों का ध्यान इस काम की ओर गया। काँग्रेस, प्रजा-समाजवादी आदि सब पक्षों को लगा कि इस काम का असर राजनीति पर पड़ सकता है। इसलिए उनका भी ध्यान इस ओर खिंचा। गरीबों का तो ध्यान पहले से ही इस ओर था। उनको

लगता था कि यह काम तो साक्षात् दरिद्रनारायण के लिए हो रहा है। वे चाहते थे कि स्वराज्य के बाद कोई ऐसा आन्दोलन हो जिसका उद्देश्य दरिद्रों की सेवा हो। उसका और कोई उद्देश्य न हो। हमने देखा कि स्वराज्य के बाद ऐसा नहीं हुआ। जिनके हाथों में राज्यसत्ता थी; वे कुछ आपत्ति में थे, इसलिए वह न हो सका, लेकिन गरीब लोग तो आशा से देख रहे थे कि स्वराज्य मिल गया है तो अब हमारी हालत कैसे सुधरेगी ? उन लोगों के लिए तो भूदान-यज्ञ अमृत-सिंचन जैसा है। वैसे उनको इस काम से कोई बहुत ज्यादा मदद तो नहीं मिली है, अब तक सिर्फ छत्तीस लाख एकड़ भूमि प्राप्त हुई है। यह भूमि बँटेगी तभी उनके पास आयेगी, फिर भी उनको अब तक कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ है तो भी हिन्दुस्तान भर में "दरिद्रनारायण की सेवा" शब्द चल पड़ा है। 'दरिद्रनारायण' शब्द कोई नया नहीं है। यह शब्द स्वामी विवेकानन्द का है। उनकी कितनी महान् प्रतिभा थी ! उन्हें सहज ही यह शब्द सूझा। फिर देशबन्धुदास ने उस शब्द को चलाया और गान्धीजी ने उसे व्यापक बना दिया। खादी के आन्दोलन में गान्धीजी ने दरिद्रनारायण के लिए देशभर से पैसा माँगा। उन्हें पैसा मिला और फिर चरखा-संघ शुरू हुआ। उस समय राज्य भी हमारा नहीं था, अंग्रेजों का था। देहात के गरीब लोगों को कोई पूछता भी नहीं था। तब गान्धीजी ने उनकी ओर सबका ध्यान खींचा। अब स्वराज्य के बाद तो वे आशा करते हैं कि उनका ही राज्य होगा। अब प्रथम कार्य गरीबों के उत्थान का ही होगा। लोग तो यहाँ तक सोचते थे कि 'व्हाइस रीगल लाज' का अब दवाखाना बनेगा। गान्धीजी ने भी यही बात कही थी। खैर,

वह बात नहीं हुई। उस समय मैं दिल्ली में शरणार्थियों में काम कर रहा था। वे लोग कहते थे कि गान्धीजी ने 'व्हाइस रीगल लाज' का दवाखाना बनाने को कहा था, लेकिन वह नहीं हो रहा है। उस समय उनके लिए घर भी नहीं थे, तो उनकी नजर उस बड़े मकान की तरफ गयी। वे कहने लगे कि इतने बड़े मकान में थोड़े से ही लोग रहते हैं। खैर, वह भी नहीं हुआ।

गांधीजी की असामान्य प्रतिभा

हम तो समझते हैं कि गान्धीजी की असामान्य प्रज्ञा थी जिससे वे सामान्य जनता के साथ फौरन एकरूप हो जाते थे। उन्हें कुछ सोचना ही नहीं पड़ता था। एक मुट्ठीभर नमक क्या चीज़ थी! किसका ध्यान उस पर जा सकता था? हाँ, गोखले असेम्बली में कभी बोले थे कि नमक पर टैक्स नहीं होना चाहिए। उसका आधार लेकर गान्धीजी ने कहा कि नमक तो मुफ्त मिलना चाहिए। हमारी भाषा में एक शब्द है, 'नमक हराम', उसका मतलब यह है कि सारे जीवन को रुचि या स्वाद देनेवाला पदार्थ अगर कोई है तो वह नमक है। अंग्रेजी में 'ब्रेड एंड बटर' कहा जाता है। लेकिन हमारे यहाँ तो रोटी के साथ नमक चलता है, 'नमक-रोटी' कहा जाता है। गान्धीजी ने कहा कि हम नमक बनायेंगे और अंग्रेजों का कानून तोड़ेंगे। लोग देखते रहे कि इससे क्या कानून तोड़ना होगा, परन्तु वह बात हुई; क्योंकि वह बुनियादी चीज थी। वैसे ही शराब की दूकानों पर पिकेटिंग करने की बात लीजिये। उन्होंने बहनों से पिकेटिंग करवायी। तब चर्चा चल रही थी कि शराब की दूकानों पर किसे भेजा जाय, क्योंकि वे तो गुंडों के अड्डे होते हैं। सबसे नीचे के स्तरवाले लोग

वहाँ पहुँचते हैं। तब गांधीजी ने कहा कि वहाँ बहनों को भेजना चाहिए। और बहनों की क्या हालत थी ? वे तो घर के बाहर भी नहीं निकलती थीं। परदे के अन्दर ही रहती थीं। उनके हाथ में गहने होते थे, यानी शृंखला होती थी। सोने की ही सही, पर थी शृंखला ही। उन्हें भीरु भी कहा जाता था। ऐसी बहनों को बदमाशों का सामना करने की यह सूचना बड़ी विचित्र मालूम हुई। लोगों ने कहा कि वहाँ का वातावरण तो बड़ा गन्दा होता है, गालियाँ बकी जाती हैं, वहाँ बहनें कैसे जा सकती हैं ? तब गांधीजी ने कहा कि बहनें तो सभ्यता और संस्कृति की मूर्ति हैं न ! अतः जहाँ असंस्कृति है वहाँ संस्कृति को भेजना चाहिए। वहाँ तो सद्भावनावालों को ही भेजना चाहिए। अन्धकार का मुकाबला प्रकाश से ही हो सकता है। बहनें वहाँ पर गयीं और लोग उनको देखकर शर्मिन्दा हुए। यह सब गान्धीजी की सूझ थी। जिनकी दुनिया में कोई कीमत नहीं है, उनके साथ एकरूप होने की अद्भुत सूझ उनमें थी और वह बिलकुल सहज होती थी।

साहित्यिक चिनगारी को पहचानते हैं

इन बातों से आजादी की लड़ाई को जोर मिला। कुछ लोग तो उल्टा सोचते थे। वे कहते थे कि शराब-बन्दी, खादी वगैरह चीजें स्वराज्य-आन्दोलन के साथ जोड़ दी गयीं, इसलिए उनमें जोर आ गया। लेकिन वे नहीं समझते थे कि ये तो जीवनदायिनी चीजें हैं, उनके कारण स्वराज्य-आन्दोलन में नैतिकता आयी। फिर स्वराज्य आया। उसके बाद फिर अब कुछ बात करनी है तो गरीबों के लिए ही करनी है। फिर भू-दान-यज्ञ चला। छत्तीस लाख एकड़ भूमि हमें मिली।

यह कोई बड़ी बात नहीं है; लेकिन है अत्यंत महत्त्वपूर्ण। अगर ज़मीन ही गिनी जाय तो क्या चीज है। हिन्दुस्तान में तीस-चालीस करोड़ एकड़ जमीन है, वहाँ यह छत्तीस लाख एकड़ जमीन एक प्रतिशत ही तो हुई। लेकिन साहित्यिकों के लिए वह विशेष बात है, क्योंकि वे चिनगारी को पहचानते हैं। दूसरों के लिए तो पेट्रोमैक्स की जरूरत होती है, लेकिन साहित्यिकों के लिए एक चिनगारी ही बस है। वे प्रकाश का अंकुर देखते हैं तो परीक्षा कर लेते हैं। दूसरे तो बीज से भी परीक्षा करना नहीं जानते, वे जब फल चखते हैं तभी जानते हैं कि फल खट्टा है या नहीं। लेकिन साहित्यिकों का स्वाद बिगड़ा हुआ नहीं है। उनका स्वाद स्वच्छ और निर्मल होता है।

साहित्यिकों के लिए हमारी भाषा में "कवि" शब्द का इस्तेमाल किया गया है: "**कविः क्रान्तदर्शी**"। कुछ सतरें, क ख ग लिख डालने से कोई कवि नहीं होता। जिसे क्रान्तदर्शन है, जिसे उस पार का दर्शन है—जहाँ का दुनिया को दर्शन नहीं है, क्योंकि दुनिया की आँखों पर परदा पड़ा है, ऐसा दर्शन जिनको है—वे कवि कहे जाते हैं। कवि को तो प्रातिभदर्शन होता है, मामूली आँख का दर्शन नहीं। जरा इशारा या निशानी मिल जाय तो उन्हें मालूम हो जाता है। अब तो हमें कुछ जमीन मिली है, लेकिन जब उत्तर प्रदेश में थे तब तो हमें ज्यादा जमीन नहीं मिली थी। फिर भी मैथिलीशरणजी और सियारामशरणजी को इस काम के प्रति आकर्षण हुआ और उन्होंने कहा कि "अरे, यह तो भारत का हृदय है।" हृदय तो छोटा होता है अँगूठे के जैसा, लेकिन उसके अन्दर जो ज्योति है, वही आत्म-तत्त्व है। वह बिलकुल ही छोटा होता है, अणुमात्र: "**अणोरणीयान् महतो**

महीयान् !" परन्तु इसकी प्रभा इतनी व्यापक होती है कि महान् से महान् चीज वही होती है। छोटी-सी चीज में भी चेतना होती है, तो वह अलग से दीखती है।

विवेकानन्द ने कहा था कि चलती ट्रेन में बहुत ताकत होती है। लेकिन पटरी पर की छोटी-सी चींटी ने देखा कि राक्षसी दौड़ी आ रही है तो वह हट जाती और बच जाती है। ट्रेन कितनी ही बड़ी हो, फिर भी चींटी उससे बच जाती है; क्योंकि वह राक्षसी बेवकूफ होती है। वह तो अचेतन है और चींटी में चैतन्य होता है, जिसके कारण वह बच सकती है। उसको मारने की शक्ति ट्रेन में नहीं होती। जिसमें चेतन का अंश है वह बात साहित्यिकों को आकर्षक मालूम होती है। इसलिए हम चाहते हैं कि आप तटस्थ बुद्धि से से इस काम की ओर देखिये, चारण मत बनिये। उदासीन होकर उसकी ओर देखिये। मैंने 'उदासीन' शब्द संस्कृत के अर्थ में इस्तेमाल किया है। "**उत् आसीनः**"—यानी ऊँचा बैठा हुआ। यह अहिंसा का विचार है। सर्वोदय का या किसी खास प्रदाय का विचार है, इस दृष्टि से मत सोचिये। स्वतंत्र बुद्धि से सोचिये। यह सोचिये कि इसका क्रान्त-दर्शन क्या हो सकता है।

भारत का गौरव : ब्रह्म-विद्या

हिन्दुस्तान की भव्यता का वर्णन अनेक लोग अनेक प्रकार से करते हैं। कहते हैं कि हिमालय जैसा पहाड़ नहीं, गंगा जैसी अद्भुत नदी नहीं। और भी कई बातें कही जाती हैं। तो इसके पीछे ममत्व है, इसलिए यह महत्ता हमें प्रतीत होती है। ममत्व न हो तो वह नहीं प्रतीत होगी। यों तो हर देश-वासी को अपने देश के लिए ममत्व

होता है, इसलिए महत्त्व मालूम होता है। हम भी कहते हैं "**सारे जहाँ से अच्छा**।" अगर पूछा जाय कि क्या अच्छा? तो कहते हैं 'हमारा'। अगर वह 'हमारा' छोड़ दें और केवल तुलना के लिए खड़े हो जायँ तो वह बात नहीं रहती।

हिन्दुस्तान की मिट्टी अमेरिका की मिट्टी से अधिक अच्छी है, ऐसी बात नहीं है। यों तो अमेरिका की मिट्टी ही बिल्कुल ताजी है—'फ्रेश' है, उसमें से अधिक फसल पैदा हो सकती है। वहाँ पर कितनी बड़ी बड़ी नदियाँ हैं! उनके सामने हमारी गंगा नदी क्या है! हाँ, यह हिमालय पर्वत दुनिया में सबसे ऊँचा है, पर उसको छोड़कर दूसरी ऐसी कोई चीज हमारे पास नहीं है, जिसके आधार पर हम दावा कर सकें कि हिन्दुस्तान श्रेष्ठ है। परन्तु ममत्व के कारण हम ऐसा दावा करते हैं।

मेरा दावा यह नहीं है कि हिन्दुस्तान की कुदरत दूसरे देशों की कुदरत से अच्छी है, लेकिन मेरा दावा यह है कि हिन्दुस्तान में ब्रह्म-विद्या निकली है, जिसकी ताकत से यह भूदान-यज्ञ चला है, उस जोड़ की वस्तु दुनिया में नहीं है। यह बात हम बिलकुल तटस्थ होकर कह रहे हैं। हमने दुनिया की बहुत-सी भाषाओं और साहित्य का अध्ययन किया है। किन्तु दुनिया की किसी भी भाषा में ऐसा साहित्य नहीं है जो निष्ठा भाव से कहे कि '**तत्त्वमसि**'—यही 'तू ब्रह्म है' और यही हमारा बल है। इसी वास्ते हम भारत का गौरव मानते हैं। वह गौरव स्वतंत्र दृष्टि से भी सिद्ध होता है। भारत 'सारे जहाँ से अच्छा' है; क्योंकि यहाँ पर ब्रह्म-विद्या है।

माँसाहार निवृत्ति

वह 'ब्रह्म-विद्या' ऐसी नहीं है कि उसके साथ-साथ अन्धकार भी रहे, भ्रम भी रहे। वह ब्रह्म-विद्या इतनी ताकतवर है कि उसके सामने अन्धकार टिक नहीं सकता, भ्रम रह नहीं सकता। उसीके बल के कारण यहाँ करोड़ों लोगों ने माँसाहार छोड़ा। दुनिया के दूसरे देशों में आज प्रयोग हो रहे हैं। वे बालवत् प्रयोग कर रहे हैं— 'वेजीटेरियन रेस्टूरेंट' खोलते हैं। कुछ लोग वहाँ जाते हैं। इस तरह वहाँ पर नया आरम्भ हुआ। जो आन्दोलन हिन्दुस्तान में दस-दस हजार साल पहले हो चुके, उनका आगमन पाश्चात्य देशों में अब हो रहा है। अब जनसंख्या बढ़ रही है, तो उनको अनुभव हो रहा है कि माँसाहार करते हैं, तो हर मनुष्य के पीछे दो एकड़ जमीन की जरूरत होती है। दूध लेते हैं और शाकाहार करते हैं तो एक एकड़ जमीन की जरूरत होती है। केवल शाकाहार और धान्याहार करते हैं तो आधे एकड़ में काम चल जाता है। पाश्चात्य लोग वैज्ञानिक होते हैं, इसलिए वे इस तरह का हिसाब करते हैं। मेरा मानना है कि वे धीरे-धीरे माँसाहार छोड़ने की तरफ आयेंगे। उनके ध्यान में आयेगा कि पशुओं को खाना गलत है। लेकिन हिन्दुस्तान में तो यह बात तभी फैल चुकी, जब जनसंख्या अधिक नहीं थी। पाश्चात्य देशों में तो जनसंख्या बढ़ रही है, इसलिए अब माँसाहार छोड़ने की बात चलेगी।

हमने सुना है कि हिटलर ने माँसाहार छोड़ दिया था, क्योंकि माँस के टिन दक्षिण अमेरिका और अर्जेण्टाइना से आते थे। वहाँ पर बैलों की हत्या होती थी और फिर टिन में भरकर माँस बाहर भेजा जाता था। बैलों को टिन का आकार मिलता था और सुन्दर-

सुन्दर टिन में बैठकर वे बैल मनुष्य के पेट में प्रवेश करने के लिए आते थे ! जर्मनी ने सोचा कि लड़ाई छिड़ जायगी और ये टिन आना बन्द हो जायगा तो हमारी क्या हालत हो जायगी, इसलिए जर्मन लोग शाकाहार का प्रयोग करने लगे। उधर माँसाहार छोड़ने की जो प्रेरणा हुई, उसके पीछे परिस्थिति का प्रभाव था। वैसे हरएक देश में सही विचार करनेवाले और सत्य शोधन करनेवाले कुछ लोग तो होते ही हैं, परन्तु जनता उनके पीछे तब जाती है, जब पीछे जाना अनिवार्य हो जाता है। लेकिन हिन्दुस्तान में तो जब जनसंख्या कम थी, तभी यह बात चली।

शाकुंतल में आता है **'आश्रमम् मृगो अयम् न हन्तव्यो न हन्तव्य:'** राजा दुष्यन्त शिकार के लिए वहाँ पर आता है तो आश्रम का बच्चा निर्भयता से उसे कहता है कि **'न हन्तव्यो न हन्तव्य:।'**—यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारो। इस तरह आज कौन लड़का बादशाह से यह बात कह सकेगा? लेकिन उस बच्चे ने दुष्यन्त से कहा, और फिर दुष्यन्त ने मृग को छोड़ दिया। यह हिन्दुस्तान की सभ्यता और संस्कृति है। यह इसलिए हुआ कि यहाँ पर ब्रह्म-विद्या थी। परिस्थिति के दबाव से तो प्रयोग होते ही हैं, लेकिन यहाँ पर माँसा-हार-परित्याग का जो प्रयोग चला वह ब्रह्म-विद्या के कारण चला। ब्रह्म-विद्या कहती है कि हम सब आत्म-रूप हैं। इसलिए कौन किसको खायेगा?

गांधी जैसे अंकुर

हमारे यहाँ ये जो गान्धी वगैरह उत्पन्न हुए हैं, यह कोई चीज नहीं है। हिन्दुस्तान की भूमि में ऐसी शक्ति है कि इस भूमि में से ऐसे

ही अंकुर निकल सकते हैं। दूसरे अंकुर नहीं निकल सकते। लोग इतिहास लिखने बैठते हैं, स्वतंत्रता के आन्दोलन का इतिहास लिखने बैठते हैं। किसने क्या किया, किसने कितना क्या किया, यह सब लिखते हैं। वे कागज देखकर लिखते हैं और कहते हैं कि पूरे कागज नहीं मिल रहे हैं। अरे! कागज में क्या रखा है। क्या हिन्दुस्तान का इतिहास कागज में लिखा है? हिन्दुस्तान का इतिहास तो आसमान में लिखा है। उधर देखो विश्वामित्र, वशिष्ठ, अरुंधती, सप्तर्षि सब वहाँ पर हैं। हिन्दुस्तान का इतिहास देखना है तो आकाश में देखो। यहाँ पर कितने ही राजा आये और गये, लेकिन नाम चलता है केवल राजा-राम का। सिर्फ हिन्दुओं की यह हालत नहीं है, हिन्दुस्तान के मुसलमान भी इसी मनोवृत्ति में पले हैं।

मैं मेवातों में काम कर रहा था। उजड़े हुए मुसलमान भाइयों को बसाने का काम कर रहा था। एक दिन उनकी सभा में मैंने पूछा कि "क्या आप अकबर बादशाह को जानते हैं?" तो उन्होंने जवाब दिया कि "नहीं जानते।" फिर पूछा, "आपने अकबर का नाम नहीं सुना?" तो उन्होंने कहा कि "सुना है, अल्ला हो अकबर, अल्ला हो अकबर।" यह तो हिन्दुस्तान के मुसलमानों की हालत है! यहाँ पर राजा राम का नाम ही मालूम है। दूसरा राजा ही हमारे देश के निवासी नहीं जानते। फिर ये छोटे-छोटे इतिहास लिखकर क्या करते हो?

वेदों से लेकर उपनिषद् तक एक धारा चली आ रही है। बुद्ध, महावीर और असंख्य सत्पुरुषों का एक प्रवाह चला आ रहा है। उसी प्रवाह में गान्धीजी आये। उनका आना लाजिमी था। वे नहीं आते तो क्या करते! हम तो उन्हें बहुत बड़ा महात्मा आदि

कहते हैं, परन्तु वे जानते भी थे और कहते थे कि 'हम कुछ नहीं हैं।' यह बात सही भी है। यहाँ पर ऐसा सनातन धर्म है, तो ऐसा आचरण होता ही है। हम इसीमें पैदा हुए हैं। इस देश की महत्ता इसीमें है कि यहाँ का जो सारस्वत है, साहित्य है, उसमें जो ऊँचे विचार मिलेंगे वैसे विचार दुनिया की दूसरी भाषाओं में नहीं मिलेंगे। बाकी जो हिन्दुस्तान का वैभव कहा जाता है, वह तो ममत्व के कारण ही।

तमिल कवि सुब्रह्मण्यम् ने कहा है कि हिमालय जैसा दूसरा पहाड़ नहीं है और उपनिषद् जैसी दूसरी पुस्तक नहीं है। आखिर आपके पास एक ही तो भौतिक चीज है और वह है हिमालय। यह जो अद्वितीय चीज है उसीकी मिसाल उस कवि ने पेश की। दूसरी चीजें तो दुनिया में भी हैं। इसलिए अगर हमारी सबसे बड़ी कोई चीज है तो वह है हमारा साहित्य। आजकल कहा जाता है कि संस्कृत भाषा तो अब मर गयी। आखिर यह मरना-जीना क्या है? बीज मर गया और वृक्ष पैदा हुआ तो क्या बीज मर गया? जहाँ बीज मरा परन्तु बीज में से पेड़ पैदा हो गया, वहाँ पर बीज नहीं मरा। जहाँ पेड़ ही नहीं पैदा होता है, वहाँ समझ लीजिए बीज मर गया, निर्जीव हो गया। यह जो हिन्दुस्तान की भाषाएँ हैं, सब संस्कृत से पैदा हुई हैं। तो उस बीज में से आज विशाल वृक्ष पैदा हुआ है। इसलिए यहाँ की हर भाषा में भक्ति का साहित्य मौजूद है। जो शक्ति बीज में थी वही शक्ति इन भाषाओं में भी आयी है। तो हिन्दुस्तान का वैभव ही यहाँ का साहित्य है, दर्शन है। संस्कृत में जो नाटक और कहानियाँ लिखी गयीं, वैसी तो दुनिया की दूसरी भाषाओं में भी लिखी गयी हैं। हम यह दावा नहीं कर सकते कि यहाँ पर सा अद्भुत इतिहास लिखा गया, वैसा दुनिया की दूसरी भाषा

में नहीं लिखा गया । लेकिन हम यह दावा कर सकते हैं कि हिन्दुस्तान में जो ब्रह्म-विद्या निकली इसकी अनेक शाखाएँ पैदा हुई, अनेक दर्शन हुए । इन सबकी बराबरी करनेवाली चीज दुनिया में दूसरी कोई नहीं है ।

ब्रह्म-विद्या किसी विशेष भूमि की वस्तु नहीं है । वह तो सारी दुनिया की चीज है । वह तो एक संयोग था, इत्तिफाक था कि वह चीज यहाँ पर पैदा हुई । वह चीज यहीं पर क्यों पैदा हुई ? इसका कारण हम नहीं जानते । ब्रह्म-विद्या कोई ऐसी चीज नहीं है कि जो साल-दो साल में फैल जाय । वह तो हजार-हजार सालों में फैलती है । लेकिन हम प्रत्यक्ष आँख से देखते हैं कि यह बीज दुनिया में फैलने-वाला है । आज का जो विज्ञान है, वह तो उसके सामने बालक है । परन्तु जैसे-जैसे वह प्रौढ़ होता जायगा, उसकी आत्मा का भान होता जायगा । आज कुछ भान हो भी रहा है । जो आधुनिकतम वैज्ञानिक माने जाते हैं, उनको यह भान हो रहा है कि शायद कुछ चेतन है । साठ साल पहले तो विज्ञान अन्धकारमय था । उस समय वैज्ञानिक ऐसा तो नहीं कहते थे कि ईश्वर है ही नहीं । वे नास्तिक नहीं थे । वैज्ञानिक नास्तिक नहीं, नम्र होते हैं । वे कहते थे कि इसके बारे में हम कुछ भी नहीं कह सकते, लेकिन अब कहते हैं कि इसमें कुछ मूल तत्त्व होना चाहिए और हमारा विश्वास है कि भारत की सारी-की-सारी ब्रह्म-विद्या विज्ञान के जरिये सही सिद्ध होनेवाली है ।

ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र है

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि श्रद्धा नष्ट हो रही है; लेकिन हम कहते हैं विज्ञान के कारण श्रद्धा की जरूरत ही नहीं रहेगी । मानव

को अनुभव आयेगा और वही अनुभव कहेगा कि सारी दुनिया में ब्रह्म-तत्त्व पड़ा है। विज्ञान तो प्रयोग करता है। आज विज्ञान और गणित के कारण ब्रह्म-विद्या का जितना स्पष्ट दर्शन हमें होता है, उतना स्पष्ट दर्शन प्राचीनकाल में नहीं होता था। उनके सामने तो स्थूल उपमाएँ थीं। उपनिषदों में कथा-कहानियाँ आती हैं। पिता पुत्र को ज्ञान दे रहा है। उसमें वट-वृक्ष की उपमा का उपयोग किया गया है। पिता कहता है कि छोटे-से बीज में से एक विशाल वट-वृक्ष पैदा होता है, छोटे से बीज में जो नहीं दिखाई देता है, वह विशाल वट-वृक्ष उसमें छिपा हुआ होता है। वैसे ही आत्मा का स्वरूप होता है। इसलिए हे सौम्य, तुम श्रद्धा रखो। आखिर उसे यह कहना पड़ा—'श्रद्धस्व सौम्य!' लेकिन आज तो हमारे पास सूक्ष्म मिसालें हैं। यह 'एटम' का युग है, ऐसा कहा जाता है। लेकिन 'एटम' से तो ब्रह्म-विद्या साफ दीख पड़ेगी। यह चेतन-शक्ति कण-कण में प्रवेश कर सकती है। उसका साक्षात् दर्शन होगा। पहले तो आत्मा का दर्शन नहीं होता था, न आत्मा कानों से सुनी जा सकती थी। **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः'** लेकिन उसको आत्मा का द्रष्टव्य और श्रोतव्य स्वरूप नहीं मालूम था। उनकी आकांक्षा थी कि आत्मा आँखों से दीख पड़े, कानों से सुनायी दे, लेकिन अब तो आत्मा आँखों से दिखाई देगी, कानों से सुनायी देगी। चन्द दिनों के बाद ऐसी हालत होगी कि आत्मा आँखों के सामने दीख पड़ेगी।

अब रेडियो आया है तथा और भी बहुत-सी चीजें आयी हैं। हम गान्धीजी के व्याख्यानों के रेकार्ड सुनते हैं और उनकी आवाज पहचानते हैं। यानी, मरने के बाद भी हम एक मनुष्य की आवाज सुनते हैं और

पहचानते हैं कि वह बापू की ही आवाज है । इसका मतलब यह हुआ कि शब्द व्यापक और नित्य है । मीमांसकों का बड़ा वाद चलता था कि शब्द नित्य है या अनित्य; लेकिन आज यह बात सिद्ध हो गयी है कि शब्द नित्य है, उसे पकड़ने की तरकीब मालूम हो जाय तो उसे हम पकड़ सकते हैं । इसका मतलब है कि कान से परे कोई शक्ति हमारे हाथ आयी है । कान की शक्ति बढ़ी है । इस तरह आँख की भी शक्ति बढ़ेगी । विज्ञान से हमें सृष्टि में आत्मा का साक्षात् दर्शन होगा । जो-जो साहित्य यहाँ पैदा हुआ, जिससे आत्म-विद्या प्रकट हुई, उसका हमें अभिमान है ।

भूदान और राजनीति

आप भूदान-यज्ञ की तरफ राजनैतिक, सामाजिक आदि सामान्य दृष्टि से मत देखिये । हाँ, यह बात ठीक है कि राजनीति पर भी इसका असर होनेवाला है और राजनीति के बदले लोकनीति आने-वाली है, यह हमारा दावा है । परन्तु ये सब दावे गौण हैं । हमारा मुख्य दावा तो यह है कि ब्रह्म-विद्या के परिणामस्वरूप यहाँ की हवा में जो अहिंसा है, उसका चिह्न भूदान-यज्ञ में प्रकट होता है । इस दृष्टि से आप इस काम की ओर देखिये ।

वाणी की उक्ति

मैंने बंगाल में ताराशंकर वंद्योपाध्याय से कहा था कि आपसे हमें वाग्दान चाहिए । उन्होंने कुछ सम्पत्तिदान दिया था, तो हमने कहा कि आपने संपत्तिदान दिया सो तो ठीक किया । जो चीज आपके पास पड़ी थी और जिसका आपके पास होना जरूरी नहीं था, वह आपने दे दी तो ठीक ही किया, लेकिन वाग्दान दीजिये । वाणी की उक्ति—

बहुत बड़ी होती है। स्वच्छ निर्मल वाणी की शक्ति बहुत बड़ी है। आखिर आप इसी भूमि में पैदा हुए हैं तो आप जायँगे कहाँ ? जो मूल है, हिन्दुस्तान का जो मूल स्रोत है उसे छोड़कर आप कहाँ जायँगे ? शब्द तो हिन्दुस्तान के ही बने हुए हैं। आप वे ही शब्द इस्तेमाल करेंगे। उन शब्दों में जरा बारीकी से देखना होता है। उनमें कितनी सुविधा भरी हुई है। क्या पानी, क्या पेड़। पेड़ शब्द के लिए इंग्लिश में एक ही शब्द है 'ट्री', लेकिन हमारी भाषा में तो पेड़ के लिए पचासों शब्द हैं। यह कहा जा सकता है कि इन पचासों शब्दों की क्या जरूरत है, नाहक परिग्रह क्यों बढ़ाना चाहिए। लेकिन यहाँ पर पेड़ के लिए जो पचासों शब्द हैं, वह इसलिए कि वस्तु की ओर सूक्ष्म दृष्टि से देखना होता है। पृथ्वी के लिए इंग्लिश में एक शब्द 'अर्थ' है। हाँ, इसमें भी कुछ अर्थ है। पृथ्वी अर्थमती, पृथ्वी का मतलब है फैली हुई। दूसरा शब्द है धरा यानी धारण करनेवाली। तीसरा शब्द है गुर्वी यानी भारी। चौथा शब्द है उर्वी यानी व्यापक। पाँचवाँ शब्द है क्षमा यानी सहन करनेवाली। तो एक ही पृथ्वी के लिए पचासों शब्द हैं। इस तरह वे लोग पृथ्वी को परमात्म-रूप में देखते थे।

सारी सृष्टि में चैतन्य

परमेश्वर के कौन-कौन गुण हैं जो यहाँ पर प्रकट हुए हों। उन गुणों को वे देखते थे और एक-एक गुण के लिए एक-एक नाम देते थे। इस तरह एक वस्तु के पचासों गुण देखते थे। किसी कवि को लिखने में सुभीता हो इसलिए नहीं, बल्कि इसलिए कि उस वस्तु के अन्दर उन्हें अनेक गुणों का दर्शन होता था। सारी सृष्टि में वे चेतन देखते थे। जैसे चेतन में अनेक गुण होते हैं, वैसे सब गुण पदार्थ में होते हैं।

इसलिए एक ही वस्तु के लिए पचासों शब्द बनाये गये हैं। उन शब्दों को छोड़कर आप लिख नहीं सकते हैं। उन्हीं शब्दों के आधार पर आप लिखेंगे। आप कितने ही गये-बीते क्यों न हों, आप जो लिखेंगे उसमें आत्म-विद्या का प्रकाशन आपके रहते-न-रहते; आपके पहचानते-न-पहचानते होगा। यह टल नहीं सकता। आप पर हमारी यह श्रद्धा है क्योंकि आप 'अमृतस्य पुत्राः' हैं। आप सब लोग जो अमृत के पुत्र हैं, कितने भी मुर्दा बने हों तो भी वह अमृत जायगा कहाँ ? इसलिए हिन्दुस्तान के साहित्यिकों में कुछ बात है। यह हमारी श्रद्धा है और अनुभव भी है।...

बालेश्वर (उत्कल)
६-२-'५५

तुकाराम का एक वचन है । परमेश्वर को संबोधित करके वह कहता है, "तेरे नाम की महिमा तू नहीं जानता, हम जानते हैं ।" वैसे ही साहित्यिकों की महिमा साहित्यिक नहीं जानते । जो अपने लिए अभिमान रखनेवाले साहित्यिक होते हैं, वे साहित्य का भी अभिमान तो रखते होंगे, परंतु उसकी महिमा नहीं जानते । वे यदि साहित्य की महिमा जानते होते, तो अभिमान न रखते । साहित्य की महिमा विशाल है । मुझे साहित्य की महिमा का भान इसलिए है कि मैं साहित्यिक नहीं हूँ । साहित्यिक न होने भर से उसकी महिमा का भान होता है, ऐसी बात नहीं । एक अवसर होता है । किसीको हासिल होता है, किसीको नहीं हासिल होता । मुझे वह अवसर हासिल हुआ—अनेक भाषाओं के साहित्य का आस्वादन करने का । हरएक भाषा का जो विशेष साहित्य है, वही मेरे पढ़ने में आया है । उसका असर भी मुझ पर बहुत हुआ है । इसलिए बेनीपुरीजी ने बिहार में जो बात कही—जहाँ मैं जाऊँ, वहाँ के साहित्यिकों को बुलाने की—वह मुझे सहज ही हृदयग्राह्य हुई ।

साहित्य यानी अहिंसा

मैं अपने मन में जब साहित्य की व्याख्या करने जाता हूँ और व्याख्या करने का मुझे शौक भी है, तब उसकी व्याख्या करता हूँ : "साहित्य यानी अहिंसा ।" अब यह सुनकर लोग कहेंगे कि यह तो खब्ती है,

हर जगह अहिंसा लाता है। परंतु साहित्यकारों ने भी उसकी व्याख्या की है कि सर्वोत्तम साहित्य 'सूचक' होता है। "सूचक साहित्य" को सर्वोत्तम क्यों माना जाता है? इसलिए कि वह सुननेवालों पर आक्रमण नहीं करता। किसी पर अगर उपदेश का प्रहार होने लगे, तो यद्यपि वह उपदेश हितकर हो, फिर भी उसका स्पर्श शीतल नहीं होता। बचपन में हम ईसप की नीतिकथाएँ पढ़ते थे, तो उनका तात्पर्य नीचे लिखा हुआ होता था। तात्पर्य यानी न पढ़ने का अंश, ऐसा हम समझते थे। कथा का तात्पर्य अगर चंद शब्दों में लिखा जा सका, तो मैं समझूंगा कि कथा लिखनेवाले में कोई कला नहीं है। अभी बेनीपुरीजी ने कहा कि 'भूदान-यज्ञ शब्द किसके साहित्य में कितनी दफा आया, इस पर से लोग हिसाब लगाते हैं कि यह साहित्य भूदान-यज्ञ का सहायक है या नहीं?' इसके साहित्य में पचास बार भूदान शब्द आया, उसके साहित्य में पाँच सौ बार आया, ऐसी सूची बनाते हैं और गिनती करते हैं।

साहित्य-बोध का अर्थ

उत्तम कृति का लक्षण यही है कि जैसे रामचन्द्र को देखने पर अनेक लोगों ने अनेक कल्पनाएँ अपनी-अपनी भावना के अनुसार कीं, वैसे ही जिस बोध से अनेकविध तात्पर्य निकलते हैं, वही साहित्य-बोध है। कानून की किताब में इससे बिल्कुल उल्टी बात होती है। एक वाक्य में से एक ही अर्थ निकलना चाहिए, दूसरा नहीं निकलना चाहिए। अगर एक वाक्य से दो अर्थ निकले, तो वकीलों की कंबख्ती आ जाती है। पर साहित्य की प्रकृति इससे बिल्कुल उल्टी होती है। गीता उत्तम साहित्य है, रामायण उत्तम साहित्य है; क्योंकि

उनके तात्पर्य के विषय में मतभेद है। जिस साहित्य के तात्पर्य के विषय में मतभेद न हो और तात्पर्य निश्चित कहा जा सके, उसमें साहित्य-शक्ति कम प्रकट होती है।

प्रसिद्ध ऋषिवाक्य है : **परोक्षप्रियाः इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः।** देव परोक्षप्रिय होते हैं। उन्हें परोक्षवाणी पसंद आती है, प्रत्यक्षवाणी पसंद नहीं आती। इसका मर्म भी यही है कि प्रत्यक्ष उपदेश में कुछ चुभने का माद्दा होता है। वाल्मीकि की रामायण जब हम पढ़ते हैं, तो उसमें बहुत ज्यादा उपदेश के वचन नहीं आते; कथागंगा बहती जाती है, मनुष्य उसके साथ-साथ बहता जाता है। अनेक मनुष्यों को अनेकविध तात्पर्य हासिल होते हैं और एक ही मनुष्य को समयानुसार अनेकविध तात्पर्य हासिल होते हैं। साहित्य की विशेषता इस विविधता में है। इसलिए जब हम साहित्यिकों से कुछ अपेक्षा रखते हैं, तो इसका मतलब यह नहीं कि वे अपनी विशेषताओं को छोड़कर हमारा काम करें। उनकी विशेषता यही है कि साहित्य से विविध बोध मिलते हैं।

वाल्मीकि की प्रेरणा

ईश्वर के प्रेम के बारे में भक्तजन कहत हैं कि वह प्रेम अहेतुक होता है, उसमें हेतु नहीं होता। प्रेम करना ईश्वर का स्वभाव है। वैसे ही साहित्य में भी कोई हेतु नहीं होता। साहित्य एक स्वयंभू वस्तु है। लेकिन हेतु रखने से जो नहीं सध सकता, वह साहित्य में बिना हेतु रखकर सधता है, यह साहित्य की खूबी है। गीता भी मुझे इसीलिए प्यारी है कि वह हेतु न रखना सिखाती है। वह एक ऐसा ग्रंथ है, जो यहाँ तक कहने का साहस करता है कि निष्फल कार्य करो।

निष्फल कार्य की प्रेरणा देनेवाला ऐसा दूसरा ग्रंथ दुनिया में मैंने नहीं देखा। साथ-ही-साथ वह (गीता) जानती है कि जिसने फल की आशा छोड़ी, उसे अनंत फल हासिल होता है। वाल्मीकि रामायण के आरंभ की ऐसी ही कहानी है। **शोकः श्लोकत्वमागतः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः**–क्रौंचमिथुन का वियोग वाल्मीकि को सहन नहीं हुआ, शोक हुआ और उसकी वाणी से सहज ही श्लोक निकल पड़ा। उसे मालूम भी नहीं था कि उसका शोक श्लोकाकार बना। बाद में नारद ने आकर कहा कि 'तेरे मुँह से यह श्लोक निकला है। इसी अनुष्टुप् छंद में रामायण गाओ।' फिर सारी रामायण अनुष्टुप् छंद में गायी गयी; सहानुभूति की प्रेरणा से काव्य पैदा हुआ और शोक का श्लोक बना।

शम और श्रम का संयोग

मैंने साहित्य की जो व्याख्या की, उसमें भी यही विशेषता है। साहित्य में ऐसी शक्ति है कि उससे श्रम का शम बन जाता है। बिना श्रम के कोई भी महत्त्व की चीज नहीं बनती, लेकिन साहित्य में श्रम को शम का रूप आता है। दूसरी चीजों में मनुष्य को आराम की भी आवश्यकता होती है। वहाँ श्रम और आराम परस्पर-विरोधी होते हैं। मनुष्य श्रम से थकता है, तो उसके बाद आराम लेता है और आराम से थकता है—आराम की भी थकान होती है—तो उसके बाद फिर श्रम करने लगता है। लेकिन साहित्य की यह खूबी है कि उसमें श्रम के साथ-साथ शम चलता है। चौबीसों घंटे काम और चौबीसों घंटे आराम, यह है साहित्य की खूबी। साहित्य का कोई बोझ नहीं होता चित्त पर।

साहित्य की सर्वोत्तम संज्ञा

साहित्य की सर्वोत्तम संज्ञा, उसका सर्वोत्तम संकेत मुझे आकाश में दीखता है। आकाश-दर्शन की किसीको कभी थकान नहीं होती। खुला आसमान निरंतर आपकी आँख के सामने होता है, फिर भी आँख थक गयी, ऐसा कभी मालूम नहीं होता। आकाश के समान व्यापक, अविरोधी और गति देनेवाला होता है साहित्य। फिर भी ठोस भरा हुआ। यह भी आकाश का ही वर्णन है। ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ आकाश न हो। जहाँ कोई ठोस वस्तु नहीं है, वहाँ भी आकाश है और जहाँ ठोस वस्तु है, वहाँ भी आकाश है। ठोस वस्तु नापने का वही मापक है। ट्रेन में जब हम बैठने जाते हैं, तो भीतर के पैसेंजर कहते हैं, यहाँ जगह नहीं है। इसका मतलब यह होता है कि यहाँ जगह तो है, परंतु वह व्याप्त है। आकाश ऐसी व्यापक वस्तु है। जहाँ कोई चीज नहीं है, वहाँ भी वह है और जहाँ कोई चीज है, वहाँ भी वह है। साहित्य का स्वरूप भी आकाश के जैसा ही व्यापक है। इसलिए आकाश ही साहित्य की सर्वोत्तम संज्ञा है।

साहित्य-सेवन की थकान नहीं आनी चाहिए। हम सुन्दर-मधुर संगीत सुनते हैं, तो 'अब बस!' नहीं कहते। जहाँ 'अब बस' आ गया, वहाँ समझना चाहिए कि वह चीज मनुष्य को थकान देनेवाली है। साहित्य के लिए भी जहाँ 'अब बस' आ गया, वहाँ समझना चाहिए कि साहित्य की शक्ति कम है, वह पूरी प्रकट नहीं हुई है।

बहुत से लोगों को खुशबू बहुत अच्छी मालूम होती है और बदबू तकलीफ देती है परंतु मुझे खुशबू की भी तकलीफ होती है। कोई बू ही अगर न रहे, तो चित्त प्रसन्न रहता है। यह बात बहुतों को

विचित्र-सी लगेगी; परंतु जिस बगीचे में खूब सारे सुगंधी पुष्प होते हैं, वहाँ पर कुछ क्लोरोफार्म जैसा इफेक्ट, असर होता है, चिंतन अस्पष्ट हो जाता है, मंद पड़ जाता है। ब्रेन को, दिमाग को थकान आती है। खुशबू के परमाणु नाक के अन्दर चले जाते हैं। उस जगह जो पर्दा होता है, वह ब्रेन के साथ जुड़ा हुआ होता है। वहाँ पर वे बैठ जाते हैं, तो उनके स्पर्श से चिंतन में एक प्रकार की मंदता आ जाती है। अगर निर्गन्ध जगह हो, तो उसकी कोई थकान नहीं आती। रंग का भी यही हाल है। कुछ रंग कुछ लोगों को प्रिय होते हैं, लेकिन वे सदासर्वदा आपके सामने हों, तो भी थकान आती है। मगर आसमान के रंग की कभी थकान नहीं आती। इसलिए प्रभु को नीलवर्ण कहा जाता है। आसमान के नीलवर्ण की कभी थकान नहीं आती।

अनुकूल ही परिणाम

साहित्य की एक व्याख्या यह है कि उसका हमेशा अनुकूल ही परिणाम होता है। पर यह तो तब बन सकता है, जब प्रतिक्षण नया अर्थ देने की क्षमता उसमें हो। जिसको दूध प्रिय है, उसे गाय प्रिय होती है, पर बिना दूध की गाय प्रिय नहीं होती। जिसे दूध प्रिय नहीं, उसे दूध देनेवाली गाय भी प्रिय नहीं होती! लेकिन ऐसी कोई कामधेनु हो, जो हर चीज देती हो, तो वह सबको सदासर्वदा प्रिय होती है। साहित्य ऐसी कामधेनु है। उसमें से अपनी इच्छा के अनुसार बहुत कुछ मिल जाता है।

'द' का मेरा-अपना अर्थ!

उपनिषद् में 'द' की कहानी आती है। एक ही 'द' अक्षर का दम, दान और दया; ऐसा तीन तरह का अर्थ किया है। देव, मनुष्य और

असुर, तीनों ने अपनी भूमिका के अनुसार बोध लिया। फिर मैंने सोचा, 'द' का मैं क्या अर्थ लूँ? यद्यपि मैं हिन्दी में बोल रहा हूँ, फिर भी मेरा मन मराठी है, इसलिए मैं मराठी में सोचता हूँ। तो मैंने सोचा कि विन्या के लिए 'द' का अर्थ क्या हो सकता है? असुरों के लिए उसका अर्थ दया होता है, देवों के लिए दमन होता है, तो विन्या के लिए 'द' याने 'दगड़'! दगड़ से मतलब है, पत्थर! अब यह अर्थ न दवों को मालूम था, न असुरों को मालूम था, न उपनिषदकारों को ही। यह शुद्ध मराठी अर्थ है—'द' याने दगड़। मैं दगड़, पत्थर के समान बन जाऊँ। कोई पचास प्रहार करें, तो भी हर्ज नहीं। वह मूर्ति भी बन सकता है और ठोकर भी दे सकता है। इतना सारा 'द' का अर्थ मुझे मालूम था और जब यह अर्थ मुझे सूझा, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

स्वल्पाक्षर साहित्यिक

उत्तम साहित्यिक शब्द-स्वल्पाक्षर होते हैं। बहुत पानी डालकर फैलाये हुए नहीं होते। स्वल्पाक्षर होते हैं, याने थोड़े में अधिक सूचकता होती है और उनमें अनाक्रमणशीलता होती है, जिससे सहज ही बोध मिले। व्यक्ति बोध लेना चाहे, तो ले सकता है और न लेना चाहे, तो नहीं भी ले सकता है। हर वक्त बोध लेना पड़े तो मुश्किल होगी, इसलिए जब बोध लेना चाहे, तभी ले सकता है। समयानुकूल बोध मिले और बोध न भी मिले, तो भी जो प्रिय हो, वही अच्छा साहित्य है।

कवि की व्याख्या

एक दफा मैं बहुत बीमार था। कभी-कभी रामजी का नाम लेता था, कभी माँ का। अब मेरी माँ तो उस समय जिन्दा नहीं थी।

मैं मन में सोचने लगा कि उस माँ का मुझे क्या उपयोग है, जो जिन्दा नहीं है और मुझे कितनी भी तकलीफ क्यों न हो, उसे मिटाने के लिए नहीं आ सकती। फिर भी मैंने उस शब्द का उपयोग किया। माँ के मरने पर भी 'माँ' शब्द के उच्चारण से उसके पुत्र को बीमारी में प्रसन्नता होती है और उस शब्द से ही उसे अपना अभीष्ट प्राप्त हो जाता है। यह ऐसा शब्द है, जिसमें काव्य की सीमा होती है।

ऐसे शब्द हमारे देश में, हमारी भाषाओं में बहुत हैं। इसलिए यहाँ लोग अनिच्छा से भी कवि बनते हैं। वे शब्द ही ऐसे होते हैं, जो अनेकविध प्रेरणा देते हैं। इसलिए मनुष्य चाहे या न चाहे, वह कवि बन जाता है। मेरा खयाल है कि भारतीय भाषाओं में जितनी काव्य-शक्ति है, उसकी तुलना में दुनिया की दूसरी भाषाओं में कम है। हाँ, अरबी और लैटिन में है। संस्कृत में यह सामर्थ्य बहुत ज्यादा है, क्योंकि वह भाषा काफी प्राचीनकाल में निर्माण हुई है। इसलिए मनुष्य आज जिस तरह स्पष्ट रूप में सोचता है, वैसा उस समय नहीं सोचता था, अस्पष्ट रूप में सोचता था। जहाँ मनुष्य अस्पष्ट रूप म सोचता है, वहाँ बहुत ज्यादा सोचता है। जहाँ स्पष्ट सोचता है, वहाँ विशिष्टता आ जाती है और व्यापकता कम हो जाती है, जैसे स्वप्न में स्पष्टता नहीं होती। परंतु स्वप्न में जो विविधता होती है, वह दुनिया में जो विविधता है, उससे भी ज्यादा होती है। सृष्टि में जो है, वह सब स्वप्न में है और सृष्टि में जो नहीं है, वह भी स्वप्न में है। स्वप्न के पेट में जाग्रति होती है। कवि की सारी सृष्टि स्वप्न-मय होती है। उसका चिंतन सूक्ष्म, अव्यक्त और अस्पष्ट होता है।

व्यावहारिक भाषा में कवि याने मूर्ख। कुरान में भी

मुहम्मद पैगंबर कई दफा बोले हैं, 'मैं कवि थोड़ा ही हूँ !' मेरी समझ में नहीं आता था कि उन्होंने ऐसा क्यों कहा होगा। फिर एक जगह उनका एक वचन मिला कि 'मैं कवि थोड़ा ही हूँ, जो बोले एक और करे एक !' कहा जाता है कि कुरान में बहुत काव्य है। अरबी साहित्य में उसे साहित्य की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक माना जाता है। यह कोई केवल काल्पनिक गौरव की बात नहीं है। कुरान धार्मिक पुस्तक है, इसलिए ऐसा कहा होगा, सो बात नहीं। आधुनिक अरबी साहित्य को कुरान से सारी स्फूर्ति मिलती है। इतना होने पर भी उन्होंने कहा कि 'मैं कवि थोड़ा ही हूँ, जो बोले एक और करे एक !' इसका एक मतलब यह कि मैं जो बोलूँगा, वह करूँगा; इसलिए मैं कवि नहीं हूँ। इसे उपालंभ मानने के बजाय हमने अधिक सुन्दर अर्थ निकाला है। उसका अर्थ यह कि 'आप लोगों के सामने मैं एक स्पष्ट चिंतन रखने-वाला हूँ, जिससे कि आपको हिदायत मिले।'

कवि का चिंतन तो हमेशा अस्पष्ट होता है। उसके काव्य की गहराई को वह खुद नहीं जानता। उस पर परस्पर-विरोधी भाष्य किया जा सकता है। अगर किसी कवि ने अपनी कविता पर कोई भाष्य लिखा, तो मैं उससे बिल्कुल विरुद्ध भाष्य लिख सकता हूँ और संभव है कि लोग मेरा भाष्य कबूल करें और शायद वह खुद भी कबूल करे ! कवि को जो सूझता है, वह उसके स्पष्ट चिंतन के बाहर की चीज है। कोई चीज उसे प्राप्त होती है। वह कुछ बनाता नहीं, कुछ रचना नहीं करता। सहज ही उसको चीज मिल जाती है, उसकी झाँकी मिल जाती है। कवि को क्रांतदर्शी कहा है : **"कविः क्रांतदर्शी"** कवि दूर की देखता है, ऐसा कुछ लोग उसका अर्थ लगाते हैं। हाँ,

वह भी हो सकता है। परंतु उसका एक अर्थ यह भी है कि कवि बहुत ही अस्पष्ट देखता है। जो स्पष्ट वस्तु है, उसे तो हर कोई देखता है, पशु भी देखता है। पशु का मतलब यही है कि जो देखता है, वह पशु है। **'पश्यति इति पशुः'**, जो देखता है, बिना देखे जिसे भरोसा नहीं होता है, चिंतन से कोई बात नहीं मानता है, कहता है, सबूत दिखाओ। ऐसे सबूत से ही माननेवाले पशु होते हैं। वह पशुत्व है। कवि में पशुत्व नहीं होता। इसलिए उसकी वाणी में विविध दर्शन होता है।

अभी बेनीपुरीजी ने बताया कि हम भूदान-यज्ञ में मदद करना चाहते हैं। कोई साहित्यिक वास्तव में मदद करेगा, तो मालूम ही नहीं होगा। अगर फलाने उपन्यास में विनोबा को मदद की गयी है, ऐसा मालूम हो गया, तो वह फेल्युअर है, असफल है। जिसमें पता ही न लगे, वही उत्तम मदद है। जैसे ईश्वर की स्थिति है। वह मदद देता है, तो उसका भान ही नहीं होता। वह बिना हाथ के देगा, बिना आँख के देखेगा, बिना कान के सुनेगा, बिना लेखनी के लिखेगा। सर्वोत्तम कवि वह हो सकता है, जिसने कुछ भी न लिखा हो! जिसने कुछ रद्दी लिखा हो, वह कवि ही नहीं है। महाकवि वह हो सकता है, जिसके हृदय में इतना काव्य भर गया है कि वह प्रकट ही नहीं कर सकता।

'साहित्य' प्रकाशित नहीं होता है

इसका अर्थ यह नहीं कि जिसने कुछ भी नहीं लिखा, वह कवि होता है। एक महाकवि ऐसा हो सकता है, जिसकी काव्यशक्ति बहुत गहरी होने के कारण प्रकाश में नहीं आ सकती, वाणी में और

प्रकाशन में नहीं आ सकती । जब हम इस दृष्टि से देखते हैं, तो लगता है कि साहित्य का एक लक्षण यह है कि साहित्य प्रकाशितनहीं हो सकता। आजकल तो हर कोई साहित्य को प्रकाशित करने की बात सोचता है, परंतु यह प्रकाशन की बात नहीं है। साहित्य हमेशा अप्रकाशित होता है ।

सहचिंतन कीजिये

इन दिनों तो साहित्यिकों को इनाम भी दिया जाता है। हमको भी इनाम मिला है। हमको याने हमारे प्रकाशक को ! इन दिनों किसके सिर पर इनाम आकर गिरेगा, कुछ भरोसा नहीं । इसलिए जब कभी हम साहित्यिकोंकी मदद के लिए अपील करते हैं, उनके पास पहुँचते हैं, तो हम इतना ही चाहते हैं कि आप हमारे साथ सहचिंतन कीजिये। हम जैसा चिंतन करते हैं, उसमें आप शरीक हो जाइये, यही हमारी माँग है । मानव के लिए यह बात सहज है, उसका यह स्वभाव है।

हम आम खाते हैं, तो पास बैठे हुए मनुष्य को दिये बगैर नहीं खा सकते। इतना ही नहीं, पड़ोसी को बुलाकर खिलाते हैं। जो दूसरे को बिना बुलाये खायेगा, वह रसिक नहीं है । जो अपने रस में दूसरे को शरीक करता है, वही 'रसिक' है । इसलिए जब हम साहित्यिकों को बुलाते हैं, तो हम कहते हैं कि हम जो रस लेते हैं, वह हम अकेले ही लेते जायँ, यह अच्छा नहीं। आप रसिक हैं, इसलिए आप भी शरीक हो जाइये । शरीक होने पर आप चाहे काव्य लिखिये या न लिखिये, हमें बहुत मदद होगी ।

मेरी तो मान्यता है कि जिन्होंने उत्तम काव्य लिखे, वे उतने उत्तम कवि नहीं थे, जितने कि वे हैं, जिन्होंने कुछ नहीं लिखा । जो महापुरुष दुनिया को मालूम हैं, वे उतने बड़े नहीं हैं। उनसे भी बड़े

वे महापुरुष हैं, जो दुनिया को मालूम नहीं है। "**अव्यक्तलिंगाः अव्यक्ताचाराः ।**" ज्ञानी का आचार अव्यक्त होता है, वह प्रकट नहीं होता। मालूम ही नहीं होता कि वह ज्ञानी है । आप हमारे अनुभव में शरीक हो जाइये, इतनी ही हमारी माँग है । शरीक हो जाने पर उसका प्रकाशन हो या न हो, शब्दों में हो या कृति में हो, एक प्रकार के शब्द में हो या दूसरे प्रकार के शब्द में हो, एक प्रकार की कृति में हो या दूसरे प्रकार की कृति में हो, इतने सारे प्रकार के प्रकाशन हों या अप्रकाशन भी हों तो उन सबसे हमें मदद मिलेगी, अप्रकाशन से ज्यादा मदद मिलेगी । हम इतना ही चाहते हैं कि आप हमारे साथ, हमारे अनुभव में समभोगी, रसभोगी हो जाइये । फिर वह शब्द में या कृति में प्रकट न हो सका, तो हमें सबसे ज्यादा मदद मिलेगी । वह चीज आपके संकल्प में रहेगी और आप हमारे अत्यंत निकट रहेंगे ।

आवाहन का भार नहीं

इसलिए जब हम साहित्यिकों से आवाहन करते हैं, तो साहित्यिकों पर हमारे आवाहन का कोई भार नहीं है । अगर किसीको महसूस हुआ कि विनोबा ने हम पर बड़ी भारी जिम्मेवारी डाली है, तो वह क्या साहित्य लिखेगा ? साहित्यिक बोझ नहीं उठा सकता और हम किसी पर बोझ नहीं डालेंगे । हम इतना ही कह रहे हैं कि हमारे साथ शरीक होने में, उस रस की अनुभूति में आनंद है । हम चाहते हैं कि आपको भी यह आनन्द प्राप्त हो ! इसीका नाम है, साहित्यिकों का आवाहन और साहित्यिकों की मदद ।

बलरामपुर में बंगाल के साहित्यिक इकट्ठे हुए थे । कभी-कभी मेरी समाधि लग जाती है । उस समय ऐसी योजना की गयी थी कि—

हमारे सामने दीपक रखे गये थे—पाँच, सात, नौ, इस तरह से। मैं उनकी ओर देख रहा था। मैं मन में सोच रहा था कि पाँच दीपक हैं, तो पंचप्राण हो गये। सात हैं, तो सप्तछिद्र। नौ हैं, तो नवद्वार। ग्यारह हैं, तो एकादश इन्द्रियाँ। इस तरह मैं कल्पना कर रहा था, तो कल्पना-तरंग में मेरी समाधि लग गयी। उस दिन के हमारे भाषण का साहित्यिकों पर बहुत असर पड़ा, वे तन्मय हो गये, ऐसा हमने सुना। उन्होंने कहा कि आपके इस आन्दोलन से हमें नवजीवन मिला है। बंगाल के साहित्य की देश भर में प्रतिष्ठा है, परंतु बीच में कुछ मंदता आ गयी थी। अब फिर से जोर आयेगा। हमने सुना कि ताराशंकर बंद्योपाध्याय इस विषय पर एक उपन्यास भी लिख रहे हैं। लेकिन हम उसकी ताक में नहीं हैं। हम किसीसे कुछ आशा नहीं रखते। एक अव्यक्त असर हो जाता है।

साहित्य वीणा की तरह है

साहित्य के लिए हमारी इतनी सूक्ष्म भावना है। साहित्य एक वीणा की तरह है। कुछ लोग समझते हैं कि वीणा बजानेवाला जोर से बजाये, तभी श्रोताओं पर असर होता है। परंतु जो उत्तम कलाविद् होते हैं, वे बिल्कुल बारीक आवाज से बजाते हैं, जैसे हृदय-वीणा पर बजा रहे हों। एक दफा मैं ऐसा ही वीणा-वादन सुन रहा था। धीमी-शान्त आवाज, जैसे ओंकार की ध्वनि सुनाई दे रही थी। जिनमें रस-ग्रहण नहीं था, वे कहते थे कि यह कुछ बजा भी रहा है या नहीं! हमें तो कुछ सुनाई नहीं दे रहा है। परंतु मुझे जरा संगीत का कान है, इसलिए मुझे आनंद आ रहा था। कुछ लोग तो समझते हैं कि बजानेवाला पसीना-पसीना हो जाय, तभी उसने अच्छा बजाया!

लेकिन वह तो इस तरह बजा रहा था कि जरा थोड़ी-सी तार छेड़ी, फिर शांत रहा । फिर एक तार छेड़ी ।

हृदय-सम्मिलन की माँग

एक दफा एक गुरु के पास एक शिष्य पहुँचा । शिष्य ने कहा, "आत्मा क्या है, हम जानना चाहते हैं", तो गुरु शांत रहे । शिष्य ने दुबारा पूछा, फिर भी गुरु शान्त ही रहे । इस तरह तीन बार पूछा गया और तीनों बार गुरु शान्त ही रहे, तो चौथी बार शिष्य ने कहा, "हमने तीन-तीन बार पूछा और आप उत्तर नहीं देते हैं !" तो गुरु ने कहा, "हमने तीन-तीन दफा उत्तर दिया और ऐसे उत्तम तरीके से दिया कि इससे बेहतर तरीका हो नहीं सकता, तो भी तू नहीं समझा । जो न बोलने से भी नहीं समझता, वह बोलने से कैसे समझेगा ?" उसी तरह साहित्यिक से भी हम कहेंगे कि "अरे कम्बख्त ! न लिखने पर भी तू नहीं समझ सकता है, तो लिखने पर कैसे समझेगा ?" इसलिए हमने जो साहित्यिकों से मदद माँगी है, वह केवल सहानुभूति माँगी है, हृदय की सहानुभूति माँगी है । इसलिए उसका बोझ या भार नहीं महसूस होना चाहिए । फिर इनाम-विनाम देने की जिम्मेवारी हम पर मत डालना । हम यही चाहते हैं कि सहज भाव से हृदय के साथ हृदय जोड़ दिया जाय । .. ...

पुरी
२६-३-'५५

साहित्यिकों के पोषण का प्रश्न : ८ :

साहित्य कुछ विचित्र स्वभाववाली वस्तु है। उसको पोषण देते हैं, तो सूख जाता है, और पोषण नहीं देते हैं, तो भी सूख जाता है। बीच की जो हालत है, जिसमें पोषण दिया भी जाता है और नहीं भी दिया जाता है, ऐसी हालत में ही वे जिंदा रहेंगे।

साहित्यिकों की दरिद्रता

कुछ बड़े साहित्यिक गरीब थे। तमिलनाडु के भारती बहुत गरीब थे। पर वे दीन नहीं थे। परमेश्वर दरिद्रता देता है तो हमारी कसौटी के लिए ही। अगर हम दीन नहीं बनते हैं, तो उसकी परीक्षा में पास होते हैं। वैसे ही किसीको परमेश्वर श्रीमान् बनाता है, तो भी परीक्षा लेने के लिए। गरीबी और वैभव, दोनों ईश्वर की देनें हैं और ईश्वर हमें दारिद्र्य या वैभव देता है तो हमारी आजमाइश के लिए ही।

दरबारी कवियों का साहित्य

हम मानते हैं कि जिसे हम सरकार या राजदरबार कहते हैं, उसने जिनको पोषण दिया, उनसे जो भी उत्तम-से-उत्तम साहित्य मिला है, वह भी दूसरे दर्जे का है। वाल्मीकि या तुलसीदास दरबारी कवि नहीं हो सकते थे। दरबारी कवियों का उत्तम नमूना है, कालिदास। लेकिन कालिदास एक छोटा-सा उद्यान है। अच्छा बनाया हुआ, सुन्दर,

परन्तु उद्यान है। और वाल्मीकि तो जंगल है। वन और उपवन में जो फरक होता है, वह उन दोनों में था। फिर भी कालिदास स्वतन्त्र वृत्ति का कवि था।

कवि आश्रित नहीं रहता

उन दिनों कवियों को राजाश्रय दिया जाता था और कवियों का काफी आदर होता था। पर कवि आश्रित नहीं माना जाता था, बल्कि आश्रय देनेवाला ही मानता था कि कवि ने हमको आश्रय दिया है। कवि हमारे पास रहता है, इसीका वे लोग उपकार मानते थे।

कुछ लोगों का तो कहना है कि राम का यश इतना जो फैला, उसका कारण है, उनके पास एक कवि था। वाल्मीकि ने उनका यश फैलाया। वैसे रावण भी तो बड़ा था; लेकिन उसका यश फैलानेवाला कोई कवि उसे नहीं मिला। इसलिए कवि राजाओं के पास आश्रय के लिए नहीं जा सकते हैं।

जनता के साथ एकरूपता

मैं मानता हूँ कि कवि को क्लर्की जैसी नौकरी का आधार मिले तो वह आधार उसे तोड़नेवाला ही होगा। कवि के लिए क्लर्क बनना तकलीफदेह है। परन्तु उसके लिए किसान बनना तकलीफदेह नहीं है। कुदरत के साथ एक-रूप होनेवाला धंधा कवि को चाहिए। बड़े-बड़े जो कवि हुए, वे किसान थे, बढ़ई थे। वे छोटे-छोटे उद्योग करते थे, जिनमें थोड़ी आमदनी तो हो जाती थी, लेकिन नाहक दिमाग को तकलीफ नहीं होती थी। ऐसे कवियों का ही साहित्य फलता है, फूलता है। मैं मानता हूँ कि कवि को दस घंटे श्रम करना पड़े तो वह अन्य काम

नहीं कर सकता है लेकिन दस घंटे तो वह व्यक्ति श्रम करेगा, जो पैसा चाहता है। कवि लोग चार घंटे खेती में काम करें तो उनके लिए वह पर्याप्त है। समाज जितना खेती के साथ एकरूप होगा, उतना काव्य बढ़ेगा। कवि की संख्या चाहे बढ़े या न बढ़े, परन्तु काव्य बढ़ेगा।

कबीर कबीर कैसे बना ?

कबीर बुनकर न होता तो कबीर नहीं बनता। उस जमाने में प्रिंटिंग प्रेस नहीं था। लेकिन उसके बिना ही उसके काव्य का प्रचार हुआ। क्योंकि वह जनता के उद्योग के साथ एकरूप था, इसलिए जनता के सुख-दुःख वह समझता था। जनता के हृदय के साथ भी वह एकरूप था। इसलिए मैं मानता हूँ कि साहित्यिक या तो किसान हो सकता है या कोई उद्योग कर सकता है। या फकीर भी हो सकता है, जो कि केवल जनता पर निर्भर रहे। ऐसे फकीरों को तो खाना मिले, तो भी स्फूर्ति होती है और खाना न मिले तो भी स्फूर्ति होती है। खाना न मिलने पर जो दुःख या करुणा हृदय में पैदा होती है, वह भी काव्य की प्रेरक बनती है।

कवि का आदर्श

इस तरह साहित्यिक को पूर्ण विरक्त या सृष्टि का उपासक भक्त, इन दोनों में से एक बनना चाहिए। जो बीच के लोग हैं, याने जो पूर्ण विरक्त भी नहीं हैं और सृष्टि के उपासक भी नहीं हैं, उनको कुछ आश्रय चाहिए। लेकिन ऐसा आश्रय चाहिए, जिससे कि उन्हें स्फूर्ति के लिए अवकाश मिले।

केवल सहानुभूति ही नहीं, करुणा भी

अब पुराने राजाओं के दिन लद गये। अब दिन आये हैं जन-

समाज की सेवा के । इसलिए सेवा करनेवालों को कुछ मदद मिलेगी । मुख्य मदद तो जनता से ही मिलनी चाहिए । जिनके पास वाणी, विचार और वर्तन तीनों हैं, ऐसे प्रतिभावान् पुरुषों को जीवन के लिए कुछ दिया जाय तो हम उन पर उपकार नहीं करते हैं, बल्कि हमीं पर वे उपकार करते हैं । इस भावना से समाज के दस-पाँच लोग ऐसे एक-एक कवि का भार उठा लें । क्या ऐसे कवियों को दस-पाँच भक्त भी नहीं मिल सकते हैं ? परन्तु आजकल तो सिर्फ हमदर्दी दिखाते हैं । ट्रेन में अगर किसीको कोई पीड़ा दे रहा हो, तो हम सिर्फ तमाशा देखते रहते हैं । सारे यात्री सिर्फ सहानुभूति दिखाते हैं । सहानुभूति है, पर करुणा नहीं । करुणा में करने की बात है, क्योंकि 'कृ' धातु से वह शब्द बना है । तो, आज करुणा कहीं नहीं दीख रही है ।

संपत्ति-दान-यज्ञ द्वारा एक हल

इसलिए हमारा जो संपत्ति-दान-यज्ञ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । कम्युनिस्ट लोग टीका करते हैं कि "विनोबाजी को न जमीन चाहिए, न संपत्ति । उन्हें तो सिर्फ कागज चाहिए ।" हम संपत्ति की उतनी कीमत नहीं करते हैं, जितनी इस कागज की करते हैं । इस कागज में हम उस दान देनेवाले से लिखा लेंगे कि जब तक हम जीवित रहते हैं, तब तक हम अपने कुटुम्ब पर जितना खर्च करते हैं, उसका एक हिस्सा दान देंगे । हमें आधा ही खाना मिला, तो उसका भी एक हिस्सा देंगे । आधे पेट में भी लोग हिस्सा दें, यह हम चाहते हैं । उस आदमी को हम सिर्फ निर्देश देंगे कि पैसा कैसे खर्च हो । पैसा उसीके पास रहेगा ।

'आनरेरियम' दिया जाय

हम मानते हैं कि सारा पैसा हमारा है और वह हर घर में बँटा हुआ है। कोई छठा नहीं, आठवाँ या दसवाँ हिस्सा दे तो भी हर्ज नहीं। हम चाहते यह हैं कि घर में एक मनुष्य और है, ऐसा समझकर उसके वास्ते उतना खर्च करने का कर्तव्य माने जाने की बात चलनी चाहिए। अगर यह बात चली तो जहाँ भी ऐसा कोई अच्छा मनुष्य हो, उसके लिए दस-पाँच व्यक्ति एक-एक हिस्सा देंगे। उसका रूप 'आनरेरियम' का होगा। याने जिसे दिया जायगा, सम्मानपूर्वक दिया जायगा। और ऐसी हालत में वह लेनेवाला भी गलत खर्च नहीं करेगा, न ही ज्यादा लेगा। इससे उसका भी जीवन पवित्र बनेगा और देनेवाले का भी। आदर, कर्तव्य इत्यादि पवित्र भावनाओं के साथ ही वे दान देंगे।

चार आवश्यक बातें

इसलिए साहित्यिकों को एक तो तुलसीदास, वाल्मीकि आदि की कोटि का विरक्त पुरुष बनना चाहिए, तो साहित्य फैलेगा। दूसरी बात यह है कि आपको किसान बनना चाहिए या वैसे ही छोटे-छोटे उद्योग करने चाहिएँ। तीसरी बात यह है कि सरकार की तरफ से साहित्यिकों को कुछ मिलना चाहिए। लेकिन इसमें अभी देर है। और चौथी बात है संपत्ति-दान। जहाँ पंद्रह हजार कुटुम्ब हों, वहाँ सब अपना पंद्रहवाँ हिस्सा दें, तो एक हजार कुटुम्बों का पोषण होगा। समाज की सेवा करनेवाले एक हजार कवियों और वैज्ञानिकों के कुटुम्बों को अकेला गया जैसा शहर भी पोषण दे सकता है। हमें इसी प्रवृत्ति को बढ़ाना है।

स्वाभाविक पोषण आवश्यक

कवि को ज्यादा पोषण न हो और कम भी न हो। उसे कृत्रिम पोषण नहीं मिलना चाहिए। जैसे माँ का दूध बच्चे को सहज ही मिल जाता है, वैसा पोषण कवि को मिले। लेकिन अगर माँ बच्चे को अपना गोश्त खिलायेगी तो बच्चा वह नहीं खा सकेगा। इसलिए कवि को पराश्रित नहीं होना चाहिए। इससे वह सूखेगा। उसको उतना ही मिलना चाहिए, जिससे उसका शरीर, मन और प्राण कायम रहें। पुराने जमाने में भिक्षा चलती थी। लेकिन मुझे वह पसंद नहीं है, क्योंकि उसमें देनेवाला श्रद्धा से नहीं देता। और इस जमाने में तो भिक्षा देनेवाला टालने की वृत्ति से ही देता है, और गालियाँ देकर मुट्ठी भर अनाज मात्र दे देता है। इसलिए भिक्षा नहीं चाहिए। इसलिए संपत्ति-दान चलाइये। इसमें बड़े-छोटे सब हाथ बँटायें। जो कोई खाता है, उसे उसका एक हिस्सा देना चाहिए। उस हिस्से में से फिर ऐसे समाज-सेवकों का पोषण सुविधापूर्वक हो सकता है।...

दग्ध वाङ्मय और विदग्ध वाङ्मय : ६ :

ईश्वर और उसकी प्रकृति, दोनों ही अनादि हैं। जब से ईश्वर है तभी से प्रकृति भी है। प्रकृति का होना ही ईश्वर का ईश्वरत्व है। प्रकृति में से अनेकविध सृष्टि उत्पन्न होती है और उसीमें वह विलीन हो जाती है। ऐसी अनेक सृष्टियाँ आती हैं और जाती हैं; प्रकृति कायम रहती है। सृष्टि के बाद मनुष्य आता है। वह सृष्टि का ही एक भाग होता है, और स्रष्टा का एक अंश। सृष्टि से उसकी देह का धारण होता है और सृष्टि से उसके हृदय का पोषण। मनुष्य के लिए अन्न का कोठार और बोध का खजाना ऐसे दुहरे रूप में सृष्टि सजी है।

अमूल्य निधि

सृष्टि और मानव के बीच पर्दा नहीं है। मानव सृष्टि में से सीधे बोध ग्रहण कर सकता है और वह आज तक उस तरह करता आया है। यही बोध वाणी में उतरकर वाङ्मय, और सरस्वती की कृपा पाकर सारस्वत बनता है। सरस्वती के विशेष कृपापात्र महापुरुष औरों के लाभ के लिए ग्रंथ-रूप में ऐसा सारस्वत संचित कर रखते हैं। यह संचय मानव की अमूल्य निधि है।

हितैषी धर्मशास्त्र

मानव अपने अनुभव का लाभ अपने बान्धवों को दे, यह दया का

ही कार्य है। लेकिन उसकी भी मर्यादाएँ हैं। तू अमुक कर, और अमुक मत कर, इस तरह सीधा-संगीन उपदेश एक तरह का आक्रमण हो जाता है। ऐसा आक्रमण सहन हो सकता है, मीठा भी लग सकता है, अगर वह माता-पिता या गुरु की तरफ से हो। तीनों नातें से बोध कर सकनेवाले हितैषी-धर्मशास्त्र इस तरह के प्रत्यक्ष और निश्चित, विध्यर्थ और आज्ञार्थ, उपदेश देते रहते हैं।

मध्यस्थ लेखन-शैली

लेकिन औरों को वैसा अधिकार नहीं होता। और इसलिए वाङ्मय की मीमांसा करनेवाले साहित्यकार, बोध की मार करनेवाले साहित्य को, यद्यपि वह बोध समुचित होता है, गौण समझते हैं और सूचक साहित्य को प्रथम स्थान देते हैं। साहित्यकारों की यह दृष्टि एक अहिंसक सूक्ष्म-दृष्टि है, ऐसा मैं समझता हूँ। जैसे प्रत्यक्ष रेखाबद्ध और लीक-लीक बोध से दूसरे पर आक्रमण होता है और इसलिए इसमें एक प्रकार की हिंसा हुआ चाहती है, वैसे ही सूचक बोध भी अगर अति गूढ़ में हो गया तो मनुष्य की बुद्धि को सतायेगा और उसमें एक दूसरे प्रकार की हिंसा की संभावना होगी। इसलिए अहिंसा में रमे हुए सरस्वती-पुत्रों की लेखन-शैली, सुझाने किन्तु न चुभानेवाली, मध्यस्थ होती है। इस तरह उभय मर्यादाओं को सँभालकर जो वाङ्मय अवतरित होता है वह है विदग्ध वाङ्मय। ज्ञानदेव के कथनानुसार जैसे पानी आँख की पुतली को भी कष्ट नहीं देता और चट्टान को भी चीर डालता है, वैसा ही यथार्थ और मृदु मित और रसाल है विदग्ध वाङ्मय का विशुद्ध स्वरूप!

जमाना कसौटी करता ही है

आज काव्य, नाटक, उपन्यास, लघुकथा इत्यादि प्रकारों का समावेश विदग्ध-वाङ्मय में किया जाता है। लेकिन आकार-विशेष में आ जाने मात्र से वाङ्मय विदग्ध नहीं हो जाता। लेखन-शैली के ये प्रकार अहिंसक-सूचन-पद्धति के लिए अनुकूल हो सकते हैं, इसलिए यह सही है कि विदग्ध-वाङ्मय में इनका समावेश हो सकता है। परन्तु काव्य, नाटक आदि साहित्य, स्वरूपमात्र के कारण विदग्ध होगा ही, ऐसा नहीं है। काव्य, नाटक, कथा आदि का कितना ही साहित्य आज ऐसा बताया जा सकता है कि अगर करना ही पड़े तो उसका शुमार दग्ध-वाङ्मय में ही करना होगा। दग्ध कौन और विदग्ध कौन इसकी कसौटी और कोई न करे, तो भी जमाना तो करता ही रहता है। मिसाल के तौर पर रामायण और महाभारत दोनों उत्तम उदाहरण हैं विदग्ध वाङ्मय के—जमाने की कसौटी पर कसे हुए। इसके खिलाफ बहुत सारे पुराण यद्यपि कथा-शैली से भरे हुए हैं, आज दग्ध हो चुके हैं। इस बात से लाभ उठाकर कि काव्य, कथा आदि साहित्य लोगों को रोचक हो सकता है, जो ढेर-सा साहित्य अनेक भाषाओं में लिखा जा रहा है, सारा दग्ध वाङ्मय है; आज नहीं तो कल जल जानेवाला है। जल जाने के पहले अनेक लोगों के हृदय भी वह जलाये डाल रहा है, यह दुख की बात है।

सत्यं प्रियहितं च यत्

कहानियाँ छोटे बच्चों को भी अच्छी लगती हैं, इसकी वजह क्या है ? माँ की वाणी छोटे बच्चों को अच्छी लगती है, इसकी भी

वजह क्या है ? जो वजह इसकी है वही उसकी है । प्रेम से सुझाना, यही दोनों की वजह है—जैसे गीता ने कहा है :

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।" लेकिन माँ तो प्रत्यक्ष बोध भी कर सकती है और वह भी बच्चे को रुचता है। औरों का प्रत्यक्ष बोध नहीं रुचता, बल्कि सूचन भी हमेशा रुचता ही है, ऐसा नहीं है । व्याजोक्ति, व्यंग्योक्ति, वक्रोक्ति आदि सूचन सीधे आक्रमण से भी अधिक अप्रिय होते हैं । सारांश, सूचन विदग्ध ही होगा ऐसा नहीं, और प्रत्यक्ष-बोध भी अगर प्रेमाधिकार-सम्पन्न हो तो विदग्ध हो सकता है । इसलिए गीता के समान प्रत्यक्ष उपदेश भी विदग्ध वाङ्मय है । इतना ही नहीं, विदग्ध-वाङ्मय के आदर्श साबित हो सकते हैं । प्रेम से रिझाकर हितोपदेश करने के जितने प्रकार हैं, फिर वे प्रत्यक्ष उपदेश के हों, चाहे परोक्ष सूचन के हों, विवेचनरूप हों अथवा कथा-रूप हों, विदग्ध-वाङ्मय हैं ।

तीन उत्तम उदाहरण

आदर्श विदग्ध-वाङमय का एक बाह्य लक्षण ज्ञानदेव ने **'आंगें साने परिणामें थोर'** बताया है । "रूप में छोटा, फल में महान् ।" ऊपर उद्धृत किये वचन में 'मित' शब्द आया है । हमारी माँ ने बचपन में हमें एक सूत्र बता रखा था, "मित में मिठास" । मुझसे एक भाई ने पूछा, "तुम्हारी रुचि की तीन सर्वोत्तम पुस्तकें कौन सी हैं ?" मैंने कहा, भगवद्गीता, ईसप की कहानियाँ और यूक्लिड की भूमिति । सुननेवाले के लिए यह उत्तर बिल्कुल अनपेक्षित था । लेकिन मैं इन तीनों को विदग्ध-वाङ्मय के उत्तम उदाहरण समझता हूँ । गीता का बचाव मैंने ऊपर किया ही है । ईसप की कहानियों

के बचाव की जरूरत नहीं है। यूक्लिड का रेखागणित विदग्ध-वाङ्मय कैसे है, यह बताने की जरूरत है। यूक्लिड साक्षात् उपदेश नहीं क़रता। थोड़े में प्रमेय समझाकर अलग हो जाता है। यह सब विदग्ध लक्षण है।❁...

कामा (भरतपुर)
जून, ४६

सत्य ही सच्चा साहित्य-रस

: १० :

वास्तव में किसी भी मानव के लिए, सिवा ईश्वर के लिए बेचैनी के, और कोई बेचैनी किसी भी समय रही ही नहीं है। सब जीवों की एक ही उत्कटता है, एक ही दौड़-धूप है और एक ही अंतिम गति है। बस इतना ही है कि ईश्वर के नाम से सब लोग ईश्वर को नहीं चीह्लते। कोई उसे संतति नाम देते हैं, कोई संपत्ति नाम देते हैं, कोई सत्कीर्ति कहते हैं, कोई सत्ता कहते हैं, कोई ईश्वर भी कहते हैं। नाम चाहे जो हों, उत्कटता के स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन, तृप्ति में अपार फर्क पड़ जाता है।

मेवे के हकदार

जाने-अनजाने सभी ईश्वर की ओर जा रहे हैं। समझ-बूझकर उस दिशा की ओर जानेवाले ज्ञानी माने गये; बिना समझे जानेवाले अज्ञानी समझे गये। जिन्होंने सीधी राह ली, वे साधु माने गये, जिन्होंने टेढ़ी राह ली, वे दुर्जन माने गये। उनकी उत्कटता में तृप्ति के फल लगते हैं, इनकी पिपासा में वेदनाओं के काँटे लगते हैं। और मुझे लगता है, अधिक तपस्वी ये ही हैं, जो पहले भी ताप सहें और अंत में भी। इनकी तपस्या की बराबरी वे कैसे कर सकते हैं, जिन्होंने प्रारंभ में भले ही अगणित यातनाएँ सहीं, किन्तु अंत में तो मेवा ही चखा!

काव्य की शक्ति—उत्कटता

उत्कटता काव्य की शक्ति है। उत्कटता के अनेक प्रकार होते हैं, इसलिए काव्य के भी अनेक प्रकार हुए। परंतु उत्कटता का स्वरूप सर्वत्र एक ही होता है। इसलिए, उत्कटता-पूर्ण काव्य का रसास्वादन, चाहे वह काव्य किसी प्रकार का क्यों न हो, रसिक अवश्य कर सकता है, फिर उसकी काव्य-रुचि किसी भी प्रकार की क्यों न हो। कवि की इच्छा जो रहे, रसिक अपनी रुचि का अर्थ उस काव्य में से निकाल लेता है। भक्ति-रस के काव्य में से श्रृंगारिक को श्रृंगार मिल सकता है और श्रृंगार-रस के काव्य में से भक्त भगवान् की भक्ति पा सकता है। वीर-काव्य में विरक्त को वैराग्य मिल जाता है और वैराग्य-परक काव्य में क्षात्र-वृत्ति वीर रस खोज लेती है। इसलिए मैंने मान लिया है कि काव्य का स्वरूप लेखक की मर्जी पर नहीं, रसिक की मर्जी पर ही निर्भर रहता है।

अभाव में से भाव कैसे ?

परंतु लिखनेवाले के हाथ में एक बात रहती है। नीरस कविताएँ लिखकर वह पाठकों को 'वि-रस' जरूर कर सकता है। यह नहीं सध सकता कि कवि तो नीरस लिखता रहे और पाठक उसे सरस माने। उसके श्रृंगारिक वर्णन को वह भक्तिमय समझ सकता है, लेकिन उसके नीरस वर्णन को वह सरस नहीं मान सकता। इसलिए काव्य का मर्म जाननेवालों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। और मुझे लगता है, उनका वह कथन सही है।

हमारी एक पुरानी मान्यता है कि कविता यदि ईश्वर के बारे में लिखी गयी हो, तो वह अच्छी ही होगी। परंतु हर किसीको अनुभव

हो सकता है कि यह मान्यता सही नहीं है। 'सन्त-युग' माने गये मध्य-युग में ईश्वर पर अनेक लोगों ने कविताएँ लिखी हैं, परंतु हम देखते हैं कि तुकाराम या तुलसीदास जैसों की कविता जिस तरह हृदय को छूती है, दूसरे बहुतों की नहीं छती। इसका कारण, सिवा इसके कि एक में वह रस है और दूसरी में नहीं है, और क्या कहा जा सकता है?

जीवन-सार

लेकिन आखिर रस किसे कहते हैं? शब्दों की और अर्थ की ठीक-ठीक रचना या सजावट को तो रस कह ही नहीं सकते। वह चीज तो बनावटी रंगीन-केले के समान होगी। सोन-केले का स्वाद उसमें नहीं आवेगा। रस याने लगन की सचाई। इसलिए मैं कहा करता हूँ कि सच्ची लगन चाहिए, फिर वह बाह्य-विषय-वासना की ही क्यों न हो, मुझे मान्य होगी। लेकिन ईश्वर के नाम की भी खोटी लगन नहीं चलेगी। पारस लोहे का सोना कर सकता है, पीतल का नहीं कर सकता। तुम्हारी हीन लगन का रूपान्तर मैं उच्च लगन में कर सकता हूँ, लेकिन तुम्हारे खोटे का खरा करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। तुकाराम जब कहता है कि, "**न ये नेत्रीं जळ। नाहीं अंतरी तळमळ। तो हे चावटी चे बोल**" अर्थात् अगर "नैनन में नीर नहीं, अंतर में लगन नहीं, तो ये सारे बोल व्यर्थ हैं।" तब वह भी यही कहना चाहता है। सत्य ही जीवन-सार है और वही साहित्य-रस है।

पापी भी निष्ठावान् चाहिए

लोग पूछते हैं, "क्या यह जरूरी है कि कवि का जीवन पुण्यमय

ही हो ?" कोई आग्रहपूर्वक जवाब देते हैं—"अवश्य ।" दूसरे कहते हैं—"वैसी खास जरूरत नहीं है ।" मेरी निगाह में कवि का जीवन पुण्यमय जरूर होना चाहिए, लेकिन मैं दूसरे पक्ष का भी समर्थन करने के लिए तैयार हूँ । मेरा कहना है, कवि पापी ही क्यों न हो, पर वह सच्चा पापी होना चाहिए । अच्छा मनःपूर्वक पाप करनेवाला चाहिए । बीच-बीच में पुण्य का आवरण लेनेवाला, पाप का स्वांग करनेवाला नहीं चलेगा । निष्ठावान् पापी चाहिए । उस हालत में वह चाहे नरक में जाय, लेकिन उसके काव्य से मैं मोक्ष पा सकता हूँ ।

सत्य का प्रयोग

काव्य सत्य का प्रयोग है । जिसके जीवन में जितना सत्य उतरा होगा, उतना ही काव्य उसमें प्रकट होगा । फिर वह उस काव्य को शब्दों में प्रकट करे या न करे ।*

परंधाम, पवनार

१७-८-'४९

---

*'जीवन-गंगा' नामक श्री कोलते के मराठी काव्य-संग्रह की प्रस्तावना से ।

प्रश्नोत्तर

साहित्य में श्रृंगार की मर्यादा

प्रश्न––साहित्य में श्रृंगार-वर्णन की मर्यादा क्या हो ? वाल्मीकि जैसे महाकवि को उर्मिला का इतना विस्मरण क्यों हुआ ?

उत्तर––इस प्रश्न की चर्चा शायद बंगाल से शुरू हुई है। "विस्मृता-उर्मिला" नाम का एक लेख गुरुदेव ने लिखा था। लक्ष्मण माँ के पास गये,तो परन्तु उर्मिला से नहीं मिले। यह ठीक है कि वे संयमी थे, लेकिन उर्मिला का विस्मरण नहीं होना चाहिए था। उस लेख के शायद ऐसे भाव थे। इसके बाद कुछ कवियों ने उस प्रसंग का वर्णन भी किया है। अगर उस वर्णन में अश्लीलता नहीं है, तो मैं उसमें दोष नहीं देखता।

लेकिन वाल्मीकि जैसे कवि, जिनकी बराबरी का कवि और नहीं, इस प्रसंग का जरा भी जिक्र नहीं करते, तो क्या सचमुच वह प्रसंग हुआ ही नहीं ? ऐसा नहीं है। लक्ष्मण उर्मिला से जरूर मिले होंगे, लेकिन कवि ने उर्मिला की मुलाकात को महत्त्व देने के बजाय लक्ष्मण की अनासक्ति और उसकी भक्ति तथा निष्ठा को महत्त्व देना उचित समझा। लक्ष्मण का वैराग्य बताने की दृष्टि से ही शायद कवि ने उर्मिला के साथ की भेट का वर्णन नहीं किया। लक्ष्मण माता के पास भी गया तो वहाँ से भी मानो वह छूटकर आया है। अगर माता रोकती तो भी वह नहीं रुकता। वह तो राम का भक्त

था। लेकिन मातृ-प्रेम कितना अद्भुत था, यह बताने के लिए कवि ने उस प्रसंग का वर्णन किया है।

मेरी मान्यता है कि उर्मिला-लक्ष्मण मुलाकात के प्रसंग का वर्णन न करके भी वाल्मीकि ने उसका वर्णन कर दिया है। उस अभाव में भी वाल्मीकि की बहुत भारी कला प्रकट होती है।

अक्सर लोग उत्तान वर्णन को अश्लील समझते हैं। वह तो अश्लील है ही। लेकिन मेरे विचार में तो सूचन भी अश्लील है। पति-पत्नी का मर्यादित और सूचनात्मक वर्णन भी लाभदायक है, ऐसा मैं नहीं मानता।

संतति-निर्माण वैज्ञानिक विषय है और पति-पत्नी का सम्बन्ध पवित्र सम्बन्ध है। संतानोत्पत्ति धार्मिक भावना से ही होनी चाहिए। मैं तो दूसरी कल्पना ही नहीं कर सकता। बल्कि जैसे हम भूदान-यज्ञ के लिए भगवान् का स्मरण करके यात्रा का आरम्भ करते हैं, वैसे ही पति-पत्नी सम्बन्ध भी ऐसी पवित्र भावना से होना चाहिए और यदि समागम विफल हुआ, तो उसका दोनों को दुःख होना चाहिए। किसान तो केवल कर्तव्य समझकर ही दूसरी बार बोनी करता है। उसे पहली बोनी वृथा जाने का दुःख हुए बिना नहीं रहता। उसी तरह सन्तति-निर्माण के वास्ते दूसरी बार स्त्री-सम्बन्ध करना पड़े तो पुरुष वैसा करेगा, लेकिन दुखी हृदय से, केवल कर्तव्य भावना से। यह भावना पैदा करना साहित्यिकों का काम है। लेकिन यह तो तब सम्भव है, जब साहित्यकारों के जीवन में वह चीज प्रकट हो।

भूदान और साहित्यकार

प्रश्न—भूदान-यज्ञ के बारे में आप साहित्यकारों से क्या अपेक्षा करते हैं?

उत्तर—भूदान-यज्ञ की वैचारिक भूमिका का प्रचार करने के काम में साहित्यकार बहुत हाथ बँटा सकते हैं। यह कार्य इतना स्फूर्ति-दायी है कि उसमें से कोई रामायण सहज प्रकट हो सकती है।

साहित्यसेवी महिलाएँ और सेवा-कार्य

प्रश्न—क्या साहित्यसेवी स्त्रियाँ रचनात्मक कार्य में प्रत्यक्ष हिस्सा नहीं ले सकतीं ?

उत्तर—क्यों नहीं ले सकतीं ? कितना अच्छा हो, अगर व रचनात्मक कार्य में योग दें। उसका अर्थ होगा कि वे वाल्मीकि भी बनीं और राम की सेवा में भी दाखिल हुईं।

शहर में कितनी ही स्त्रियाँ दुखी, बीमार, बेरोजगार होती हैं। उन सबके पास उन्हें पहुँचना है, उनकी सेवा करनी है। अपनी माँ का मुझे स्मरण है कि जब किसीके यहाँ रसोई की अड़चन होती तो वह स्वयं वहाँ पहुँच जाती और रसोई कर आती। अपने घर की रसोई पहले कर लिया करती थी। मैंने पूछा, 'यह स्वार्थ क्यों ? पहले हमारे लिए पकाती हो, फिर उनके लिए।' माँ ने जवाब दिया—'यह स्वार्थ नहीं है, परमार्थ ही है। अगर पहले उनकी रसोई कर आऊँगी और बाद में तुम्हारी करूँगी, तो तुम्हें तो खाने के समय गरम रसोई मिलेगी, लेकिन उनके खाने के समय तक वह सबेरे की रसोई ठंढी हो जायेगी।' यह तो मैंने एक मिसाल दी। स्त्रियों को पुरुष लोग थोड़ी फुरसत दें तो वे कितना काम कर सकती हैं, इसकी कल्पना इससे की जा सकती है। एक और काम वे कर सकती हैं। अगर वे एक हरिजन बालक को अपने पास रख लें और अपने पुत्र की तरह उसे छोटे से बड़ा करें, तो यह कार्य एक हरिजन छात्रालय चलाने की

अपेक्षा भी अधिक महत्त्व का और क्रान्तिकारी कार्य होगा। फिर चरखे और चक्की द्वारा वे घर में ग्रामोद्योग और परिश्रम-निष्ठा का वातावरण बना सकती हैं। वे देखेंगी कि उसमें उनकी प्रतिभा को भी विकास का काफी मौका मिलता है। अगर स्त्रियों को सार्वजनिक काम में हिस्सा लेना है, तो पुरुषों को उनके काम में हाथ बँटाना चाहिए। आज ऐसा लगता है कि उत्तरप्रदेश में पुरुष स्त्रियों को बिल्कुल गुलाम रखना ही जानते हैं।

साहित्य के जरिये जीविकोपार्जन

प्रश्न—साहित्य के जरिये जीविकोपार्जन का औचित्य क्या है?

उत्तर—हमें सीजर को सीजर का भाग देना चाहिए, और परमेश्वर को परमेश्वर का। शरीर को तो खिलाना ही चाहिए, लेकिन आत्मा को भी खिलाना चाहिए। यदि कोई मनुष्य सब कुछ समाज को समर्पण करके समाज से जो सहज प्राप्त हो सके, उसमें समाधान माने, तो वह बहुत ही अच्छा है। लेकिन अगर कोई मनुष्य साहित्य के जरिये अपनी आजीविका एक विशिष्ट मर्यादा में प्राप्त करे, तो उसमें भी कोई दोष नहीं है।

दक्षिण की एक भाषा सीखिये

प्रश्न—राष्ट्रभाषा पर कुछ कहें।

उत्तर—अब हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा बना चुके हैं। परिणामतः दूसरे प्रान्तवाले भी हिन्दी सीख रहे हैं। हिन्दी जाननेवाले अब केवल उत्तर भारतवाले ही नहीं रहेंगे। दक्षिणवालों को हिन्दी सीखने में कितना अधिक परिश्रम उठाना पड़ता है, इसकी कल्पना हम उत्तरवाले नहीं कर सकते। हिन्दी में जो लिंग-भेद है, वह दक्षिण

में कतई नहीं है। वहाँ अचेतन-चेतन का भी भेद नहीं। इसलिए जब हिन्दीवाले दीवार को स्त्रीलिंग और पत्थर को पुल्लिग कहते हैं, तो वे लोग घबरा जाते हैं। फिर, अगर ऐसा हो कि छोटी वस्तु को स्त्रीलिंग मानें जैसे कटोरी और बड़ी को पुल्लिग जैसे कटोरा, तो दीवार तो बहुत बड़ी है, और पत्थर छोटा है। उनकी दिक्कत इसलिए भी बढ़ जाती है कि अंग्रेजी में भी ऐसा लिंग-भेद नहीं है।

इसलिए हमारे हिन्दी के साहित्यिक भी दक्षिण भारत की एक भाषा सीखें, तो बहुत अच्छा होगा। मैं खास तौर से तमिल सीखने की सिफारिश करूँगा। यह भाषा दो हजार वर्ष पुरानी है। उसका अपना सुन्दर व्याकरण है। हमारी भाषाओं के व्याकरण—हिन्दी, मराठी आदि के व्याकरण तो सौ-सौ वर्ष ही पुराने हैं, लेकिन तमिल का व्याकरण कम-से-कम उन्नीस सौ वर्ष पुराना है। तमिलवाले हिन्दी जोरों से सीख रहे हैं। नतीजा यह है कि हिन्दी के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का तमिल में अनुवाद हो रहा है। लेकिन तमिल के ग्रन्थों का हमें पता नहीं लगता।

और अगर ऐसा ही रहा कि हम तो उनकी भाषा सीखें नहीं और वे हमारी भाषा सीखते ही रहें, तो अंग्रेजी के बारे में जो विरोध की भावना लोगों के हृदय में पैदा हो गयी थी, वैसी ही भावना हिन्दी के बारे में भी हो सकती है। आज हिन्दी भाषा के ज्ञान के बारे में आपके मामूली-से-मामूली आदमी की बराबरी करने के लिए उनके बड़े-से-बड़े आदमी को दस-दस, पाँच-पाँच साल मेहनत करनी पड़ती है। यह कोई अच्छी बात नहीं है। इसलिए हमें अपनी भाषा में, उसके व्याकरण में अखिल भारत की दृष्टि से सुधार करने चाहिए। इसलिए

मेरा कहना है कि जब लोग उनकी एक भाषा सीख लेंगे, तो हमें उनकी दिक्कतों का पता चलेगा और हमारा मन हिन्दी में सुधार के लिए अनुकूल होगा।

भाषा सीखने की यह बात मैं किसीके लिए लाजिमी नहीं करना चाहूँगा, क्योंकि यह सब प्रेम से होना चाहिए। काशी और प्रयाग में दक्षिण के कितने ही लोग निवास करते हैं। उनसे हमारे सम्बन्ध बँधे और बढ़ें, तो उन्हें अच्छा तो लगेगा ही, हमें भी लाभ होगा। बेलूर जेल में कदम रखते ही मैंने तमिल पढ़ना शुरू किया। लोगों को अचरज हुआ। वहाँ दक्षिण के चारों प्रान्तों के लोग जमा थे, लेकिन वे भी आपस में अंग्रेजी में ही बोलते थे। मैंने तमिल सीखना शुरू किया। हमारे तमिल के गुरुजी ने कहा कि 'आपने इस जेल में आकर तमिल की इज्जत बढ़ा दी।' आज मैं दक्षिणवालों के दिलों में अपने प्रति जो प्रेम और श्रद्धा का अनुभव करता हूँ, उसका कुछ श्रेय मेरे तमिल-प्रेम को ही है।

भूमि-क्रान्ति की मूर्ति

प्रश्न—आपने कहा है कि यहाँ पर भूमि-क्रान्ति होगी, तो इसका स्पष्ट दर्शन, स्पष्ट चित्र क्या होगा?

उत्तर—अभी तो हम शान्त होना चाहते हैं। यह तो आप सब लोग ढूँढ़ सकते हैं, यह आपका काम है, गोता लगाकर ढूँढ़ निकालें। हमारी एक श्रद्धा है और वह हमने आपके सामने रखी है। आपको शायद ऐसी बात सूझेगी जो हमें न सूझी हो। एक वैज्ञानिक को पूरा दर्शन नहीं होता है। एक दार्शनिक को पूरा दर्शन नहीं होता। वह दूसरे को हो सकता है। भूदान का पूरा दर्शन हमें ही हुआ है, यह

तो हम नहीं कह सकते । दूसरे को भी इसका दर्शन हो सकता है । इसलिए आप ही सोचिये और कल्पना कीजिये ।

सबका सोचने का ढंग अलग होता है । जो ब्रह्मवादी होता है वह कहता है कि एक ब्रह्म है । वह इतना ही कह देता है, परन्तु सगुण चिन्तन करनेवाले के पास तो पचासों प्रकार के देवता होते हैं । कुछ एक मुखवाले देवता, कुछ पाँच मुखवाले देवता, कुछ हाथी के मुखवाले देवता, कुछ चार हाथवाले देवता, कुछ आठ हाथवाले देवता होते हैं । यह सारी सृष्टि साहित्यिकों की है, इसलिए आप ही देख लीजिये और चाहे जैसा रूप दीजिये ।

'दान' शब्द क्यों ?

प्रश्न—'दान' शब्द का इस्तेमाल क्यों किया जाता है ?

उत्तर—शब्दों की एक महिमा होती है । दान एक बड़ा ही पवित्र शब्द है । सामान्य लोग तो शब्दों के रूढ़ अर्थ को ही देखते हैं, लेकिन जो प्रतिभावान् होते हैं, कवि होते हैं, वे शब्दों का मूल ध्यान में लेते हैं, रूढ़ अर्थ नहीं । मूल अर्थ देखा जाय तो, दान एक बहुत पवित्र शब्द है । दान का मतलब उपकार नहीं है । **"दानम् समविभागः"** शंकराचार्य ने दान का अर्थ बताया है—**"सम्यक् विभाजनम् ।"** यह अर्थ शंकराचार्य ने भी अपने दिमाग से निकाला है, ऐसी बात नहीं है उनके पहले भी यह बात थी । बुद्ध भगवान् के नाम पर उनके शिष्यों ने एक बात कही है, जिसमें कहा गया है कि जिसे हम 'दान' कहते हैं, उसे भगवान् बुद्ध 'सम विभाग' कहते हैं । **"यं संविभागं भगवा अवण्णी ।"** लेकिन यह बुद्ध भगवान् की बात थी, ऐसा नहीं है । उनके पहले भी यह बात वेदों में आयी है । वेदों में भाष्यकारों ने लिखा है

कि '**दानम् संमविभागः**' दान माने सतत देते ही रहना चाहिए। आज तो हम लेते ही रहते हैं, लेकिन भगवान् ने हमें हाथ दिये हैं देने के लिए।" "**हाथ दिये कर दान रे**"–हाथ छीनने के लिए नहीं दिये हैं। छीनने के लिए तो दाँत और नाखून काफी हैं। इसलिए अगर हाथों से छीनने का काम लिया जाय,तो भगवान् अगले जन्मों में हमें चतुष्पाद प्राणी बनायेगा। इसलिए हाथ तो भगवान् की बहुत बड़ी और पवित्र देन है।

"**दानेन पाणि न तु कंकणेन।**" हाथ की शोभा दान से है, कंकण से नहीं। इसका मतलब है कि संग्रह में हाथ की शोभा नहीं है। देने में ही शोभा है। इसलिए सतत देते रहना चाहिए। गीता ने कहा है कि यज्ञ, दान और तप यह त्रि-विषयक्रिया सतत चलनी चाहिए। दान का मतलब "डोनेशन" नहीं है। दान का मतलब है, धर्म। हिन्दुस्तान में 'दान करो' के बदले 'धर्म करो' भी कहा जाता है। माने, धर्म और दान पर्यायवाची शब्द हैं। आज उस शब्द का कुछ दूसरा अर्थ रूढ़ हो गया है। परन्तु यह शब्द कमजोर नहीं है। वैसे आज तो कितने ही अच्छे शब्दों को बिगाड़ा गया है। जैसे, वैराग्य। कहते हैं कि किसी को बीबी पर क्रोध आया, तो वह घर छोड़कर निकला और उसको वैराग्य हो गया। लेकिन यह भी भला वैराग्य का कोई लक्षण है? इस तरह हमने शब्दों को भ्रष्ट किया है। लेकिन हमारे पास जो अच्छे-से-अच्छे शब्द हैं, वे हमारे शस्त्र हैं। उनको हम नहीं खोयेंगे। दान का मतलब है, अपने पास जो कुछ है वह देना। और यज्ञ का मतलब है कि अपने पास जो कुछ है उसे छोड़ना, उसका त्याग करना। यज्ञ और दान—ये दोनों प्रक्रियाएँ समाज में चलती रहनी चाहिए।

हमारे प्रकाशन

वैचारिक साहित्य

(विनोबा)

त्रिवेणी	।।)
सर्वोदय की ओर	।)
भूदान-प्रश्नोत्तरी	≡)
विनोबा-प्रवचन (संकलन)	।।।)
पाटलिपुत्र में विनोबा (संकलन)	।-)
भगवान् के दरबार में	=)
साहित्यिकों से	।।)

(धीरेन्द्र मजूमदार)

शासन-मुक्त समाज की ओर	।=)
आजादी का खतरा	।-)
बापू की खादी	।।)
क्रांतिकारी चरखा	।-)
युग की महान् चुनौती	।)
नयी तालीम	।।)
स्वराज्य की समस्या	।।)
चरखा-आन्दोलन की दृष्टि और योजना	≡)
ग्रामराज	।-)

(श्रीकृष्णदास जाजू)

संपत्तिदान-यज्ञ	।)
व्यवहार-शुद्धि	।=)
अ० भा० चरखा संघ का इतिहास	३।।)
चरखा-संघ का नव-संस्करण	१।।)
चरखे की तात्त्विक मीमांसा	१)

(जे० सी० कुमारप्पा)

गाँव-आंदोलन क्यों ?	३।।)
गांधी-अर्थ-विचार	१)
स्थायी समाज-व्यवस्था (भाग २रा)	२)
श्रम-मीमांसा और अन्य प्रबंध	।।।)
खून से सना पैसा	।।।)
जनता की आजादी	१।।)
यूरोप : गांधीवादी दृष्टि से	।।।)
वर्तमान आर्थिक परिस्थिति	१।।)
ग्रामों के सुधार की योजना	१।।)
स्त्रियाँ और ग्रामोद्योग	।)
राजस्व और हमारी दरिद्रता	२।।)

(दादा धर्माधिकारी)

मानवीय क्रांति	।)
साम्ययोग की राह पर	।)
क्रांति का अगला कदम	।)

(अन्य लेखक)

अहिंसक क्रांति का संदेश	।।)
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	।)
विनोबा के साथ	१)
पावन प्रसंग	।=)
भूदान-आरोहण	।।)
राज्यव्यवस्था : सर्वोदय दृष्टि से	१।।)
गो-सेवा की विचारधारा	।=)
मायावी तेल (हिंदी-अंग्रेजी)	।=)
रचनात्मक कार्यक्रम किस ओर ?	।।=)

श्रम-दान ।)
भूदान-यज्ञ (नाटक) १)
सामाजिक क्रान्ति और भूदान (प्रेस में)
महात्मा गांधी ।=)
संत विनोबा की उत्तरभारत यात्रा १।)
भूदान-दीपिका =)
साम्ययोग का रेखाचित्र =)
ग्राम-स्वावलंबन की ओर ।)
ग्राम-सेवा की योजना =)
संत विनोबा और भूदान-यज्ञ ।–)
पूर्व बुनियादी तालीम १)
सर्वोदय ।=)
गांधी जी के अनुयायी ।)
नवभारत ४)
बापू का रामराज ।)
शांति या विनाश ।=)
सामूहिक प्रार्थना ।)

धरती के गीत =)
भूदान-यज्ञ गीत-संग्रह –)

(उर्दू-साहित्य)

भूदान ≡)
विनोबा की झाँकी =)
भूदान : सवाल-जवाब ≡)
भूदान की तमहीद –)
विनोबा का पैगाम =)
भूदान लहरी –)
भूदान तहरीक क्या है ? =)

(नयी तालीम साहित्य)

शिक्षा में अहिंसक क्रांति १॥)
नयी तालीम की मूल कल्पना –)
मूल उद्योग : कातना ।।।)
आठ साल का सम्पूर्ण शिक्षाक्रम १॥)
पूर्व बुनियादी समिति का पाठ्यक्रम ।)
भारत की कथा ॥)

[ENGLISH PUBLICATIONS]

Vinoba & His Mission 3--0
Bhoodan-Yajna: The Great Challenge of the Age 0--4
Bhoodan-Yajna 1--8
Revolutionary Bhoodan Yajna 0--4
Principles and Philosophy of Bhoodan 0--5
Swaraj-Shastra 1--0
Sarvodaya &. World peace 0--2
Lessons from Europ 0--8
Non-Violent Economy and world Peace 1--0
Banishing War 0--8
Currency Inflation-Its Cause and cure 0--12
Economy of Permanence (2 vols) Each 2--0
Gandhian Economy and Other Essays 2--0
Our Food Problem 1--8
Overall plan for Rural Development 1--8

Organisation and Accounts of Relief work 1--0
Philosophy of Work and other Essays 0--12
Peace and Prosperity 1--0
Present Economic Situation 2--0
Peoples China--What I saw and Learnt there ? 0-12
Plan for Economic Development of N. W. F.. 0--13
Science and progress 1--0
Stonewalls and Iron Bars 0-8
Unitary Basis for a Non-Violent Democracy 0--10
Why the Village Movement 3--8
Women and Village Industries 0--4
Demand of the Times 0-12
Elements of Village Administration and Law 1--0
Whither Constructive work 0--10
Economics of Peace: The Cause and the Man 10--0

"...कबीर बुनकर न होता तो कबीर नहीं बनता। उस जमाने में छापाखाने नहीं थे, फिर भी उनके बिना ही कबीर के काव्य का प्रचार हुआ। वह जनता के उद्योग के साथ एकरूप था, इसलिए जनता के सुख-दुःख को वह समझता था। जनता के हृदय क साथ भी वह एकरूप था। इसलिए मैं मानता हूँ कि साहित्यिक या तो किसान हो सकता है या कोई उद्योग करनेवाला हो सकता है। फकीर भी हो सकता है, जो जनता पर निर्भर रहे। ऐसे फकीरों को तो खाना मिले तो भी स्फूर्ति होती है और न मिले तो भी। खाना न मिलने पर हृदय में जो दुःख या करुणा पैदा होती है, वह भी काव्य की प्रेरक बनती ह। इस तरह साहित्यिक को पूर्ण विरक्त या सृष्टि का उपासक-भक्त, दोनों में से एक बनना चाहिए।"

—विनोबा

साम्ययोग

का

रेखाचित्र

•

विमला

साम्यवाद और साम्ययोग (सर्वोदय) के तत्त्वों के मूलगामी तुलनात्मक २४ सूत्र

•

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन,
राजघाट, काशी

पहली बार : १०,०००
मूल्य : दो आना
जुलाई १९५५

मुद्रक :
ओम् प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, बनारस. ४७७२–१२

प्र स्ता व ना

विज्ञान के विकास से मानव-समाज दैन्य, दारिद्र्य तथा भूख से रिहाई पा सकेगा, अकाल मृत्यु और व्याधि के अभिशाप से मुक्त हो सकेगा—यह श्रद्धा आधुनिक मानव-समाज में दो सदियों से जीवन-साधना का आधार रही है।

न्याय तथा समता के सहारे समाज का नव-निर्माण हो सका तो मानव आर्थिक शोषण से मुक्त हो जायगा; धर्म के नाम पर सदियों से चलनेवाली अंध रूढ़ियों का दौर खत्म हो जायगा। मनुष्यता का विकास समाज-प्रणाली की सहायता से संपन्न होगा। आधुनिक युग के क्रान्तिकारी तपस्वियों में यह श्रद्धा जीवन का स्थायी आधार रही है।

अणु-विस्फोट-युद्ध में इन दोनों श्रद्धाओं की आहुति पड़ेगी। यह भयानक भवितव्यता क्रियाशील मानव को बेचैन कर रही है।

विद्वेष की प्रेरणा मानव-समाज को सीधे अणु-युद्ध की श्मशान-भूमि तक पहुँचा देगी! क्या विज्ञान मानव के हृदय में रहनेवाली परस्पर विद्वेष की अग्नि बुझा सकेगा?

क्या साम्यवाद, बिना विश्व-संघर्ष के, कोई विकास-मार्ग ढूँढ़ लेगा?

किसी भी मुल्क में रहनेवाला विवेकशील मानव आज इसी समस्या पर चिन्तन–मनन–अन्वेषण कर रहा है। आशा है, इस दिशा में दौड़नेवाली दूरदृष्टि के लिए यह पुस्तिका एक प्रकाश-किरण बनेगी।

राजघाट, काशी
२० जून, १९५५

—अच्युत पटवर्धन

अपनी बात

कार्ल मार्क्स ने जब से यूरोप में क्रांतिकारी अर्थशास्त्र का प्रतिपादन किया, तब से सारे संसार में एक नये युग का आरम्भ हुआ। आज का युग मार्क्स का है या गांधी का है, इस विवाद में पड़ने का मोह अक्सर होता है। लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि मार्क्स के बाद गांधीजी का आविर्भाव हुआ। इसलिए यह कहना ग़लत है कि आज का ज़माना सिर्फ गांधीजी का ही है और मार्क्स का नहीं है। मार्क्स की विचार-प्रणाली और मार्क्सवादियों के पुरुषार्थ से संसार में जो विलक्षण परिवर्तन हुआ है, उसकी भूमिका से गांधीजी के विचार और कार्य को लाभ ही हुआ है। अतः यहाँ पर साम्यवाद और साम्ययोग या सर्वोदय का तुलनात्मक विचार विधायक दृष्टि से करने का प्रयत्न है।

—विमला

साम्ययोग
का
रेखाचित्र

•

सा म्य वा द

१. सापेक्ष मूल्य

मनुष्य अपने में न तो अच्छा है, न बुरा है। परिस्थिति उसको भला-बुरा बनाती है।

२. वस्तु परिवर्तन

परिस्थिति में बलपूर्वक ऐसा परिवर्तन करें कि जिससे दोष पैदा होने के लिए समाज में अवसर न रहे।

३. शासन और नियन्त्रण

बाहरी नियन्त्रण और शासन से मनुष्य का स्वभाव वांछित दिशा में मोड़ने का प्रयत्न।

४. मानव : उपकरण मात्र

क्रांति की प्रक्रिया में व्यक्ति के नाते मनुष्य का महत्त्व नहीं है। नागरिक के स्वयंकर्तृत्व के लिए अवसर नहीं है। वह केवल साधनमात्र बन जाता है।

– सात –

सा म्य यो ग

१. निरपेक्ष मूल्य

मनुष्य स्वभावतः सत्प्रवृत्त है। उसमें जो दोष पैदा होते हैं, वे परिस्थितिजन्य, संस्कारजन्य या विकारजन्य होते हैं।

२. आत्म-संयम

नये संस्कारों का निर्माण तथा परिस्थिति में इस प्रकार का परिवर्तन, जिससे दोषों का निराकरण हो और मनुष्य की मूलभूत सत्प्रवृत्ति को प्रकट होने के लिए अवसर मिले।

३. हृदय-परिवर्तन

बाह्य परिवर्तन व्यक्ति के सहयोग से करने का प्रयत्न। अतः हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया का अवलम्बन। व्यक्ति की आंतर-अभिव्यक्ति के लिए बाह्य परिवर्तन से अनुकूलता का निर्माण।

४. मानव : परममूल्य

यहाँ मनुष्य ही परममूल्य है। उसके विकास के लिए सारी योजना और व्यवस्था है। उसकी स्वयंप्रेरणा और स्वयंकर्तृत्व के लिए क्रांति की प्रक्रिया पोषक होनी चाहिए।

साम्यवाद

५. शासन का दृढ़ीकरण

समाज-परिवर्तन सत्ता के द्वारा करने का आग्रह। इसलिए राज्यसंस्था सर्वंकष बन जाती है। शासन-मुक्त समाज की तरफ कदम बढ़ाने के लिए यह प्रक्रिया अनुकूल नहीं है।

६. हिंसा की अप्रत्यक्ष प्रेरणा

साम्यवाद अन्तिम और निरपेक्ष मूल्यों जैसा कोई तत्त्व नहीं मानता। वह हिंसा का पक्षपाती भले ही न हो; परन्तु, जबकि उसमें किसी शाश्वत मूल्य के लिए आग्रह नहीं है, तो मनुष्य को अहिंसा-पराङ्मुख बनने के लिए अप्रत्यक्ष प्रेरणा है। सापेक्ष मूल्यवाद का यह स्वाभाविक परिणाम है।

७. ग़रीबी और अमीरी देवनिर्मित या दैवनिर्मित नहीं है; और न वह अनिवार्य ही है। आर्थिक विषमता मानवकृत है।

८. व्यक्तिगत संग्रहलोलुपता और आर्थिक प्रभुत्व की आकांक्षा से आर्थिक विषमता पैदा होती है।

९. इस विषमता का निराकरण ऐतिहासिक क्रमविकास का एक आवश्यक अंग है। वह अवश्यम्भावी है और वांछनीय है।

सा म्य यो ग

५. शासनमुक्ति की साधना

यहाँ व्यक्ति के विकास का अभिप्राय मुख्य है। इसलिए नागरिकों की स्वयंकर्तृत्व की दिव्य शक्ति जाग्रत और संघटित करके, उसे एक क्रांतिकारी सामाजिक मूल्य बनाने का प्रयास है। अतएव इस प्रकिया में मनुष्य=साधन+साध्य। मतलब यह कि क्रांति की प्रक्रिया के साथ ही शासनमुक्त समाज के निर्माण का रचनात्मक-कार्य शुरू हो जाता है।

६. अहिंसा की प्रत्यक्ष प्रेरणा

अहिंसा को जीवन का निरपेक्ष और शाश्वत मूल्य माना है। इसलिए क्रान्तिकारी व्यक्ति हिंसापराङ्मुख बनता है। उसे अहिंसाप्रवण बनने के लिए प्रेरणा मिलती है।

७. ग़रीबी और अमीरी देवनिर्मित या दैवनिर्मित नहीं है। और न वह अनिवार्य नैसर्गिक नियम ही है। आर्थिक विषमता मानवकृत है।

८. व्यक्तिगत संग्रहलोलुपता और आर्थिक प्रभुत्व की आकांक्षा से आर्थिक विषमता पैदा होती है।

९. संग्रह-लोलुपता और स्वामित्वाकांक्षा मनुष्य का स्वभावगुण नहीं है। वह विकार है। इसलिए उसका निराकरण सृष्टिनियम के अनुसार तथा ऐतिहासिक क्रम-विकास के अनुसार भी अवश्यम्भावी और इष्ट है।

सा म्य वा द

१०. सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक बुराइयों की जड़ उत्पादन के साधन तथा पद्धति में है। दूसरे शब्दों में आर्थिक विषमता ही सारे सामाजिक अनर्थों का मूल है।

११. आर्थिक विषमता का निराकरण करते ही सारी बुराइयाँ अपने आप हट जायँगी।

१२. समाज की राज्यव्यवस्था और संस्कृति उसकी आर्थिक व्यवस्था से निर्धारित होती है। अर्थात् समाज की राजनीति और संस्कृति उसकी अर्थरचना का प्रतिबिम्ब है।

१३. व्यक्तिगत मालकियत और मिलकियत का निराकरण करना आवश्यक है।

१४. पहले क़दम के तौर पर व्यक्तिगत मालकियत की जगह राज्य की मालकियत कायम करनी चाहिए और राज्य-संस्था पूर्णरूप से श्रमजीवियों के कब्जे में होनी चाहिए। 'राज्यीकरण' (State-ownership) 'समाजीकरण' (Communization) का पहला क़दम है।

साम्ययोग

१०. सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक बुराइयों का आर्थिक विषमता के साथ अभेद्य सम्बन्ध है। जीविका के साधन से जीवन की पद्धति अवश्य निर्धारित होती है। परन्तु सारे अनर्थों का एकमात्र कारण आर्थिक विषमता ही नहीं है।

११. सामाजिक दोषों के निराकरण में आर्थिक विषमता के निराकरण से मौलिक मदद मिलती है।

१२. आर्थिक व्यवस्था में समाज की सभ्यता अभिव्यक्त होती है। आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप राज्यतंत्र बनता है। अर्थरचना और राज्य-तंत्र दोनों के संस्कार समाजनीति पर होते हैं।

१३. व्यक्तिगत मालकियत और मिलकियत के निराकरण के साथ-साथ स्वामित्व और सम्पत्ति की भावना का ही निराकरण करना है।

१४. अगर व्यक्तिगत मालकियत निषिद्ध है, तो सामुदायिक मालकियत भी निषिद्ध ही है। मालकियत की भावना का निराकरण हमारा इष्ट होना चाहिए। इसलिए मालकियत न तो एक व्यक्ति की होगी और न व्यक्तियों के समूह की। समाजरूपी परमात्मा ही सारी सम्पत्ति का मालिक माना जाना चाहिए। व्यक्तियों की अहंता का जोड़ परमात्मा नहीं है।

सा म्य वा द

१५. श्रमिकों की सरकार की मालकियत ही वास्तव में श्रमिकों की मालकियत है ।

१६. **वर्ग-संघर्ष**

श्रमिकों की सरकार कायम करने के लिए पूँजीपतियों से जबरदस्ती सत्ता छीननी होगी; और, आवश्यक हो तो, उनका वध भी किया जाय ।

१७. सम्पत्ति और उत्पादन के केन्द्रीकरण से एक पक्ष की अधिसत्ता का निर्माण । शासन की अनिवार्यता बढ़ती ही जाती है ।

१८. राष्ट्रवादी मनोवृत्ति पुष्ट होती है, क्योंकि हरएक देश के श्रमिक पहले अपने देश की राज्यसत्ता पर कब्जा जमाने की कोशिश करते हैं। आज तो कम्युनिज्म में से अन्तर्-राष्ट्रीयता का आग्रह लगभग तिरोहित हो गया है ।

१९. श्रमिकों के संगठन के लिए क्रांतिकाल में केन्द्रित उत्पादन आवश्यक । अतः साम्यवादी अधिराज्य में भी केन्द्रित उत्पादन का आग्रह और विकास । अर्थात् पूँजीवादी केन्द्रित उत्पादन का ज्यों का त्यों स्वीकार । उत्पादन और वितरण का सम्पूर्ण केन्द्रीकरण ।

साम्ययोग

१५. श्रमिकों के स्वयंनिर्वाचित प्रतिनिधियों की मालकियत को श्रमिकों की मालकियत समझना बहुत बड़ा भ्रम है। किसी एक वर्ग की या सरकार की मालकियत न तो समाज की मालकियत कही जा सकती है और न लोकात्मा, ईश्वर की।

१६. वर्ग-परिवर्तन

सभी व्यक्तियों को उत्पादक बनना है। पूँजीपतियों को भी श्रमिक बनना है।

१७. सम्पत्ति और उत्पादन के विकेंद्रीकरण के फलस्वरूप राज्यसत्ता का विकेंद्रीकरण। शासन की आवश्यकता उत्तरोत्तर कम होती जाती है। क्रांति की प्रक्रिया में ही शासन के विघटन की अप्रत्यक्ष प्रक्रिया अंतर्भूत है। पक्षातीत शासन-पद्धति की स्थापना अपने आप होती है।

१८. सर्वभूतहितरत वृत्ति का बीजारोपण होता है। राज्य की सीमाओं को पार करने की सुमधुर प्रक्रिया का सहज-भाव से आरम्भ होता है।

१९. क्रान्ति की प्रक्रिया में बाह्य संगठन को ही सब कुछ नहीं माना है। श्रमिकों के हृदय एक-दूसरे के साथ जोड़ने का आग्रह है। इसलिए क्रान्ति की प्रक्रिया में ही विकेन्द्रीकरण की तरफ क़दम बढ़ता जाता है। वर्गनिराकरण के बाद उत्पादन और वितरण अधिकतर विकेन्द्रित पद्धति से ही होगा। बहुत थोड़े अंश में उत्पादन के साधनों के लिए केन्द्रीकरण आवश्यक माना जायेगा।

सा म्य वा द

२०. वस्तु-निष्ठ

आर्थिक संयोजन का उद्देश्य अधिक उत्पादन और सुलभ वितरण है। केन्द्रीय मूल्य उपभोग्य वस्तु।

२१. उपभोग की वस्तुओं की प्रचुरता और समान वितरण ही परम साध्य है। वही सांस्कृतिक उन्नति का प्रधान लक्षण है। फलस्वरूप मनुष्य और पशु दोनों उत्पादन के साधन बन जाते हैं। यंत्र प्रधान होता है। मानव और मानवेतर प्राणी गौण साधन बन जाता है।

२२. काल को संहारक तत्त्व मानकर उसके साथ निरतंर होड़। उत्पादन की गति बढ़ाने का और समय बचाने का खब्त।

२३. केन्द्रित उत्पादन और वितरण के लिए विशेषज्ञों तथा व्यवस्थापकों की अनिवार्यता। इसमें से मुनीमशाही और विशेषज्ञसत्ता का आविर्भाव।

२४. चाहे सामुदायिक स्वामित्व ही क्यों न हो, अर्थ-नीति का लक्ष्य प्रभूत भोग सामग्री और वैभवविलास। सामुदायिक परिग्रह का संयोजन। वासनाओं और आवश्यकताओं को प्रोत्साहन।

– पन्द्रह –

साम्ययोग

२०. मानव-निष्ठ

आर्थिक संयोजन का उद्देश्य उत्पादक की शक्ति तथा कुशलता के उपयोग द्वारा उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण उत्कर्ष है। केन्द्रीय मूल्य उत्पादक, मानव।

२१. उत्पादन का उद्देश्य उत्पादक का सांस्कृतिक विकास है। जीवन की आवश्यक सामग्री का उत्पादन करने में मनुष्य की और पशु की सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग तथा विकास होना चाहिए। उत्पादन मनुष्य के लिए है, मनुष्य उत्पादन के लिए नहीं।

२२. काल को आयु का उपादान तथा जीवन का पोषक तत्त्व मानकर उसका सहयोग प्राप्त करने का प्रयास। समय-ज्ञता और प्रत्युत्पन्न मति।

२३. विकेन्द्रित उत्पादन में उत्पादक का परिवर्तन विशेषज्ञ में निरन्तर होता है। छोटे पैमाने पर उत्पादन में उत्पादक ही व्यवस्थापक हो जाता है।

२४. त्याग और सन्तोष की भावना का विकास अर्थ-नीति का लक्ष्य। अपरिग्रह के सिद्धान्त का आर्थिक क्षेत्र में विनियोग। आत्मतुष्टि तथा दूसरों के साथ तादात्म्य में परिपाक।

सर्वोदय-स्वाध्याय-योजना

कार्यकर्ताओं, जिज्ञासुओं और जनता में सर्वोदय-विचार के प्रचार की दृष्टि से 'सर्वोदय-स्वाध्याय-योजना' शुरू की गयी है, जिसके अनुसार लोगों को कम से कम मूल्य में स्वाध्याय योग्य उत्तम नवीनतम साहित्य नियमित रूप से मिलता रहे। योजनाकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

१. सभासद—संस्था या व्यक्ति हर कोई सभासद बन सकेगा।

२. शुल्क—इसका वार्षिक शुल्क दस रुपये है।

३. सुविधाएँ—(अ) वर्ष भर तक भूदान-यज्ञ, गया (हिन्दी) या उसके बदले भूदान संबंधी विभिन्न प्रांतों से निकलनेवाले साप्ताहिकों या पाक्षिकों में से एक भाषा का एक पत्र दिया जा सकेगा, जिसका शुल्क प्रायः तीन रुपया हो।

(आ) लगभग २५०० पृष्ठों का क्राउन साइज का नवीनतम साहित्य मिलेगा।

४. योजना का वर्ष—योजना का वर्ष १ जनवरी से ३१ दिसंबर तक माना गया है। सदस्य चाहे जब बन सकते हैं। साहित्य सब सदस्यों को समान रूप से दिया जायगा। भूदान पत्रिका सदस्य बनने के माह से वर्ष भर चालू रहेगी।

संचालक,

अ० भा० सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी (बनारस)

हमारे प्रकाशन

भूदान-दीपिका

(*विमला*)

प्रस्तुत पुस्तिका में विद्वान् लेखिका ने भूदान-आन्दोलन की सांस्कृतिक और राजनैतिक पृष्ठ-भूमि के आधार पर अपने अनुभव दिये हैं। विवेचन हृदयग्राही है। पृष्ठ ३२, दाम : दो आना।

साहित्यिकों से

(*विनोबा*)

इस पुस्तिका में विनोबा जी के समय-समय पर साहित्यिकों के बीच हुए सात प्रवचनों का संकलन है। साहित्य और साहित्य-कारों के चिरंतन सत्यं-शिवं-सुन्दरं का दर्शन।

दाम : आठ आने।

भगवान् के दरबार में !

(*विनोबा*)

इस पुस्तिका में विनोबा जी के पुरी में किये गये उन तीन प्रवचनों का संकलन है, जो भगवान् जगन्नाथ के बिना दर्शन के लौट जाने पर दिये गये थे। इनमें भारतीय धर्मों के विकास, समन्वय और उपासना-पद्धतियों पर ऐतिहासिक तथा सामाजिक दृष्टि से विनोबाजी ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। पुरी-मन्दिर से लौटते समय का एक चित्र भी दिया गया है। पृष्ठ २०, दाम : दो आना।

ग्रामराज

(*धीरेन भाई*)

विषय नाम से स्पष्ट है। ग्रामराज का मतलब है, ग्राम-स्वाव-लंबन। इस दृष्टि से इसमें विधायक मार्गदर्शन मिलेगा।

दाम : चार आने।

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी

कवर मुद्रक—हिन्द आर्ट कॉटेज, गोदौलिया, बनारस।

शासन-मुक्त समाज की ओर

•

धीरेन्द्र मजूमदार

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रस्तावना

आचार्य विनोबा भावे द्वारा प्रवर्तित भूदान-यज्ञ ने आज सर्व भारतीय दृष्टि को आकृष्ट कर लिया है। केवल भारत ही नहीं, सारे विश्व की नजर इस आन्दोलन पर है। दो साल पहले, जब विनोबाजी सेवाग्राम से दिल्ली के लिए रवाना हुए, तब कौन जानता था कि यह यात्रा एक 'विश्व-क्रान्ति' का रूप ले लेगी। केवल विरोधी ही नहीं, साथियों का भी कहना था कि तेलंगाना में जो जमीन मिली, वह एक विशिष्ट परिस्थिति के दबाव के ही कारण मिली थी। दूसरे प्रदेशों में जमीन दान में नहीं मिल सकेगी। अगर मिलेगी भी, तो जैसे भारत में साधु-सन्तों को दान देने की सनातन परिपाटी है उसीके अनुसार हजार-पाँच सौ एकड़ जमीन भले ही दान में मिल जाय। लेकिन विनोबाजी, जो कहते हैं कि वे इस आन्दोलन द्वारा भूमि-समस्या हल करना चाहते हैं, उसकी सिद्धि में इस यात्रा का कोई महत्त्व नहीं है।

विश्व-क्रान्ति का स्वरूप

धीरे-धीरे लोगों ने देखा कि भूमि का दान मिल रहा है और वह सनातन परिपाटी के परिणामस्वरूप नहीं, बल्कि विशेष व्यापकता के साथ। फिर भी लोगों में शंका बनी ही रही कि इस आन्दोलन का कोई नतीजा निकलेगा या नहीं। लेकिन चार साल में आज सारी दुनिया आन्दोलन की प्रगति देखकर आश्चर्यचकित है। संतों के सामान्य दान के रूप में सोचने की शुरुआत से लोगों ने इसे इस युग के एक बहुमत-व्यापक परोपकारी कार्यक्रम के रूप में देखा। लेकिन आखिर उन्हें मालूम हो गया कि यह एक विश्वक्रांति है।

क्रान्ति क्या है ?

समालोचकों का कहना है कि 'क्रान्ति' शब्द का एक फैशन बन गया है। कोई थोड़ा-सा भी काम करता है तो सोचता है कि मैं क्रान्ति कर रहा हूँ। इसी तरह से संत विनोबा भी सोच रहे हैं। आखिर वे समालोचक किसे क्रान्ति कहते हैं ? क्या धुआँधार संघर्ष हो या खून की नदियाँ बहें तभी समझा जायगा कि क्रान्ति हो रही है ? अगर ऐसी बात है तो संसार में दो राजाओं का युद्ध, साम्प्रदायिक दंगा आदि सभी क्रान्ति हैं।

क्रान्ति की पहचान

क्रान्ति की पहचान बतलाते हुए आचार्य कृपालानी कहते हैं— "क्रान्ति की सबसे बड़ी पहचान यह है कि एक मामूली कार्यकर्ता भी इसके प्रवाह और प्रेरणा से वह काम सम्पादित कर सकता है, जो उससे कहीं योग्य व्यक्ति दूसरी तरह कहीं भी नहीं कर पाते।" राष्ट्रीय नेताओं के लिए यह बहुत कठिन था कि वे लोगों को भूमि से अलग होने के लिए राजी करते। लेकिन आज लोग उन मामूली नवयुवकों और युवतियों को जमीन दे रहे हैं, जिन्होंने इस काम को विनोबाजी की प्रेरणा से अपनाया और जो इससे पहले राष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में अज्ञात थे, बल्कि जिनमें से कुछ अभी बालिग भी नहीं हुए हैं। वस्तुतः क्रान्ति की एक बड़ी पहचान यह है कि आबाल-वृद्ध, वनिता उसमें पूरी शक्ति और निष्ठा के साथ लग जाते हैं।

समालोचक चाहे जो कहें, आज दुनिया की जनता यह महसूस कर रही है कि 'भूमिदान-यज्ञ' एक महान् क्रान्ति है, जिसका असर सिर्फ भूमिपतियों तथा भूमिहीन मजदूरों पर ही नहीं, बल्कि दुनिया के सारे जीवन-दर्शन, प्रचलित धारणाओं तथा मूल्यांकन पर पड़ने लगा है।

भूदान-आन्दोलन : धर्म-चक्र-प्रवर्तन

आचार्य विनोबा भावे ने अपने आंदोलन को 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन'

कहा है। उनका कहना है: "सामान्य धर्म-प्रचार और क्रांति या 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। सामान्य धर्म तो ऋषि और संत लोग हमेशा समझाते रहते हैं। इसलिए सर्वसामान्य धर्म-प्रचार एक बात है और जमाने की माँग क्या है, यह पहचान कर धर्म-विचार उसके साथ जोड़ देना दूसरी बात है। संत और ऋषि मामूली धर्म-प्रचार तो हमेशा करते रहते हैं, परन्तु उससे धर्म-चक्र-प्रवर्तन नहीं होता। जहाँ परिस्थिति के साथ धर्म-भावना जुड़ जाती है; वहाँ वह लोगों के दिल को छूती है। इससे बड़ी शान्ति पैदा होती है और इसीसे धर्म-चक्र-प्रवर्तन होता है।" अर्थात् धर्म-प्रचार से सुधार और धर्म-चक्र-प्रवर्तन से क्रांति होती है।

जमाने की माँग

वस्तुतः जमाने की माँग क्रांति की पुकार हुआ करती है। युग-युग में हमेशा ऐसे जमाने आते रहे हैं, जिस समय समाज का सारा ढाँचा तोड़कर नया ढाँचा बनाना अनिवार्य हो गया है। ऐसे जमाने में सामाजिक क्रांति की आवश्यकता होती है। मानव-समाज के लिए महान् कल्याणकारी समाज-पद्धति भी काल-क्रम में महान् विनाशकारी पद्धति बन सकती है। ऐसी दशा में सारे समाज से एक सहज पुकार उस पद्धति को तोड़कर नयी पद्धति कायम करने की होती है। उसीको जमाने की माँग या क्रांतिकारी परिस्थिति कहते हैं।

परिवर्तन की प्रक्रिया

एक सामान्य मिसाल से क्रांति की आवश्यकता स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगी। मान लें कि किसी समय एक परिवार ने अपनी सुख-सुविधा और सुरक्षा के लिए विचारपूर्वक अत्यन्त सुविधाजनक मकान बनाया। क्रमशः स्थिति में दो प्रकार का परिवर्तन हुआ। काल-क्रम से पुराना होने के कारण मकान की ईंट में लोनी लगी, लकड़ी आदि सामग्री सड़ी और पीढ़ी-दर-पीढ़ी पारिवारिक परिस्थिति में हेर-फेर हुआ।

शुरू-शुरू में लोग काफी दिनों तक मकान की मरम्मत करते रहे और पारिवारिक स्थिति के बदलाव के साथ-साथ मकान की स्थिति में भी रद्दोबदल करते रहे। आखिर एक समय ऐसा आया कि सड़न के कारण घर टूटकर गिरने लगा। रहनेवालों की जान को खतरा हुआ। रद्दोबदल करते-करते उसकी हालत ऐसी हो गयी कि नयी परिस्थिति में उसके अन्दर गुजारा करना असंभव हो गया। ऐसी हालत में लोग उस मकान को गिराकर नया मकान बनाते हैं, क्योंकि अब उसमें सुधार या मरम्मत की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

समाज के मूल्यांकनों में क्रांति

इसी तरह मनुष्य के कल्याण के लिए समाज का कुछ ढाँचा बनाया जाता है। तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार कुछ धारणाएँ बनती हैं तथा वस्तुओं का मूल्यांकन किया जाता है। यह सब इसलिए होता है कि मानव-समाज सुख और शांति से जीवन बिता सके। समय पाकर इन सबके रूढ़ि बन जाने से इस ढाँचे में तथा धारणा और मूल्यांकन में विकृति पैदा होती है। दूसरी ओर सतत परिवर्तनशील प्रकृति के प्रभाव से समाज की परिस्थितियों का निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। दोनों मिलकर ऐसी स्थिति पैदा करते हैं जिससे समाज का पुराना ढाँचा, जीवन की धारणाएँ तथा मूल्यांकन मौजूदा बदली हुई स्थिति में सुखकारी न होकर संकटकारी हो जाते हैं। ऐसे संकट से त्रस्त होकर समाज की अन्तरात्मा एक मामूली परिवर्तन की पुकार करती है। सारे समाज की अन्तरात्मा की पुकार टल नहीं सकती। यही पुकार मूर्तिमान् होकर क्रांति का रूप लेती है।

भू-दान की सही भूमिका

अतएव भूमिदान-यज्ञ पर एक क्रांतिकारी आंदोलन की पृष्ठ-भूमि में विचार करना होगा। विनोबाजी ने कहा है कि धर्म-विचार जब जमाने की माँग के साथ जुड़ा हुआ होता है, तब क्रांति यानी धर्म-चक्र-प्रवर्तन

हो जाता है। हर क्रांति की द्रुत प्रगति भी इसी कारण हुआ करती है, क्योंकि जमाने की माँग के कारण सारे मानव-समाज की दृष्टि ऐसे आंदोलन की ओर सहज खिंच जाती है। लेकिन जहाँ यह बात क्रांति को प्रगति देने के लिए एक शक्ति है वहाँ यही बात उसी क्रांति के लिए खतरा भी है। इसलिए जरूरी है कि भूमिदान-आंदोलन में कार्यकर्ता अपने काम के साथ क्रांति पर के खतरे के बारे में निरन्तर जाग्रत रहें।

रूढ़ि

शुरू-शुरू में कोई क्रांतिकारी द्रष्टा जमाने की माँग को पहचान कर उसे पूरा करने का एक मार्ग उपस्थित करता है। प्रकृति के निरन्तर प्रगतिशील होने के कारण क्रांतिकारी मार्ग हमेशा नया होता है और उसकी मिसाल इतिहास में नहीं हुआ करती। यही कारण है कि जब क्रांतिकारी पुरुष नयी बातें करते हैं, तब यद्यपि साधारण जनता उसे समझ लेती है, पर पढ़े-लिखे विद्वानों को उनकी बातें नहीं भातीं; क्योंकि पंडितों की बुद्धि प्रायः शास्त्रों की जिल्द के अन्दर गिरफ्तार रहती है और वे अपनी किताबों में लिखे हुए सूत्र के अनुसार ही बातें समझ पाते हैं। इसलिए वे प्रारम्भ में क्रांतिकारी की बातों की हँसी उड़ाते हैं, दूसरी ओर क्रांति के जमाने की माँग का सही पूरक होने के कारण जनसाधारण का दिल सहज ही उसकी ओर दौड़ता है। लेकिन प्रकृति से रूढ़िग्रस्त होने के कारण उनकी बुद्धि साधारणतः पंडितों की ओर ही झुकती रहती है।

क्रान्ति-द्रष्टा की गति

इस प्रकार क्रांतिकारी पुरुष शुरू-शुरू में समाज में साधारण जनता के दिल को आकृष्ट करते हुए भी अकेला ही चलता है। लेकिन दिल साथ होने के कारण जल्दी ही वह जनता को अपनी ओर खींचकर उसे क्रांतिकारी मार्ग पर चलाने लगता है। फिर वह प्रगति जब व्यापक हो जाती है, तो पढ़े-लिखे विद्वानों की भी दृष्टि आकृष्ट होती है। उनमें से दो-एक ऐसे भी होते हैं जो जमाने की समस्याओं के समाधान के लिए

अपने पांडित्य की असारता महसूस कर नयी क्रांति की बात समझने लगते और उस क्रांतिकारी द्रष्टा के भक्त बन जाते हैं। भक्त बनने पर भी उन्हें सारी बातों को अपनी किताबी भाषा में अनुवाद करके ही सोचना पड़ता है। सिर्फ अपने ही सोचने के लिए नहीं, बल्कि अपनी विद्वान् बिरादरी को समझाने के लिए भी वे पुरानी किताबों के पन्नों में ही नयी क्रांति की बात ढूँढ़ने लगते हैं। विद्वानों के लिए ऐसी चेष्टा क्रांति के लिए प्रथम खतरा है।

गांधीजी की प्रवृत्तियाँ

गांधीजी ने मानव-समाज को शोषण तथा निर्दलन से बचाने के लिए चर्खे का सन्देश सुनाया। वे चर्खे के माध्यम से स्वावलम्बी आर्थिक व्यवस्था कायम करना चाहते थे, क्योंकि वे समझते थे कि जब तक स्वतन्त्र जनशक्ति के आधार पर मानव-जीवन स्वावलम्बी नहीं होगा, तब तक मनुष्य को वास्तविक आजादी नहीं मिल सकती। यह स्वावलम्बी आर्थिक व्यवस्था एक नयी बात थी। गांधीजी के आंदोलन की विराट् प्रगति ने जिन बहुत से विद्वानों को उनका भक्त बना दिया था उन्होंने स्वभावतः पुरानी किताबों के पन्नों पर गांधीजी की बातों को ढूँढ़ने की कोशिश की। किताबों में भारत की अति प्राचीनकालीन स्वावलम्बी समाज की बात जरूर पायी जाती है। लेकिन आधुनिक पंडितजन उस स्थिति को मजबूरी का नतीजा मात्र समझकर उसे अवैज्ञानिक तथा प्रतिगामी मानने लगते हैं। इसलिए वह बात उन्हें भाती नहीं। आधुनिक किताबों में ढूँढ़ते हुए उन्हें विकेंद्रीकरण का एक शब्द मिला और उन्होंने इसे पढ़ी-लिखी दुनिया में प्रसिद्ध किया।

गांधीजी ने स्वावलंबी समाज की बात दुनिया में मौलिक लोकतंत्र कायम करने के लिए ही की थी। लेकिन किताबों की समाज की विकेंद्रीकरण की धारणा वहाँ तक कैसे पहुँच सकती है? यही कारण है कि यद्यपि अमेरिका के हेनरी फोर्ड तथा फासिस्ट जापान के नेता विकेंद्रीकरण की बात करते रहे और जापान में उसका व्यापक अमल होता रहा, फिर

भी उन मुल्कों में गांधीजी की धारणा के अनुसार लोकतंत्र कायम होने की क्रांति न होकर दिन-दिन तानाशाही का ही संगठन होता गया। भारत में भी करीब-करीब वही हुआ। गांधीजी के अनुयायियों द्वारा स्वावलंबी समाज-व्यवस्था के सिद्धांत का आग्रह छोड़कर विकेंद्रीकरण की बात करने के कारण जन-स्वावलंबन के आधार पर सच्चे लोकतंत्र के रूप में ग्रामराज्य कायम न होकर एक विराट् केंद्रित सत्ता के नीचे सारी प्रजा दबती जा रही है। यह सही है कि हम लोग लोककल्याणकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) की बात करते और सोचते हैं कि इसीसे सच्चा गणराज्य होगा। लेकिन तानाशाही सरकार भी तो लोककल्याणकारी हो सकती है, बल्कि लोक-कल्याणकारी होने के कारण ही प्रारम्भ में जनता तानाशाही को स्वीकार भी करती है। इस तरह किताबों के सूत्र में नयी क्रांति की बात ढूँढ़ने की चेष्टा से क्रांति विपथगामी हो सकती है। उसकी मिसाल हमने अभी-अभी भारतीय आंदोलन में देखी।

भूमिदान पुनर्विभाजन नहीं

उसी तरह विनोबाजी ने भूमिदान-यज्ञ आंदोलन चलाया और विद्वानों ने जब इसमें क्रांतिकारी स्वरूप को देख लिया तब वे पुरानी प्रच-लित किताबों के पन्नों को पढ़कर इसे भूमि के पुनर्विभाजन के रूप में सम-झने लगे। यह समझने की आवश्यकता है कि जैसे विकेंद्रीकरण-मात्र से गांधीजी का स्वावलम्बन नहीं होता उसी तरह भूमि के पुनर्विभाजन-मात्र से ही विनोबाजी का भूमिदान-यज्ञ नहीं होता। भूमि का वितरण तो जापान और चीन में भी हुआ है, लेकिन क्या वहाँ भूमिदान-यज्ञ के उद्देश्य के अनुसार सर्वोदय समाज यानी शासन-मुक्त तथा शोषण-रहित जनतंत्र कायम हो सका है? वहाँ तो उत्कट तानाशाही का ही संगठन हुआ है। अगर भूमिदान-यज्ञ को केवल भूमि-वितरण के ही रूप में देखा जाय और उसी दिशा में कार्यकर्ता आगे बढ़ें, तो क्या भारत में भी तानाशाही का खतरा नहीं आ सकता?

स्वराज्य आन्दोलन में हमारी भूल

मैंने शुरू में कहा है कि इस यज्ञ के प्रति सारे भारत की दृष्टि आकृष्ट हुई है। केवल आकृष्ट ही नहीं हुई, बल्कि सभी श्रेणियों और सभी दलों के लोग इस आंदोलन में शामिल हो रहे हैं। यज्ञ की यह एक बहुत बड़ी शक्ति है। लेकिन जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, जहाँ यह एक शक्ति है, वहाँ यह एक खतरे का कारण भी हो सकती है। गांधीजी ने स्वराज्य का आन्दोलन चलाया। वे कहते रहे कि अंग्रेजी राज्य को हटाना स्वराज्य का पहला काम है। गांधीजी की वह पुकार उस समय जमाने की माँग के अनुसार ही थी। सब चाहते थे कि अंग्रेज हटें, चाहे अंग्रेज हटने के बाद स्वराज्य के बारे में उनकी कुछ भी धारणा या राय रही हो। अतः उस समय सभी श्रेणी के और सभी राय के लोग गांधीजी के आंदोलन में शामिल हुए। उसमें पूँजीपति आये, शुद्ध राष्ट्रवादी आये, सामन्तवादी, गांधीवादी, मार्क्सवादी, सम्प्रदायवादी—सभी आये और सबने मिलकर अंग्रेजी राज्य को हटाने का काम किया।

ढाँचा ज्यों का त्यों

अंग्रेजी राज्य हटा, लेकिन मुल्क का राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा ज्यों का त्यों बना रहा। गांधीजी का स्वराज्य नहीं हुआ। विदेशी राज्य की जगह पर एक स्वदेशी राज्य होकर रह गया है। ऐसा क्यों हुआ? इस पर विचार करना चाहिए, ताकि भूमिदान-यज्ञ पर के दूसरे खतरों के बारे में स्पष्ट धारणा हो सके। शुरू से ही स्वराज्य के बारे में गांधीजी की स्पष्ट धारणा थी और वे समय-समय पर उसका स्पष्टीकरण भी करते रहे, लेकिन उनके भक्तों और अनुयायियों ने उनकी मूल क्रांति पर गहराई के साथ विचार और विवेचन नहीं किया। वे सब एक रूखे झोंके से अंग्रेजों को हटाने के काम में संलग्न रहे। वे समझते रहे कि उनके जितने भी साथी हैं, सभी एक ही लक्ष्य के यात्री हैं। नतीजा यह हुआ कि उनके विचार धूमिल रह गये। यह सही है कि

गांधीजी रचनात्मक कार्यक्रम और संस्था के जरिये अपनी क्रांति की नींव डालने की चेष्टा करते रहे, लेकिन हम रचनात्मक काम करनेवाले इन कार्यक्रमों को क्रांति की बुनियाद न समझकर राजनैतिक संघर्ष के उद्देश्य से जनसम्पर्क साधने का एक सक्रिय साधन मानते रहे। हममें से कुछ उसे जनहित का कार्यक्रम-मात्र ही समझते रहे। नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे उन साथियों ने, जो प्रतिक्रियावादी थे तथा जिनकी नीयत और उद्देश्य अपने ढंग के स्पष्ट थे, परिस्थिति पर कब्जा कर लिया और उन राष्ट्रवादी सेवकों पर, जिनकी दृष्टि धूमिल थी, हावी हो गये। हम भी, उनके द्वारा क्रांति सधेगी, यह समझकर निश्चेष्ट रहे।

फिर जब हमने देखा कि हमारे वे साथी—जिन्हें हम अपने स्वधर्मी समझते थे, लेकिन जिनके सिद्धांत, धारणा तथा दृष्टि वस्तुतः पृथक् थी—हमारी धारणा के अनुसार मुल्क के राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचों में आमूल परिवर्तन न कर पुराने ढाँचे को ही संचालित कर रहे हैं, तो हम उनकी शिकायत करने लगे। लेकिन शिकायत का कोई कारण नहीं था। वह स्वाभाविक था। क्रांतिकारी जब आंदोलन चलाता है और आंदोलन के शुरू में जब ऐसा कार्यक्रम लेना पड़ता है, जिसको करने के लिए हर तबके के लोगों का आग्रह होता है, तो वह सबके साथ संयुक्त मोर्चा बनाता है। लेकिन ऐसी हालत में उसे निरन्तर जाग्रत रहना पड़ता है, ताकि उसकी क्रांति की धारणा धुमिल होकर वह प्रतिक्रांतिकारी शक्ति के हाथ में न चली जाय। हमने स्वराज्य के क्रांतिकारी आंदोलन के समय ऐसी चौकसी नहीं रखी। इसलिए आज मुल्क पर प्रतिक्रियावादी शक्ति हावी हो गयी।

भूमिदान में सावधानी

जिस तरह गांधीजी ने स्वराज्य के बारे में स्पष्ट धारणा मुल्क के सामने रखते हुए भी, पहले देश का सारा ध्यान विदेशी राज्य हटाने पर केंद्रित करने को कहा, और ऐसा कहना एक व्यावहारिक क्रांतिकारी के

लिए स्वाभाविक भी था, उसी तरह आज विनोबाजी भी अपनी आर्थिक तथा सामाजिक क्रांति की स्पष्ट धारणा देश के सामने रखने पर भी पहले भूमि-प्राप्ति तथा भूमि-वितरण के काम में सारी शक्ति केंद्रित करने के लिए 'एकहिं साधे सब सधे' की बात कह रहे हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि जब तक पहला कदम जम न जाय तब तक आगे का कदम उठाना कठिन है। और बहुमुखी कार्यक्रम चलाने से शक्ति बिखरकर क्रांति में कमजोरी आ सकती है। लेकिन आज अगर विनोबाजी की क्रांतिकारी धारणा के अनुसार भविष्य की समाज-रचना के सिद्धांत को माननेवाले कार्यकर्ता आगे का कदम तथा भावी राष्ट्र-निर्माण के बारे में उसी तरह से विचार तथा विवेचन किये बिना केवल भूमि-दान की ही बात सोचते रहेंगे, जिस तरह हम स्वराज्य-आंदोलन के समय सोचते रहे, तो इस बार भी हम चूकेंगे और एक बार और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ संगठित होकर हमारी क्रांति को उल्टे रास्ते ले जायँगी।

जिस प्रकार अंग्रेजों को हटाना कई प्रकार के लोगों के लिए इष्ट था, उसी प्रकार भूमि का पुनर्विभाजन भी कई सिद्धांत, दृष्टि तथा नीयतवालों के लिए भी इष्ट हो सकता है। जमींदारी प्रथा सामन्तवादी प्रथा का ही भग्नावशेष है। हमने इतिहास में देखा है कि सामंतवाद को खत्म करने-वाले पूँजीवादी ही थे। आज भी पूंजीवादी जमींदारी-प्रथा को खत्म ही करना चाहते हैं, क्योंकि जमींदारों के रहते भूमि पर पैदा हुए कच्चे मालों पर सीधा अपना ही नियंत्रण रखने में उन्हें दिक्कत हो सकती है। इसलिए वे भूमि-दान-यज्ञ में शामिल हो सकते हैं। चीन के कम्युनिस्ट तानाशाही राज्य-व्यवस्था को ही मानते हैं, लेकिन उन्होंने भूमि का पुनर्विभाजन किया अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही। अतः इस देश के कम्युनिस्ट अपने पार्टी-हित की दृष्टि से चाहे इस यज्ञ से भले ही घबरायें, लेकिन सिद्धांत की दृष्टि से वे भी इस पुनर्विभाजन-कार्य में शामिल हो सकते हैं। ऐसे भी काफी लोग हो सकते हैं जो औद्योगिक केन्द्रीकरण को मानते हुए भी

देहाती गरीबी की राहत की दृष्टि से भूमि के पुनर्विभाजन के कार्यक्रम में शामिल होंगे। जातीयतावादी तथा सम्प्रदायवादी भी भूमि-वितरण के साथ हो सकते हैं। ऐसे जातीयतावादी 'शोषित-दल' आदि नामों से संगठित हो भी रहे हैं। आज जनसंघ आदि साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादी भी इसके साथ हैं। जनरल मैकआर्थर कोई सर्वोदयवादी तो नहीं हैं, लेकिन उन्होंने भी तो जापान में भूमि का पुनर्विभाजन किया।

इस तरह जहाँ एक ओर कोई नया धर्मविचार जमाने की माँग के साथ जुड़ा न होने से वह सामान्य ऋषि-वाक्य होकर कुछ विवेकी पुरुषों का व्यक्तिगत आचारमात्र ही रह जाता है, उसमें आम जनता के शामिल न होने के कारण उस विचार में कोई शक्ति नहीं रहती, वहाँ दूसरी ओर हर किस्म के लोगों के शामिल होने के कारण क्रांति की दृष्टि धूमिल होने की संभावना रहती है। इसलिए मैंने कहा है कि जमाने की माँग के साथ एकरसता जहाँ क्रांति के लिए एक शक्ति है, वहाँ वही बात उसके लिए खतरा भी हो सकती है। अतएव जो लोग इसे क्रांतिकारी आन्दोलन के रूप में देखते हैं, उन्हें यज्ञ के मौलिक आधार के बारे में विचार करना होगा। इस विचार का प्रचार मुल्कभर में करना होगा; ताकि देश की दृष्टि साफ हो सके।

दंड-शक्ति

विनोबाजी भूमिदान-आंदोलन को अहिंसक समाज-रचना का पहला कदम कहते हैं। अहिंसक समाज का मतलब है, हिंसा-रहित समाज। अतः हमें मूलतः समाज से हिंसा हटाने की बात सोचनी होगी। लेकिन हिंसा स्वतः कोई चीज नहीं है, वह शोषण-वृत्ति का नतीजा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करना चाहता है और अगर वह निर्विरोध शोषण करने में सफल होता है, तो वह ख्वाहमख्वाह हिंसा नहीं करता। एक मुल्क दूसरे मुल्क का शोषण करना चाहता है और निर्विरोध शोषण करने

में समर्थ होता है तो ख्वाहमख्वाह युद्ध नहीं छेड़ता। इस तरह हम देखेंगे कि साधारणतः शोषण की वृत्ति से ही हिंसा की शुरुआत होती है।

अतएव अहिंसक समाज-रचना के लिए शोषण-हीन समाज-रचना की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि शोषण होता किस चीज का है? साधारणतः श्रम का यानी शरीर का शोषण ही शोषण माना जाता है। अर्थात् लोग यह मानते हैं कि हिंसा केवल शरीर पर होती है। लेकिन मनुष्य का केवल शरीर ही नहीं होता। उसमें आत्मा भी होती है। अतः विचार करने की आवश्यकता है कि शरीर के साथ-साथ आत्मा पर भी शोषण हो सकता है।

मनुष्य की आत्मा पर हिंसा उसकी आजादी छीनने से होती है। वस्तुतः मनुष्य की आजादी छीननेवाला सबसे बड़ा यन्त्र शासन होता है, अर्थात् शासन-यन्त्र मनुष्य की आत्मा पर हिंसा का कारण होता है; क्योंकि किसी व्यक्ति पर जिस हद तक शासन का दंड रहेगा, उस हद तक उसकी आत्मा कुंठित रहेगी। अतः अहिंसक समाज-रचना के लिए प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि दुनिया में दंड-हीन समाज यानी स्वराज्य कायम हो।

वस्तुतः दुनिया की आज की मुख्य समस्या स्वराज्य की समस्या है। साम्यवादी, फासिस्टवादी, लोकतन्त्रवादी—किसी भी नाम से पुकारा जाय, आज की दुनिया के हर मुल्क में उत्कट तानाशाही ही चल रही है। वास्तविक लोकशाही का अस्तित्व कहीं नहीं दिखाई देता। जहाँ कहीं 'जनतन्त्र' का नाम है, वहाँ भी जनता की वैसी ही हालत है जैसे कि कचहरी से अपने 'हक' की 'डिग्री' पाते हुए भी किसी किसान को अपनी जमीन का कब्जा न मिला हो।

प्रागैतिहासिक युग में

मानव-इतिहास के प्रथम युग में मानव झुंड में रहते थे। सहयोगिता के आधार पर जिन्दगी का साधन पैदा करके स्वच्छंद विचरते थे। क्रमशः

समाज में प्रतियोगिता और उसके फलस्वरूप संघर्ष पैदा हुआ। स्वच्छंद समाज के इस संघर्ष ने धीरे-धीरे मानव-समाज के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया। अस्तित्व कायम रखना प्रकृति की मूल-वृत्ति होने के कारण मनुष्य अपने अस्तित्व का खतरा बर्दाश्त नहीं कर सकता था। वह इस स्थिति से निकलने का उपाय सोचने लगा।

विभिन्न शक्तियों की विकास-क्रांति

पुराणों की कथा के अनुसार मनुष्य आपसी संघर्ष से परेशान होकर आत्मरक्षा की नीयत से ब्रह्मा के पास पहुँचा। ब्रह्मा ने मनुष्य पर कृपा करके उन पर राज्य करने के लिए मनु को संसार में भेज दिया, जिससे वह संघर्ष की चौकीदारी कर सके। इस तरह संसार में प्रतिद्वंद्विता के बीज से राजदंड की सृष्टि हुई। संघर्षकाल के लिए एक मध्यस्थ के रूप में उन्हें अपनी जिम्मेदारी सुचारु रूप से चलाने के लिए सैनिक-शक्ति की सृष्टि करनी पड़ी। सैनिक-बल से पुष्टि पाकर धीरे-धीरे दंडशक्ति अधिकतर संगठित और बलशाली होने लगी। नतीजा यह हुआ कि यह शक्ति क्रमशः जनशक्ति पर हावी होती गयी। जनता भी सहूलियत के मोह से अपनी व्यवस्था और संचालन के लिए उसी राजदंड पर भरोसा करने लगी। जनता की इस कमजोरी का फायदा उठाकर दंड-शक्ति उस पर सिर्फ हावी ही नहीं हुई, बल्कि उसका निर्दलन भी करने लगी।

इस प्रकार एक मध्यस्थ के रूप में जन्म लेकर राजशक्ति यानी दंड-शक्ति जन-स्वतन्त्रता का निर्दलन करके संसार पर अपनी सत्ता कायम करने लगी। मनुष्य इस स्थिति से फिर परेशान हुआ। जिस शक्ति को उसने अपना रक्षक मानकर पैदा किया था, वही शक्ति उसकी भक्षक होकर उसकी आजादी भी छीनने लगी। फिर से मानव-समाज ने इस स्थिति में से अपने को निकालना चाहा और दुनिया में राजतंत्र को खत्म करके लोकतंत्र कायम करने के लिए एक महान् क्रांति की। हमने देखा कि फ्रांस में एक

विराट् विस्फोट हुआ और सारी दुनिया में वह फैल गया। दुनिया से राजतंत्र खत्म हो गया।

इस क्रांति की चेष्टा में मनुष्य ने एक महान् भूल की। उसने राजाओं को खत्म किया, लेकिन वे जिस दंड-शक्ति के मालिक थे, उसकी आवश्यकता को खत्म नहीं किया। सिर्फ राजा के हाथ से उसे छीनकर पार्लियामेंट के नाम से जनता के प्रतिनिधियों की संस्था बनाकर उसके हाथ में सौंप दिया और सोचा कि अब हमारे अपने आदमी के हाथ में दंड है, इसलिए कोई खतरा नहीं। देहात में एक कहावत है, "सैयाँ भये कोतवाल अब डर काहे का।" अर्थात् अब चैन से सोया जा सकता है। जनता भी प्रतिनिधियों को चुनकर चैन से सो गयी। किन्तु 'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं' इस तत्त्व को वह भूल गयी। निश्चित जनता की सुव्यवस्था और संचालन के बहाने ये नये दंड-धारी अपनी विशाल शक्ति को लेकर जन-जीवन के अधिक-से-अधिक हिस्से पर कब्जा करने लगे। नतीजा यह हुआ कि राजतंत्र के समय से लोकतंत्र में जनता पर दंड का दखल बढ़ता गया यानी उसकी आजादी घटती गयी। अर्थात् उसकी आत्मा अधिक कुंठित और निर्दलित होने लगी।

आर्थिक क्रांति

जिस समय संसार में यह राजनैतिक क्रांति चल रही थी, ठीक उसी समय आर्थिक क्षेत्र में एक महान् क्रांति हुई। 'जेम्स वाट' द्वारा वाष्प-शक्ति के आविष्कार के साथ-साथ आर्थिक उत्पादन के तरीके में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। पहले दस्तकार अपने छोटे-छोटे औजार लेकर स्वतन्त्रता-पूर्वक जिन्दगी के साधन पैदा करते थे, उनका उपभोग करते थे और अतिरिक्त सामान स्वतन्त्र रूप से बेचकर अपनी दूसरी आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर लेते थे। उत्पादन की प्रक्रिया बदलकर केंद्रित हो जाने के कारण सारी जनता का आर्थिक-निःशस्त्रीकरण हो गया। वह अब स्वतंत्र रूप से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती थी। उसे

जिन्दा रहने के लिए अब पूर्ण रूप से कारखाने या पूँजीपति का भरोसा करना पड़ा। आर्थिक जिन्दगी पर कब्जा करने के कारण इन पूँजीपतियों ने स्वभावतः राजदंड पर भी अपना कब्जा जमा लिया। नतीजा यह हुआ कि एक ही हाथ में दंड-शक्ति और उत्पादन-शक्ति दोनों होने के कारण वे जनता का अधिक शोषण करने लगे। यह शोषण सिर्फ आत्मा तक ही मर्यादित न होकर शरीर का भी होने लगा; क्योंकि अपनी स्वतंत्रता से उत्पादन न कर सकने के कारण उत्पादक श्रमिकों को अपना श्रम कारखानेदारों के हाथ में बेचने पर मजबूर होना पड़ा। श्रमिकों की मजबूरी से पूँजीपति उसका नाजायज फायदा भी उठाने लगे।

इस तरह पूँजीवादी लोकतंत्र में जनता की हालत राजतंत्र से भी अधिक खराब हो गयी; क्योंकि राजतंत्र में जहाँ जनता की आत्मा ही कुंठित होती थी, वहाँ लोकतंत्र में जनता के शरीर और आत्मा, दोनों का शोषण होने लगा, सो भी पहले से अधिक पैमाने पर! इससे भी ऊब-कर मनुष्य ने बाद में जो क्रांति की, उससे उसकी आत्मा और अधिक कुंठित हो गयी। पहले जिस तरह राजाओं को हटाकर राजदंड को पार्लिया-मेंट के हाथ में डाल दिया, उसी तरह अब केवल राजदंड ही नहीं, बल्कि उत्पादन-यंत्र भी उसीके हाथ में सौंप दिया, जिसके हाथ में राजदंड था। जब दमन तथा उत्पादन के साधन एक ही गुट के हाथ में आ गये, तब उसके लिए जनता का पूर्ण रूप से निर्दलन करना आसान हो गया। दंड का दबाव जनता पर और अधिक हो गया।

दवा से मर्ज बढ़ा

कहावत है, 'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।' मनुष्य जैसे-जैसे आजादी की चेष्टा करता गया, वैसे-वैसे उसके गले में शासन का फंदा बढ़ता गया। कारण यह है कि यद्यपि मनुष्य ने इस चेष्टा में बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ कीं, भीषण आत्म-बलिदान भी किया, लेकिन उसने एक बुनियादी भूल की। उसने यह नहीं समझा कि उसके

सिर पर दंड गिरता है, दंड चलानेवाला नहीं। इस भूल के कारण उसने यह समझा कि उसको तकलीफ दंड चलानेवालों के कारण हो रही है, न कि दंड के कारण। इसीलिए उसने हमेशा चलानेवालों पर ही हमला किया और दंड को केवल सुरक्षित ही नहीं रखा, बल्कि वह उसका कलेवर बढ़ाता ही गया। गांधीजी ने मानव-समाज की दृष्टि इस बुनियादी भूल की ओर आकृष्ट की। उन्होंने बताया कि मनुष्य खुद दोषी नहीं होता, पद्धति ही किसी सुख या दुख का कारण होती है। अगर दंड के आघात से तकलीफ होती है, तो दंड को न हटाकर दंड चलानेवालों को बदलने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव अगर मनुष्य को शोषण-मुक्त होना है, तो उसे दुनिया में एक दण्ड-हीन यानी शासन-हीन समाज कायम करना होगा।

भूमिदान-आन्दोलन के सिलसिले में इस विचार की आवश्यकता दिन-दिन प्रकट होने लगी और अन्त में बोधगया में सर्वोदय-समाज का ध्येय शासन-मुक्त तथा शोषण-हीन यानी श्रेणी-हीन समाज घोषित किया गया। प्रस्तुत पुस्तिका में सर्वोदय विचारधारा के अनुसार शासन-मुक्त समाज के बारे में कुछ विवेचन किया गया है। यह सामान्य विचार है और इसका अधिकाधिक विकास वांछनीय है।

मैंने इस आशा से देश के शिक्षित समाज के सामने इसे पेश किया है कि वह इसे पढ़कर इस प्रश्न पर और अधिक ब्यौरेवार विचार करे। मुझे विश्वास है कि मेरी यह आशा पूरी होगी। पुस्तिका के अनुपात में प्रस्तावना कुछ अधिक विस्तृत हो गयी, किन्तु विषय के प्रतिपादन के लिए इतनी भूमिका जरूरी थी।

—धीरेन्द्र मजूमदार

अनुक्रम

शासन-मुक्त समाज की अनिवार्यता : १ :

बोधगया के सर्वोदय-सम्मेलन के अवसर पर अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ ने एक प्रस्ताव द्वारा यह एलान किया कि भूदान-यज्ञ-मूलक अहिंसक-क्रांति का ध्येय शासन-मुक्त तथा शोषण-हीन समाज की स्थापना है। तब से देश भर से तरह-तरह के सवाल पूछे जाते हैं। उनका आशय यह है कि आखिर इस शासन-मुक्त समाज का क्या रूप होगा? यह भी पूछा जाता है कि दुनिया में यदि शासन नहीं रहेगा, तो समाज की व्यवस्था कैसे चलेगी? क्या अव्यवस्था से उच्छृंखलता पैदा होकर वह मानव-समाज का नाश नहीं कर देगी? हाल ही में कुछ मित्रों ने मुझसे कहा कि अब तक तो हम समझते थे कि आप लोग गांधी के भक्त हैं, पर अब ऐसा जाहिर होने लगा है कि आप प्रच्छन्न कम्युनिस्ट हैं और उनकी तरफ से टट्टी की ओट में रहकर शिकार खेल रहे हैं तथा हिन्दुस्तान में सर्वोदय और गांधी के नाम से कम्युनिस्टों के सिद्धान्त फैला रहे हैं। इसी प्रकार के और दूसरे सवाल भी लोगों के मन में उठते रहते हैं।

यह आवश्यक है कि संघ के प्रस्ताव के इस हिस्से के बारे में विचार किया जाय।

सर्वोदय-समाज का उद्देश्य

यह तो प्रत्येक व्यक्ति मानता है कि सर्वोदय-समाज का उद्देश्य हिंसा-मुक्ति है। गांधीजी के अनुसार अहिंसा केवल परम-धर्म ही नहीं है, वह 'नित्य धर्म' भी है। वस्तुतः उनकी अहिंसा

साधक के लिए नित्य धर्म तक ही सीमित नहीं है, बल्कि व्यक्ति और समाज के लिए वही विशेष धर्म और आपद्धर्म भी है। अर्थात् अगर कभी समाज को किसी अन्याय के प्रतीकार में विद्रोह भी करना पड़े या दुनिया में कहीं कभी धर्मयुद्ध आवश्यक हो जाय, तो वह प्रतीकार और युद्ध भी अहिंसात्मक ही होना चाहिए। उनकी राय में किसी भी हालत में समाज में हिंसा को मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। अगर ऐसा अहिंसक समाज बनाना है, तो मानव-हृदय से हिंसा के सम्पूर्ण निराकरण की आवश्यकता है।

हिंसा-मुक्ति के लिए शासन-मुक्ति अनिवार्य

अब प्रश्न यह है कि यह हो कैसे ? आज तो मनुष्य के हृदय में नित्य हिंसा उत्पन्न होती रहती है। ऐसी परिस्थिति में समाज-शिक्षा और दीक्षा के द्वारा तथा अहिंसात्मक प्रक्रिया के प्रयोग और तदनुकूल सांस्कृतिक विकास के द्वारा अहिंसात्मक मनो-भावना पैदा करने की चाहे जितनी कोशिश की जाय, मानव-हृदय से हिंसा का निराकरण नहीं हो सकता। अतएव यह आव-श्यक है कि जिन प्रतिष्ठानों या संस्थाओं के कारण मनुष्य के भीतर हिंसा का उद्भव हुआ करता है, उनको विघटित किया जाय। शायद आज किसीको यह विशेष रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य के हृदय में हिंसा का प्रकोप शासन और शोषण—इन दो प्रतिष्ठानों के कारण ही हुआ करता है। शासन का आधार दंड-शक्ति है। समस्त मानव-समाज की मान्यता उसे प्राप्त होने पर भी शासन की शक्ति हिंसात्मक ही होती है। हिंसा का आघात मनुष्य पर निरन्तर होता है। स्वभावतः आघात से प्रतिघात पैदा होता है। इस प्रकार शासन-संस्था के फलस्वरूप मानव-हृदय में हिंसा-प्रतिहिंसा का घात-प्रतिघात अदृश्य रूप

से सदा चलता है। इस प्रक्रिया के चलते हिंसा का निराकरण कैसे हो सकेगा? स्पष्ट है कि यदि अहिंसक समाज की स्थापना के लिए हिंसा-मुक्ति आवश्यक है, तो शासन-मुक्ति भी अनिवार्य है।

सर्वोदय की क्रांति सर्जनात्मक है।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि शासन-मुक्त समाज का उद्देश्य सिद्ध होने पर क्या समाज में उद्दण्डता और उच्छृंखलता नहीं फैलेगी? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि लोग समझते हैं कि समाज की परिस्थिति आज जैसी है, वैसी ही बनी रहेगी और वह शासन-मुक्त भी हो जायगा। लेकिन ऐसा हो ही नहीं सकता। सर्वोदय की क्रांति सर्जनात्मक क्रांति है। वह केवल शासन पर ही आघात नहीं करती, बल्कि शासन की आवश्यकता का ही निराकरण करती है। अहिंसक प्रक्रिया में समाज का संगठन ही इस ढंग से करना होगा, जिससे शासन अनावश्यक हो जाय। पहले यूरोप के अराजकतावादी इस बात को नहीं समझते थे, इसलिए वे शासन पर प्रत्यक्ष आघात करने की बात करते थे। उसके फलस्वरूप उच्छृंखलता पैदा होना स्वाभाविक था। आज जब हम शासन-मुक्ति की बात करते हैं, तो लोग उन्हीं पुरानी बातों को याद कर घबरा जाते हैं।

इतिहास के तीन युग

यह घबराहट केवल 'अराजकता' शब्द के कारण नहीं, बल्कि आज के प्रचलित 'शासन-हीन' शब्द के कारण भी है। अतः यह आवश्यक है कि 'शासन-हीन समाज' और 'शासन-मुक्त समाज' की भिन्नता को समझ लिया जाय।

इसे समझने के लिए मानव-इतिहास के तीन युगों की कल्पना की जा सकती है :

१. शासनहीनता यानी उच्छृंखलता का युग,
२. शासन-युक्त समाज का युग,
३. शासन-मुक्त यानी स्वावलम्बन का युग।

सबसे पहले शासनहीनता का युग आता है। उसमें उच्छृंखलता रहती है। उसके बाद शासन-हीन समाज को व्यवस्थित करने के लिए शासन-पद्धति का आविष्कार होता है और उसके संघटन का अर्थात् शासनयुक्त समाज का युग आता है।

हम जब शासन-हीन समाज की बात करते हैं तब मानव-इतिहास के आदिम युग में लौट जाने की बात करते हैं। लेकिन शासन-मुक्त समाज से हम स्वतंत्र जनशक्ति का संघटन कर शासन-पद्धति की आवश्यकता को विघटित करना तथा स्वयं-प्रेरित स्वावलम्बी समाज का अधिष्ठान करना चाहते हैं।

इसमें स्वतंत्र जनशक्ति की प्रेरणा से एक निश्चित प्रकार के समाज के सृजन की कल्पना है, न कि जो मौजूद है उसके विघटन मात्र की। यही कारण है कि हम यह नहीं कहते हैं कि अमुक प्रकार की परिस्थिति के कारण राज्य अपने आप सूख करके मर जायगा, बल्कि हम यह कहते हैं कि जनशक्ति अपने संघटन और सक्रिय चेष्टा द्वारा शासन के नागपाश से अपने को मुक्त कर लेगी।

इतिहास के दो उदाहरणों से इस बात को अच्छी तरह समझा जा सकेगा। (१) रोमन साम्राज्य द्वारा इंग्लैण्ड पर अपने आप कब्जा छोड़ देना, (२) अमेरिका की जनता द्वारा अंग्रेजी कब्जे से अपने आपको मुक्त कर लेना।

शासन-मुक्त समाज का रूप

दरअसल सम्पूर्ण शासन-मुक्ति की स्थिति एक आदर्श स्थिति है। मनुष्य को उसकी प्राप्ति तभी होगी, जब वह विकास की आदर्श अवस्था को पहुँच जायगा। जाहिर है कि ऐसी स्थिति अन्तिम स्थिति होगी और अन्तिम स्थिति की प्राप्ति तो अनन्त के अन्त में ही होती है। यही कारण है कि गांधीजी कहते थे कि आदर्श स्थिति रेखागणित की परिभाषा के बिन्दु जैसी है। उसकी कल्पना की जा सकती है, लेकिन आकृति दिखाई नहीं देती। अतः जो प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला समाज होगा, उसका आधार-बिन्दु तो सम्पूर्ण शासन-मुक्ति का आदर्श होगा। फिर भी प्रत्यक्ष आकृति में उसका स्वरूप शासन-निरपेक्ष समाज का होगा। अर्थात् शासन का कुछ अवशेष तो उस समाज में रह जायगा, लेकिन मनुष्य के नित्य जीवन में उसका असर नहीं रहेगा। दैनिक समस्याओं के समाधान, नित्य आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आन्तरिक व्यवस्था के लिए शासन की अपेक्षा नहीं रहेगी। समाज के संतुलन के लिए इतना अवशिष्ट शासन समाज के संतुलन के लिए आवश्यक भी होगा। समाज की इकाइयाँ चाहे जितनी स्वयंपूर्ण क्यों न हों, उन्हें एकसूत्र में पिरोने के लिए उस महीन धागे की आवश्यकता रहेगी। अवशिष्ट शासन वह अदृश्य महीन धागा होगा, लेकिन धागे से अधिक उसका काम नहीं होगा। फूलों की वह माला सुन्दर मानी जाती है जिसमें धागा दिखाई नहीं देता। उसी तरह जिस समाज के जीवन में शासन के अस्तित्व का भान नहीं होता, वह शासन-निरपेक्ष समाज है।

ऐसे शासन-निरपेक्ष समाज की ओर कदम बढ़ाने का मार्ग

कौन-सा है, उसके लिए किस प्रकार की क्रान्ति जरूरी है, इस प्रश्न की चर्चा आगे करेंगे।

शासन-मुक्त समाज की भूमिका : २ :

पिछले लेख में अहिंसक समाज के लिए शासन-मुक्त समाज की अनिवार्यता पर चर्चा की गयी थी। वस्तुतः शासन-मुक्त या शासन-रहित समाज की कल्पना गांधीजी से पहले अराजकतावादियों के अलावा मार्क्सवादियों ने भी व्यवस्थित रूप से की थी। मार्क्स की कल्पना के अनुसार कम्युनिस्ट दल के लोग अपने दर्शन में इसका एक मूल तत्त्व के रूप में ही प्रचार करते और शासन-हीन तथा श्रेणी-हीन समाज का नारा बराबर बुलन्द करते रहते हैं। यही कारण है कि हम भी जब शासन-मुक्ति की बात करते हैं, तो बहुत से मित्रों को यह भ्रम होता है कि हम भी कहीं कम्युनिस्टों की प्रक्रिया को ही तो नहीं दुहरा रहे हैं। इसी कारण दूसरे कई लोगों को यह भी भ्रम होता है कि कम्युनिज्म से हिंसा निकाल देने से सर्वोदय हो जाता है।

उल्टी तरकीब

अतः यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर सर्वोदय के विचार को तुलनात्मक दृष्टि से समझ लें। हमने पहले ही कहा है कि समाज शासन-मुक्त तब तक नहीं हो सकता, जब तक मनुष्य को शासन की आवश्यकता रहेगी। आखिर जब तक किसी चीज की आवश्यकता रहती है, तब तक मनुष्य उस चीज से मुक्ति पाने की चेष्टा ही नहीं करता। इस बुनियादी सिद्धान्त की दृष्टि से ही कम्युनिज्म की भूमिका में दोष दिखाई देता है। वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए रूढ़ सत्ता हस्तगत करना अनिवार्य मानते हैं; क्योंकि उनकी राय में समाज को किसी नतीजे तक पहुँचाने के

लिए शासन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। इस विचार को देखने से "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" वाली कहावत याद आती है। अगर शासन-हीन समाज स्थापित करने की क्रान्ति के लिए प्रथम से ही शासन की अनिवार्यता महसूस होती है, तो शासन के बिना सम्पूर्ण समाज का संचालन हो जायगा, ऐसी आशा किस बुनियाद पर की जाती है? समाज की समस्याओं के समाधान के लिए अगर शासन की आवश्यकता है, तो समाज की सुनियन्त्रित व्यवस्था के लिए उसकी आवश्यकता और भी अधिक रहेगी। तो वस्तुतः शासनहीन समाज तभी हो सकता है, जब स्वतंत्र तथा स्वावलम्बी लोक-शक्ति सहकार के आधार पर समाज-व्यवस्था कायम करके समाज से संचालन को ही विघटित कर सके। अर्थात् संचालित समाज के स्थान पर सहकारी समाज स्थापित हो सके।

वैज्ञानिक भ्रम

कम्युनिस्ट ऐसा करने के बदले शासन-हीन समाज की स्थापना के उद्देश्य से प्रतिदिन शासन को अधिकाधिक व्यापक और दृढ़ करते जा रहे हैं। शासितों के हाथ में जब शासन रहेगा, तो उसके परिणामस्वरूप शासन का अन्त हो जायगा। कम्युनिस्ट इसे वैज्ञानिक दृष्टि मानते हैं। सम्भवतः वे इसलिए ऐसा मानते होंगे कि विज्ञान का एक सूत्र यह भी है कि 'जब किसी वस्तु का पूर्ण विकास हो जाता है, तब उसकी मृत्यु हो जाती है।' लेकिन वे भूल जाते हैं कि ऐसा वैज्ञानिक या दार्शनिक आदर्श आखिरी मंजिल होती है, जैसा कि मैंने पहले लेख में बतलाया ही है। ऐसी आदर्श अवस्था में अन्तिम स्थिति होती है, जिसे अनन्त अन्त में ही प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् वह रेखागणित की परिभाषा के बिन्दु के समान है।

अतएव अगर इस आशा से कि अंत में जाकर समाज शासन-शून्य हो जायगा, हम शासन को लगातार अधिक संगठित करते चलें, तो यह आशा कभी पूरी नहीं हो सकती। यह कल्पना वास्तविक नहीं होती, स्वप्नवत् ही रहती है।

युद्ध-प्रगति का चक्कर

वैसे तो बम्बई से कलकत्ता जाने के लिए कोई यह भी कह सकता है कि हम पश्चिम की ओर चलते-चलते अंत में कलकत्ता पहुँचेंगे ही। भौगोलिक वस्तुस्थिति के अनुसार इस प्रकार के चिन्तन में कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि पृथ्वी गोल है। लेकिन कोई भी व्यावहारिक दृष्टिवाला चतुर व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा; क्योंकि पता नहीं इस तरह किस काल के अंत में कलकत्ता पहुँचेंगे। चलने की प्रक्रिया में हर कदम के साथ वह कलकत्ते से दूर ही होता जायगा। वही हालत यहाँ भी होगी। वैसे तो पूर्णत्व-प्राप्ति का नतीजा पंचतत्त्व-प्राप्ति में होता है, यह सिद्धान्त भी सही नहीं है। लेकिन उसे सही मान लें, तो भी शासन-मुक्ति के उद्देश्य से शासन-संगठन की प्रक्रिया को अपनाने पर मनुष्य प्रगति के हर कदम के साथ शासनहीनता की स्थिति से दूर ही हटता जायगा; और आदर्श अवस्था तो अन्तिम स्थिति है। इस कारण दूर हटने की यह युद्ध-प्रगति अनन्तकाल तक चलती रहेगी।

मुआफिक तरीका ही क्यों ?

यही कारण है कि गांधीजी साध्य और साधन की एकरूपता पर इतना अधिक जोर देते थे। गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि विरोधी साधन के द्वारा साध्य की ओर प्रगति असम्भव है। इसलिए शासन-मुक्ति की प्राप्ति के लिए

शासन-निरपेक्ष स्वतंत्र जनशक्ति के संगठन द्वारा शासन की आवश्यकता का विघटन सर्वोदय की साधना रही है। यही कारण है कि विनोबाजी देश की मूल समस्या, यानी भूमि-समस्या के समाधान की चेष्टा कानून के भरोसे न करके स्वतंत्र लोक-शक्ति के भरोसे करते हैं। उनका कहना है कि उनका साधन हिंसा-शक्ति का विरोधी, दण्ड-शक्ति से भिन्न, लोक-शक्ति है।

इस सर्वोदय की क्रान्ति की प्रक्रिया से, जन-शक्ति के संगठन द्वारा शासन-संस्था का विघटन होता जाता है और उसकी प्रगति के साथ-साथ जन-स्वतंत्रता तथा शासन-हीनता की सिद्धि की ओर प्रगति होती रहती है। यह प्रगति जिस हद तक होती है; उस हद तक मानव शासन से मुक्त हो जाता है।

लोक-शक्ति का संगठन ! ३ !

सर्वोदय की दृष्टि से शासन-मुक्त समाज की भूमिका क्या है, इस पर हम चर्चा कर चुके हैं। वस्तुतः इस दृष्टि को स्पष्टता के साथ समझ लेने पर आज लोगों की जो बहुत-सी परेशानियाँ हैं, वे समाप्त हो जायँगी। फिर लोग हमसे यह नहीं पूछेंगे कि भूमिदान की उद्देश्य-सिद्धि के लिए हम कानून के इस्तेमाल का आग्रह क्यों नहीं करते? यहीं पर गांधीजी के सिद्धान्त को समझ लेना चाहिए। उन्होंने हमेशा कहा है कि जिस प्रकार का साध्य होगा, साधन भी उसीके अनुरूप होना चाहिए। वस्तुतः क्रान्ति के इतिहास में साधन-शुद्धि का तत्त्व गांधीजी की एक बहुत बड़ी देन है। अगर साध्य शासन-निरपेक्ष या दण्ड-निरपेक्ष समाज स्थापित करना है, तो उसकी प्राप्ति के लिए जो भी साधन इस्तेमाल करना है, उसे भी शासन-निरपेक्ष या दण्ड-निरपेक्ष ही होना चाहिए। यही कारण है कि विनोबाजी सर्वोदय

की सिद्धि के लिए स्वतन्त्र लोक-शक्ति के प्रयोग पर ही जोर देते हैं।

एक अवैज्ञानिक सिद्धान्त

आज के बहुत-से राजनीतिक विचारक इस बुनियादी सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कहना है कि इस जमाने की राज्य-संस्थाएँ इतनी अधिक शक्तिशाली और सर्वाधिकारी हो चुकी हैं कि स्वतन्त्र लोक-शक्ति का कोई भी प्रयास टिक नहीं सकता, क्योंकि ऐसे प्रयास की शुरुआत में ही उसे दबा देने की शक्ति राज्य के अन्दर रहती है। अतएव उनकी राय है कि अगर सचमुच जनतन्त्र की स्थापना करके शासन-मुक्ति की ओर बढ़ना है, तो पहले राज्य-तन्त्र को हस्तगत कर उसीके द्वारा उद्देश्य-सिद्धि की ओर बढ़ा जा सकता है। लेकिन क्या ऐसा हो सकता है? आखिर मानव-समाज को शासन-मुक्ति की बात सूझी क्यों? इसीलिए न कि जमाने ने देख लिया कि शासन की दमन-शक्ति आज मानव को ही दबाकर मार रही है और अपनी इस शक्ति को कायम रखने के लिए वह तन्त्र मानव का निरन्तर शोषण करता रहता है? अर्थात् आज राज्य-संस्था का स्वरूप ही निर्दलन तथा शोषण का बन गया है। ऐसे यन्त्र द्वारा शोषण तथा निर्दलन को निर्मूल कर स्वतन्त्र तथा स्वावलम्बी समाज नहीं बनाया जा सकता। जो भी मनुष्य या दल इस यन्त्र को हस्तगत करेगा, उसे उसको चलाना ही पड़ेगा। वह उसे तोड़ नहीं सकता। इसमें मनुष्य तथा यन्त्र का स्वरूप ही बाधक साबित होगा। मनुष्य के अन्दर अधिकार-प्राप्ति के बाद उसे कायम रखने की सहज प्रवृत्ति होती है और अगर संयोग से कोई महान् तपस्वी इस प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर, स्थितप्रज्ञ होकर, राज्य-विघटन की चेष्टा भी करे, तो राज्य-रूपी

यंत्र आत्मरक्षा की चेष्टा में उस व्यक्ति का सारा प्रयास निष्फल कर देगा। वस्तुतः राज्य द्वारा राज्य का विघटन ही एक अवैज्ञानिक कल्पना है; क्योंकि वह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है। प्रकृति का नियम आत्मरक्षा है, आत्महत्या नहीं। इसीलिए बहुत-से मनीषी कहने लगे हैं कि राज्य-संस्था की निरन्तर चेष्टा अपने को संगठित करने की ओर रहती है। अतएव सर्वोदय की विचार-क्रान्ति को माननेवाले के लिए स्वतंत्र जन-शक्ति संगठित कर तथा जनता के विचार और विवेक पर असर डालकर पुराने मूल्यों में परिवर्तन करना होगा। दरअसल अगर आज की राज्य-संस्था अत्यधिक शक्तिशाली और सर्वाधिकारी हो गयी है, तो यही सबसे बड़ी दलील है कि उसका मुकाबला करने के लिए उसी शक्ति के भरोसे न रहकर स्वतन्त्र जनशक्ति संगठित कर, उसके द्वारा राज्य-शक्ति का विनाश किया जाय।

लोक-शक्ति का राज्य पर प्रभाव

यह बात दूसरी है कि ऐसे स्वतन्त्र लोक-शक्ति के संगठन तथा प्रदर्शन के कारण राज्य को झुकना पड़े और वह जनता के उद्देश्य के अनुकूल कानून बनाये और वे कानून जन-शक्ति के संगठन में सहायक हों। लेकिन, ऐसी परिस्थिति का मतलब यह नहीं है कि जन-शक्ति राज्य-शक्ति के भरोसे संगठित हो रही है, बल्कि इसका मतलब यह है कि वह शक्ति राज्य की ताकत पर हावी होकर उसे विघटन की ओर ले जा रही है।

सर्वाधिकारी राज्य-व्यवस्थाएँ : ४ :

लोभ या शोषण-वृत्ति से हिंसा पैदा होती है। आज शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिलेगा जिसे इस तत्त्व को समझाने की आवश्यकता है। दार्शनिक तथा तात्त्विक आधार को छोड़ भी

दं, तो समाज के नित्य-व्यवहार से इस बात की सत्यता प्रकट हो जाती है। अगर कोई व्यक्ति किसीका शोषण करना चाहता है, तो उसमें हिंसा की प्रवृत्ति ऊपर से दिखाई नहीं देती, लेकिन जैसे ही शोषण के रास्ते में बाधा पड़ती है वैसे ही हिंसा एकदम स्थूल रूप में प्रकट हो जाती है।

वस्तुतः मनुष्य-समाज ने शासन-संस्था का आविष्कार, शोषण के कारण जिस विराट् हिंसा का जन्म होता है, उसको मर्यादित करने के लिए किया था। लेकिन बाद को यही संस्था सबसे बड़ी शोषण-संस्था साबित हुई। आज संसार की जितनी राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, यदि उनका विश्लेषण किया जाय, तो उपर्युक्त बात की सत्यता प्रतीत हो जायगी।

राज्य-व्यवस्थाओं की सत्यता

दुनिया में जितनी राज्य-व्यवस्थाएँ हैं, उन्हें देखने से स्पष्ट मालूम हो जायगा कि उनका स्वरूप निश्चित रूप से सर्वाधिकारी (Totalitarian) है। सर्वाधिकारी राज्य का मतलब ही है कि जनता के जीवन के हर पहलू पर राज्य का कब्जा स्थापित करना तथा समाज की हरएक समस्या का समाधान राज्य-व्यवस्था के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से करना। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि देश में एक बहुत विराट् फौज खड़ी की जाय जो केवल व्यवस्था ही करती रहे और समाज में उसकी स्थिति अनुत्पादक उपभोक्ता के रूप में ही हो। समाज में जिस अनुपात में अनुत्पादक उपभोक्ताओं की वृद्धि होगी, उसी अनुपात से उत्पादक को अपने उत्पादन के उपभोग से वंचित होना पड़ेगा; अर्थात् उनका शोषण होता रहेगा।

पार्लियामेंटरीवादी राज्य-व्यवस्था

कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि अधिनायकवादी और

साम्यवादी राज्य-व्यवस्था के बारे में तो यह बात समझ में आती है, लेकिन पार्लियामेंटवादी राज्य-व्यवस्था को भी सर्वाधिकारी कैसे कहा जा सकता है ? ऊपर से देखने में शायद ऐसा नहीं लगेगा। लेकिन गहराई से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि पार्लियामेण्टवादी राज्य भी आज सर्वाधिकारी राज्य हो गया है या तेजी से उस ओर बढ़ रहा है। पार्लियामेण्टरी राज्यवाद का इतिहास ही उसे सर्वाधिकार की ओर ले जा रहा है।

मनुष्य ने किन्हीं कारणों से राज्यतन्त्रों को समाप्त करना चाहा और उसने ऐसा किया भी, लेकिन उसे राजाओं के हाथ में जो काम था, उसकी, यानी समाज के संचालन के लिए एक ऊपरी एजेन्सी की आवश्यकता थी। उस आवश्यकता की पूर्ति में उसने पार्लियामेण्टवाद की सृष्टि की। अर्थात् जनता ने समाज-व्यवस्था का ढाँचा पूर्ववत् कायम रखकर राजा के स्थान पर अपने प्रतिनिधि को नियुक्त किया। स्वभावतः राजा की अपेक्षा अपने प्रतिनिधि से उसकी आशा अधिक थी। उसकी आशा यह हुई कि राजा समाज के जितने अंश की देखभाल करता था, हमारा आदमी होने के कारण वह अधिक हिस्से की देखभाल किया करेगा।

अधिकार की वृत्ति

दूसरी ओर प्रतिनिधि के हाथ में जब अधिकार आया, तो स्वभावतः उसकी प्रवृत्ति अपना अधिकार बढ़ाने की ओर रही। मनुष्य का स्वाभाविक झुकाव ऐसा ही रहता है। फलतः एक ओर से जनता की अपेक्षा और दूसरी ओर से प्रतिनिधि की आकांक्षा राज्य के दायरे को निरन्तर बढ़ाती रही और आज संसार में लोग पार्लियामेण्टरी लोकतन्त्र का मतलब जन-कल्याणकारी राज्यवाद (Welfare Statism) ही मानने लगे।

फलस्वरूप अगर किसी देश में कहीं कोई भूखा रहता है या कहीं कोई बेकार रहता है, तो उसके लिए राज्य ही जिम्मेदार है, ऐसा माना जाता है। अगर राज्य उस जिम्मेदारी को पूरा करने में असमर्थ रहता है तो जनता की ओर से झंडा लेकर जुलूस निकाला जाता है और साथ-साथ यह नारा लगता है कि "रोटी-रोजी दो, नहीं तो गद्दी छोड़ दो।" इसका क्या मतलब है ? अगर एक भी व्यक्ति के भूखा रहने के लिए राज्य जिम्मेदार है तो उस राज्य को इस नियंत्रण का भी अधिकार देना पड़ेगा कि कोई भी व्यक्ति अपनी पाचनशक्ति से अधिक एक दाना भी न खाने पाये। अर्थात् अगर जनता के सर्वकल्याण की जिम्मेदारी राज्य को लेनी है, तो उस जिम्मेदारी को पूरी तौर से निभाने के लिए, उस देश के जीवन-सर्वस्व पर अधिकार उसे देना होगा। इसीको 'सर्वाधिकारी राज्यवाद' कहते हैं। वस्तुतः लोकशाही के नाम से जितने राज्य चल रहे हैं, वे (Welfare State) नारे की आड़ में सर्वाधिकारी होते जा रहे हैं।

हिंसा की उत्पत्ति

अतएव आज के शासन का स्वरूप इतना विराट् हो गया है कि उसीको खिलाने में जनता द्वारा उत्पादन का अधिकांश भाग निकल जाता है और वह जनता दाने-दाने को मुहताज रहती है। आज लोग पूँजीपतियों द्वारा शोषण की रट लगाते हैं। वे इसका खयाल नहीं करते कि यह बात पुरानी हो गयी। आज तो इंग्लैंड और अमेरिका जैसे पूँजीवादी मुल्कों में भी पूँजीपतियों के मुनाफे का नब्बे प्रतिशत तक राज्य अपने खर्च के लिए टैक्स के रूप में ले लेता है।

इस प्रकार शासन के कारण समाज का जो दमन होता है उसीसे केवल हिंसा की उत्पत्ति होती है, ऐसी बात नहीं,

बल्कि जनता की श्रम-शक्ति का शोषण भी राज्य के कारण होता है। यही कारण है कि हम हिंसा-मुक्ति के लिए शासन-मुक्ति आवश्यक मानते हैं।

लेकिन आज तो शासन इतना व्यापक हो गया है कि उसने अपनी परिधि में सारे मानव-समाज को ही घेर लिया है। ऐसी हालत में शासन-मुक्ति का काम किस छोर से शुरू किया जाय, यह प्रश्न आज एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी के लिए मुख्य प्रश्न होता है। इस व्यावहारिक प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे।

वैधानिक के बदले प्रत्यक्ष लोकशाही : ५ :

किसी चीज को विघटित करने के लिए यह आवश्यक है कि जिन शक्तियों द्वारा वह विघटित होगी, उन शक्तियों की पकड़ में वह चीज आ जाय। इसलिए पहले राज्य पर जनता का प्रत्यक्ष नियंत्रण हो, यह आवश्यक है। अर्थात् शासन-संस्था के विघटन के लिए यह जरूरी है कि पहले दुनिया में जो वैधानिक लोकतंत्र चल रहा है, उसके स्थान पर प्रत्यक्ष लोकशाही की स्थापना हो।

लोकशाही के अंतर

वैधानिक लोकशाही और प्रत्यक्ष लोकशाही में क्या अंतर है, उसे समझ लेना चाहिए। इस बारे में गांधीजी ने हमें स्पष्ट सूत्र दे रखा है। बालिग-मताधिकार की बुनियाद पर चुनाव के फलस्वरूप कुछ लोगों को अधिकार प्राप्त हो जाने से वैधानिक लोकतंत्र की स्थापना हो जाती है। लेकिन गांधीजी ने हमें बताया है कि इतने मात्र से ही वास्तविक लोकतंत्र नहीं होता है। उन्होंने कहा है : "कुछ लोगों को अधिकार प्राप्त हो जाने मात्र से ही स्वराज्य नहीं होता; बल्कि अधिकार का दुरुपयोग

होने पर प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिकार करने की शक्ति जब आती है, तब वास्तविक स्वराज्य होता है।" अतः वास्तविक लोकशाही की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि जनता का प्रत्येक व्यक्ति जरूरत होने पर अहिंसक प्रतिरोध की योग्यता और अनुकूलता प्राप्त करे। यह तभी हो सकता है, जब जनता की जान अधिकारी के चंगुल से बाहर हो; क्योंकि कहावत मशहूर है—"जिसके हाथ में जान, उसके हाथ में आन।"

पूँजी और जनता

आज संसार की जनता की जान पूँजी के आश्रित हो गयी है; क्योंकि जीवन-धारण के सारे उपादान केन्द्रीय पूँजीवादी अर्थ-तंत्र के नीचे दब गये हैं। अतः जब सारी जनता की जान पूँजी की मुट्ठी में बन्द है, तब स्वभावतः जिसके हाथ में पूँजी होगी, उसीके हाथ में जनता की जान होगी। आज संसार में जितने प्रकार की समाज-रचनाएँ मौजूद हैं, उनमें कहीं राज्य के हाथ में पूँजी और कहीं पूँजी के हाथ में राज्य—ऐसा सिलसिला चलत है। वस्तुतः दोनों स्थितियों में कोई अंतर नहीं है, अर्थात् दुनिया में सर्वत्र स्थिति यह है कि अधिकारी के हाथ में पूँजी और पूँजी के हाथ में जनता का प्राण।

ऐसी हालत में अगर जनता का स्वतंत्र अस्तित्व कायम करना है, तो पहले आर्थिक क्रान्ति द्वारा सामाजिक पद्धति को परिवर्तित करने की आवश्यकता है। याने, आज जो पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था चल रही है, उसको बदलकर श्रमवादी उत्पादन-पद्धति की स्थापना करनी है। इसलिए उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन पूँजी के हाथ से निकालकर श्रम के हाथ में सौंपने की आवश्यकता है। यही कारण है कि गांधीजी हमेशा चरखे को अहिंसा

का प्रतीक कहते थे; क्योंकि हिंसा से मुक्ति पाने के लिए शासन-मुक्ति आवश्यक है तथा शासन-मुक्ति के लिए पूँजी से मुक्ति पाना अनिवार्य है और चरखा पूँजी-मुक्ति का साधन है।

पूँजीवाद और मार्क्सवाद

जो लोग महात्मा मार्क्स के अनुयायी हैं, उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने इस मूल तत्त्व को मानव-समाज के सामने रखा कि आज का स्वरूप उत्पादन की प्रक्रिया के स्वरूप पर निर्भर करता है और उत्पादन की प्रक्रिया उसके साधन के स्वरूप पर निर्भर करती है। लेकिन उसके अनुयायी जल्दी से कुछ कर डालने के मोह में इस मूल तत्त्व को ही भूल गये और पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में जिस प्रकार के साधन इस्तेमाल किये जाते हैं उन्हें वैसे-के-वैसे इस्तेमाल करने लगे और फल-स्वरूप उनके तरीके भी ज्यों-के-त्यों बने रहे। उन्होंने उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन में कोई परिवर्तन नहीं किया, परिवर्तन केवल उत्पादन के उद्देश्य में किया। जहाँ पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य मुनाफे के लिए था, वहाँ मार्क्सवादियों का उद्देश्य सामाजिक आवश्यकता के लिए हो गया। लेकिन चूँकि उत्पादन की प्रक्रिया और साधन में परिवर्तन नहीं हुआ, इसलिए समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन नहीं हुआ। अर्थात् दोनों ही सर्वाधिकारी बन गये। एक फैसिज्म के रूप में और दूसरा कम्युनिज्म के रूप में। वास्तविक लोकतंत्र किसी भी पद्धति में कायम नहीं हो सका। वस्तुतः गांधीजी का चरखा उत्पादन की प्रक्रिया तथा साधन में आमूल परिवर्तन की दिशा में एक सक्रिय तथा रचनात्मक प्रयास था।

भूमिदान-यज्ञ का महत्त्व

विनोबाजी भी इसी कारण से भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन को अहिंसक क्रान्ति की बुनियाद मानते हैं, क्योंकि उत्पादन का मूल साधन भूमि है। इसलिए यदि पूँजीवाद के बदले में श्रम-वाद की स्थापना करनी हो, तो सबसे पहले भूमि को पूँजी के हाथ से निकालकर श्रम के हाथ में अर्पित करने की आवश्यकता है। फिर केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार तथा सम्पत्तिदान-यज्ञ द्वारा वे बाकी क्षेत्रों से भी पूँजी के निराकरण की कोशिश करेंगे।

इस प्रकार भूमिदान-यज्ञ से आरम्भ कर, आर्थिक क्रान्ति के साथ-साथ शासन-विघटन की राजनैतिक क्रान्ति की ओर बढ़ना होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें क्रमशः निम्न प्रकार के कार्यक्रम चलाने होंगे।

यज्ञ का मूल स्रोत

भूमि-प्राप्ति, भूमि-वितरण तथा उसके सिलसिले में केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार, साधन तथा सम्पत्तिदान-यज्ञ, ग्रामोद्योग की स्थापना, कृषि-संवर्धन आदि कार्यक्रम के लिए गाँव-गाँव में ग्रामीण जनता का संगठन खड़ा करना होगा। जिस समय देहात की जनता को यह भरोसा हो जायगा कि सरकार की अनेक जिम्मेदारियों में से कुछ जिम्मेदारी वे स्वावलंबी नेतृत्व तथा व्यवस्था से चला सकेंगे, तब वे सत्तादान-यज्ञ का सूत्रपात करेंगे। उस समय वे इसकी सूची तैयार करेंगे कि राज्य के किन-किन विभागों को वे खुद सम्हाल सकेंगे, और राज्य से अपने लिए उन विभागों का दान माँगेंगे। जिस तरह आज भूमिवान तथा सम्पत्तिवान इस यज्ञ में अपनी भूमि तथा सम्पत्ति की आहुति अर्पित कर रहे हैं, उसी तरह उस समय सत्तावान अपनी

सत्ता का अमुक हिस्सा इस यज्ञ में अर्पित करेंगे. और उस अनुपात में जनता को कर-मुक्त भी करेंगे।

इस तरह भूदान-यज्ञ-मूलक, ग्रामोद्योग-प्रधान, अहिंसक क्रान्ति द्वारा, आर्थिक तथा राजनैतिक क्रान्ति के मार्ग पर शासन-मुक्त समाज की ओर निश्चित कदम बढ़ाने होंगे।

राजतंत्र का स्वरूप : ६ :

व्यावहारिक व्यक्ति कहेंगे कि शासन-मुक्ति की स्थिति तो कल्पना की चीज है। उसे तो दार्शनिक ही समझ सकते हैं। मानव-समाज को क्या कभी उसका प्रत्यक्ष स्वरूप देखने को मिलेगा?

हमने पहले ही कहा है कि हमारे लिए शासन-मुक्त समाज का व्यावहारिक रूप, शासन-निरपेक्ष-समाज है। स्वभावतः शासन-निरपेक्ष समाज के ढाँचे में अवशिष्ट शासन का अस्तित्व रह ही जाता है। इस अवशेष का स्वरूप कैसा हो, हमें इसका विचार करना होगा।

इसके लिए मौजूदा राजतंत्र का ढाँचा उलट देना होगा। आज राजनीति का स्वरूप 'ऊर्ध्वमूलमधःशाख' का है। अर्थात् प्रेरक कर्तृत्व राष्ट्रीय-केन्द्र से शुरू होता है और वह ग्राम-केन्द्र की ओर क्रमशः बढ़ता है। इसको बदलकर हमें प्रेरक कर्तृत्व, बुनियादी जनता, याने ग्राम-केन्द्र के हाथ में रखना होगा, और सहायक या पूरक व्यवस्था को क्रमशः ऊपर की ओर ले जाना होगा; अर्थात् समाज-व्यवस्था संचालित न होकर सहकारी होगी। ऐसी हालत में संविधान सभा की बैठक देहली में नहीं

होगी। उसकी बैठक गाँव-गाँव में होगी और गाँववाले निर्णय करेंगे कि व्यवस्था तथा उत्पादन की कितनी जिम्मेदारी वे गाँव की सामूहिक शक्ति से निभायेंगे। अवशिष्ट जिम्मेदारियों में से आवश्यकता के अनुसार क्रमशः जिला, राज्य या केन्द्र के ऊपर भार सौंपेंगे और उनके लिए प्रतिनिधि भेजने की पद्धति निश्चित करेंगे।

इस प्रकार, ग्राम-व्यवस्था, जिला-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, राष्ट्र-व्यवस्था तथा अंतर्राष्ट्रीय-व्यवस्था के रूप का विकास—जीवन की बुनियाद गाँव से शुरू होकर—अखिल-विश्व-परिवार होगा। और इस वृक्ष का आकार जैसे-जैसे ऊपर की ओर बढ़ेगा, वैसे-वैसे पतला होता जायगा। और अन्त में सूक्ष्म बिंदु के रूप में अवशिष्ट रहेगा।

पद्धतियों का फर्क

यह व्यवस्था प्रतिनिधिमूलक तो होगी, लेकिन प्रतिनिधि गाँव से जिला, जिले से राज्य, राज्य से राष्ट्र और राष्ट्र से अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र को भेजे जायेंगे। चालू प्रत्यक्ष चुनाव-पद्धति माननेवालों को यह व्यवस्था अजीब मालूम होगी। उनको शायद यह अवैज्ञानिक भी मालूम हो। लेकिन गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि लोकतंत्र के सिद्धान्त के अनुसार जब समाज-व्यवस्था का प्रथम प्रेरक निर्णय ग्राम-समाज के हाथ में होगा, तब उसी पर नागरिक का प्रत्यक्ष अधिकार होना चाहिए। उसी संस्था में प्रत्यक्ष-प्रतिनिधित्व होगा। उसके बाद की व्यवस्था तो ग्राम-पंचायत द्वारा की गयी व्यवस्था है। इसलिए पंचायत तक का प्रतिनिधित्व काफी है, क्योंकि नव-व्यवस्था में ग्राम-पंचायत नागरिक के प्रति जिम्मेदार होती है। फिर जिला

सभा, पंचायत के प्रांत, राज्य-सभा, जिला-सभा के प्रति; तथा राष्ट्र-सभा, राज्य-सभा के प्रति जिम्मेदार होती है। सिद्धान्त यह है कि जो संस्था, जिसके प्रति जिम्मेदार होगी, उस संस्था में उसीका प्रतिनिधित्व होना चाहिए। आज जो प्रथा चल रही है उसमें चूँकि प्रथम प्रेरक निर्णय राष्ट्र-केन्द्र की ओर से लिया जाता है, इसलिए केन्द्र-सभा को मूल नागरिक का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि बनना ही पड़ता है। इसलिए प्रत्यक्ष चुनाव-पद्धति अनिवार्य हो जाती है। अतः पुरानी तथा नयी पद्धति के इस मौलिक फर्क को समझ लेना चाहिए।

राजनीति और लोकनीति

इस प्रकार राजनीति विकेन्द्रित होकर जब लोकनीति में परिणत होगी; और पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर श्रमवादी उत्पादन-पद्धति की स्थापना हो जायगी, तब मनुष्य-स्वभाव में से हिंसावृत्ति का निराकरण संभव हो सकेगा। हिंसा-मुक्ति तथा सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ सहकार-वृत्ति का विकास स्वाभाविक है। जैसे सहकारी मनुष्य-समाज के लिए हर प्रश्न पर सामूहिक रूप से निर्विरोध निर्णय करना केवल संभव ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक भी होगा, क्योंकि पूर्ण रूप से सम्मति न रहने पर भी समाज-कल्याण की दृष्टि से सहमति होना विकसित संस्कृति का एक लक्षण है। सहकार-सिद्धि का भी यह एक मुख्य साधन है।

यहाँ 'सम्मति' और 'सहमति'—इन दो शब्दों का अन्तर समझ लेना चाहिए। 'दो व्यक्तियों में आपस में 'सम्मति' है', तब कहा जायगा जब दोनों की राय बिल्कुल एक हो। लेकिन ऐसी भी परिस्थिति होती है जब एकमत न होने पर भी एक-दूसरे के साथ चलने की वृत्ति होती है। उस समय एक व्यक्ति

दूसरे की राय का साथ देता है। इसे 'सहमति' कहते हैं। यही कारण है कि हम 'सर्वसम्मति' से निर्णय न कहकर 'सर्वसहमति' यानी 'निर्विरोध' निर्णय कहते हैं।

अंग्रेजी में एक मुहावरा है—'एग्रीइंग टु डिफर।' यह कुछ उसी प्रकार की स्थिति है।

फलतः आज पक्ष के आधार पर जो राजनीति चल रही है, वह नहीं चलेगी और इस कारण आज समाज में प्रतिद्वंद्विता-जनित जो द्वेष और हिंसा निरन्तर फैल रही है, उसका भी अन्त होगा और जो कुछ भी अवशिष्ट शासन रह जायगा, वह पक्ष-रहित होने के कारण समग्र समाज का प्रतिनिधि होगा। इसी व्यवस्था को हम व्यावहारिक शासन-मुक्त समाज कहते हैं।

पक्ष-रहित समाज का रूप

हम जब पक्ष-रहित समाज-व्यवस्था की बात कहते हैं, तो रूढ लोकतंत्रवाद को माननेवाले मित्र उसे समझ नहीं पाते। उनका कहना है कि यह निर्विरोध निर्णय की बात करना स्वप्न-राज्य में विचरना है। यह कभी हो नहीं सकता। उनकी राय से बहुमत-पद्धति ही एकमात्र व्यावहारिक पद्धति है। लेकिन क्या यह जरूरी है कि जब एक पक्ष के लोगों का बहुमत हो जाता है, तो उसके सब सदस्य हमेशा एकमत ही रहें? जब आधे से अधिक व्यक्तियों की सर्वसम्मति हमेशा संभव है, तब पूरे लोगों में सर्व-सम्मति संभव नहीं हो सकती, ऐसा क्यों माना जाय? जिस कारण यह माना जाता है कि एक हजार व्यक्ति कभी एकमत नहीं हो सकते, उसी कारण यह भी सत्य है कि पाँच सौ एक व्यक्ति भी एकमत नहीं हो सकेंगे। वस्तुतः जिस तत्त्व के आधार पर आज के लोकतंत्रवादियों ने बहुमत के सिद्धांत का आविष्कार किया है, उसी तत्त्व के आधार पर स्थायी बहुमत असंभव है।

फलतः पक्ष पर आधारित राजनीति का दलपति की एकतांत्रिक नीति में परिणत होना स्वाभाविक है और आज वैसा हो भी रहा है।

पार्टी ह्विप

अतएव अगर वास्तविक जनतंत्र की स्थापना करनी है, तो हमें पक्षवाद को छोड़कर जनवाद को स्वीकार करना होगा। थोड़ी देर के लिए अगर मान भी लिया जाय कि तात्कालिक परिस्थिति के कारण व्यावहारिकता के नाते बहुमतवादी निर्णय-प्रथा को विधान में स्थान देना ही होगा, तो भी पक्ष-रहित व्यवस्था में अधिक स्वतंत्र राय के आधार मिल सकते हैं। विधान में पक्ष की इजाजत न दी जाय और व्यक्ति के आधार पर चुनाव किये जायँ तो क्या वह अव्यावहारिक होगा ? किसी सभा में अगर सौ सदस्यों की आवश्यकता है, तो व्यक्तिगत चुनाव के आधार पर सौ व्यक्ति चुने जा सकते हैं। फिर वे बहुमत से अपना अध्यक्ष चुन सकते हैं और सभा का निर्णय प्रत्येक प्रश्न पर बहुमत से ही हो सकता है। फिर 'पार्टी-ह्विप' रूपी अधिनायक की गुंजाइश नहीं रहेगी।

समाज का अर्थनैतिक स्वरूप : ७ :

जिस प्रकार शासन-निरपेक्ष समाज की कल्पना में अवशिष्ट शासन का अस्तित्व निहित रह जाता है, उसी प्रकार पूँजी निरपेक्ष उत्पादन-पद्धति में भी पूँजी का अवशेष रह ही जाता है। अतः हमें इस बात पर भी विचार करना है कि ऐसे समाज का अर्थनैतिक स्वरूप क्या होगा ?

स्वावलम्बन की शुरुआत

जिस प्रकार राजनीतिक ढाँचा नीचे से ऊपर की तरफ

क्रमशः पतला होते हुए अंत में बिंदुवत् हो जायगा, उसी प्रकार अर्थनैतिक ढाँचा भी परिवार-स्वावलंबन से शुरू होकर क्रमशः विकसित होता जायगा। और अंत में पूँजी का आधार अत्यंत सूक्ष्म रूप ले लेगा। ऐसी व्यवस्था में उद्योगों की तीन श्रेणियाँ होंगी : गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग तथा राष्ट्र-उद्योग। यह बात तो करीब-करीब गृहीत ही है कि भारत के आर्थिक जीवन की बुनियाद कृषि होगी। ऐसी हालत में गृह-उद्योग भी दो श्रेणियों में बाँटे जायेंगे। एक, सहायक उद्योग जो खेती से फुरसत के समय में चलेगा और दूसरा, पूरे समय का पारिवारिक उद्योग।

भौतिक आवश्यकता

हम पहले कह चुके हैं कि लोकशाही की रक्षा के लिए मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति, स्वतंत्र रूप से गृह-उद्योग के दायरे में आनी चाहिए। अगर कुछ ऐसे उद्योग हों, जिनकी कुछ प्रक्रियाएँ, पारिवारिक शक्ति की मर्यादा के बाहर हों, तो उन प्रक्रियाओं को ग्रामोद्योग में लिया जा सकता है। और, इसी दृष्टि से जिन उद्योगों को गाँव की सामूहिक शक्ति नहीं चला सकती और जिनकी आवश्यकता समाज के लिए अनिवार्य हो, उन्हें राष्ट्र-उद्योग के दायरे में ले जाना होगा। राष्ट्र-उद्योग मुख्यतः दो प्रकार के होंगे। एक, वे जिनकी आवश्यकता अनिवार्य है, लेकिन जो गाँव की शक्ति से बाहर हैं, और दूसरे, वे जिनके लिए प्रकृति-देवी ने कच्चा माल ही केन्द्रित रूप से दिया है।

यंत्र की मर्यादा

आजकल जनता में इस बात की आम चर्चा है कि शासन-मुक्त स्वावलंबी समाज में यंत्रों की मर्यादा क्या होगी? उद्योगों का

उपर्युक्त स्वरूप जो लोग मान्य करते हैं, उनमें भी इस प्रश्न पर गहरा मतभेद है। इसलिए यंत्रों की मर्यादा के मूल सिद्धांत समझ लेने चाहिए।

स्पष्टतः सही दृष्टिवाले लोग यह मानते हैं कि समाज में लोकशाही की रक्षा होनी चाहिए तथा हरएक को पूरा काम मिलना चाहिए। यंत्रों की मर्यादा आँकने के लिए मुख्यतः इन दो पहलुओं पर विचार करना होगा। एक तीसरा पहलू संस्कृति का है जो इन दो पहलुओं से अधिक नहीं, तो कम महत्त्व का भी हरगिज़ नहीं है। यंत्रों के बारे में विचार करते समय इन तीनों पहलुओं पर खास ध्यान देने की आवश्यकता है।

जैसा कि हमने कहा है कि लोकतंत्र की रक्षा के लिए यह जरूरी है कि जनता जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए स्वतंत्र रहे, याने वह किसी केन्द्रीय व्यवस्था या अधिकार की मुहताज न रहे। अतएव जिन यंत्रों को चलाने के लिए, केन्द्रीय शक्ति की आवश्यकता होगी, वे सर्वोदय-समाज के लिए ग्राह्य नहीं होंगे। केन्द्रित उत्पादित बिजली, तेल, कोयला आदि ऐसी शक्ति के उदाहरण हैं।

ऐसे बहुत से यंत्र हो सकते हैं जिन्हें चलाने के लिए मनुष्य-शक्ति, पशु-शक्ति जैसी विकेन्द्रित शक्तियाँ काफी हैं। लेकिन जिसके चलने से समाज में बेकारी पैदा होती है, ऐसा यंत्र भी सर्वोदय-समाज में ग्राह्य नहीं होगा।

उपर्युक्त राजनैतिक तथा आर्थिक कसौटी पर ग्राह्य होने पर भी हो सकता है कि कुछ यंत्रों का उपयोग, मानवोचित तथा कौटुंबिक संस्कृति के विकास में बाधक हो। ऐसा यंत्र भी काम में लाना उचित नहीं होगा।

इस सिद्धान्त के अनुसार, कोई भी यंत्र शाश्वत रूप से

ग्राह्य या अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। देश और काल के अनुसार फर्क हो सकता है। कोई यंत्र राजनैतिक लोकसत्ता के संरक्षण में समर्थ होने पर भी भारत, चीन या जापान जैसे मुल्कों में बेकारी पैदा कर सकता है। लेकिन अमेरिका, रूस, आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे मुल्कों में हर व्यक्ति को काम देने में समर्थ भी हो सकता है। उसी तरह बिजली से संचालित यंत्र जहाँ आज केन्द्रोत्पादित शक्ति का मुहताज है, वहाँ कुछ समय के बाद विकेन्द्रित विद्युत्-शक्ति-उत्पादन-प्रथा के आविष्कार से वह स्वतंत्र लोकसत्ता की रक्षा करने में समर्थ भी हो सकता है। भारत जैसे घनी आबादी के मुल्कों में भी आज जो यंत्र बेकारी पैदा करता है, वही यंत्र, कच्चे माल के उत्पादन तथा साधन की प्रक्रिया में तरक्की होने पर, हरएक मनुष्य को काम देने में सहायक हो सकता है।

अब प्रश्न यह है कि समाज में आर्थिक साधनों की व्यवस्था कैसी हो? जहाँ तक पारिवारिक उद्योगों का सवाल है, वहाँ तक सभी यह बात स्वीकार करते हैं कि साधन की व्यक्तिगत मालिकी होनी चाहिए। लेकिन आज कृषि का साधन, याने भूमि तथा ग्राम-उद्योग और राष्ट्र-उद्योगों के साधन किसके हाथ में हों, इस विषय पर काफी बहस चलती है। शासन-मुक्त तथा श्रेणी-हीन समाज की दृष्टि से भी इन प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता है।

भूमि की व्यवस्था

हमने पहले ही कहा है कि शासन-मुक्त समाज का मतलब अव्यवस्थित समाज नहीं, बल्कि पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित समाज है। जाहिर है कि ऐसा समाज संचालित न होकर सहकारी होगा। सहकारी समाज के लिए जहाँ स्वयंप्रेरित तथा पूर्ण

विकसित व्यक्ति का होना आवश्यक है, वहाँ हरएक व्यक्ति में निरन्तर अभ्यास के फलस्वरूप सहकार तथा सामाजिकता का संस्कार होना जरूरी होगा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भूमि की व्यवस्था निम्न प्रकार से होनी चाहिए :

(१) गाँव की सारी भूमि ग्राम-समाज की मातहत हो।

(२) ग्राम-समाज उसमें से सर्वसम्मति से निर्णय किया हुआ अंश सामूहिक खेती के लिए अलग रखे और बाकी पारिवारिक आवश्यकता तथा समता के अनुसार उनमें बाँट दे, ताकि वे स्वतंत्र रूप से अपनी प्रेरक-शक्ति तथा सहज-व्यक्तित्व का विकास कर सकें।

(३) सामूहिक खेती परिवारों के श्रम-दान से चलायी जायगी और उसके उत्पादन का उपयोग गाँव के सार्वजनिक सेवा-कोष के रूप में होगा। इस प्रकार सार्वजनिक सेवा के लिए आर्थिक कर के बदले श्रम-दान ही काफी होगा और फलस्वरूप श्रम-वादी समाज की प्राण-प्रतिष्ठा होगी। साथ ही सामूहिक श्रमदान के फलस्वरूप हमेशा के लिए सहकार-वृत्ति का अभ्यास कायम रखना शक्य होगा।

(४) ग्रामवासियों के सामूहिक निर्णय के अनुसार वितरण-व्यवस्था पर समय-समय पर पुनर्विचार हो सकेगा।

उद्योगों के बारे में अधिकांश चर्चा इस विषय पर होती है कि वे व्यक्ति के हाथ में हों या राज्य के हाथ में? कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उद्योग, व्यक्ति और सरकार, किसीके हाथ में न होकर उनके लिए स्वतंत्र कारपोरेशन बनानी चाहिए या उनके लिए उत्पादक श्रमिकों को सहकारी संस्था का संगठन करना चाहिए।

लेकिन शासन-मुक्त समाज को अगर स्थायी बनाना है, तो उद्योगों के लिए उपर्युक्त किसी भी प्रकार की व्यवस्था नाकामयाब सिद्ध होगी। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए तो समाज की सारी उत्पादन की प्रक्रिया, तालीम के माध्यम के रूप में शिक्षण-व्यवस्था के हाथ में सौंप देनी होगी।

उत्पादन और शिक्षा : ८ :

कहा जा चुका है कि राज्य की शक्ति दंड-शक्ति होती है। हम शासन को चाहे जितना विघटित करके स्वावलंबन विकसित करते रहें, व्यवहार में शासन का कुछ-न-कुछ अवशेष रह ही जायगा, जितना हिस्सा शेष रह जायगा, उसके हाथ में अवशिष्ट दण्ड-शक्ति, याने दमन के साधन भी रह जायेंगे। जिसके हाथ में दमन का साधन रहेगा, अगर उसीके हाथ में उत्पादन का साधन भी सौंपा जाय, तो निस्संदेह उत्पादन का उपयोग दमन की सहायता के लिए हो सकेगा। फलस्वरूप शासन-शक्ति पुनः संगठित होगी। इसलिए उत्पादन के साधन राज्य के हाथ में देने में श्रेय नहीं है। एक मिसाल से यह तथ्य ठीक-ठीक समझ में आ जायगा। इस देश के सभी विचारशील लोग बहुत अर्से से सरकारी शासन-विभाग तथा न्याय-विभाग, दोनों को एक ही व्यक्ति के हाथ में रखने का विरोध करते आये हैं। वे मानते रहे कि अगर शासन-विभाग के हाथ से न्याय का अधिकार हटा न लिया जाय, तो न्याय-संस्था का भी शासन की सहायता में इस्तेमाल हो सकेगा।

सहयोग का आधार

स्वतंत्र कारपोरेशन भी राज्य-द्वारा निर्मित होंगे और वे भी एक गुट में परिणत हो सकेंगे। इसके अलावा इसमें मजदूरी

करनेवाले और मजदूर लगानेवाले के रूप में दो श्रेणियों का अवशेष रह जाता है। इसलिए श्रेणी-हीन समाज के संरक्षण के हित में ऐसी व्यवस्था भी शुभ नहीं होगी। अगर उत्पादन-श्रमिकों की कोआपरेटिव (सहयोगी) संस्था बनती है, तो प्रथमतः वह व्यक्तिगत मालिकी की बुनियाद पर ही बनेगी। दूसरी बात यह होगी कि औद्योगिक उत्पादक तथा कृषक उत्पादक या कच्चे माल के उत्पादक के बीच स्वार्थ-संघर्ष के बीज भी रह जायेंगे। अतः इन साधनों के लिए किसी नयी व्यवस्था की ही खोज करनी होगी।

हमने ऊपर बतलाया है कि सहकारी समाज के लिए पूर्ण विकसित मनुष्य का होना आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक मनुष्य का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा होना चाहिए। इतना ही नहीं बल्कि उसका आजीवन विकास होता रहना चाहिए। यही कारण है कि गांधीजी कहते थे—तालीम का क्षेत्र जन्म से मृत्यु तक का है, क्योंकि सांस्कृतिक विकास का शिक्षा ही एकमात्र साधन है।

ऐसी शिक्षा मनुष्य के नित्य जीवनक्रम तथा कर्म-सूची से अलग नहीं हो सकती, क्योंकि शासन को अनावश्यक बनाये रखने के लिए मनुष्य को प्रत्येक क्षेत्र में अपना सांस्कृतिक स्तर ऊँचा रखना होगा।

विकृति का निराकरण

इस तत्त्व को समझने के लिए मानव-प्रकृति का कुछ विश्लेषण करने की आवश्यकता है। गांधीजी कहते थे कि देवासुर का युद्ध हरएक मनुष्य में हमेशा चलता रहता है। अर्थात्, मानव-प्रकृति में संस्कृति तथा विकृति, दोनों का समावेश होता है। अगर शिक्षा को जीवन की कुछ अवधि तक सीमित रखा जाय

और फिर लोगों को अलग से व्यवहार चलाने के लिए छोड़ दिया जाय, तो विकृति के पुनर्विकास की गुंजाइश रह जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की हर हरकत के साथ शिक्षा का अनुबंध हो। यही कारण है कि गांधीजी ने उत्पादन की प्रक्रिया, समाज-व्यवस्था का कार्यक्रम तथा प्रकृति को ही शिक्षा का माध्यम माना था, क्योंकि समाज के सारे कार्यक्रम इन्हीं तीन हिस्सों में बाँटे जा सकते हैं :

(१) आवश्यकता की पूर्ति के लिए उत्पादन; (२) समाज की व्यवस्था तथा (३) प्राकृतिक साधनों की खोज। इन तीनों विभागों में जितने कार्यक्रम हैं, उनके ताने के साथ शिक्षा के कार्यक्रम का बाना डालकर जो समाज बनेगा, वही सच्चा शासन-मुक्त समाज होगा, क्योंकि हर कार्यक्रम के साथ शिक्षा तथा संस्कृति की प्रक्रिया का अनुबंध होने के कारण मनुष्य के अंतर्निहित विकारों का निरन्तर परिमार्जन होता रहता है और फलस्वरूप शासन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

उत्पादन और शिक्षा

अतएव जब उत्पादन की सारी प्रक्रियाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना है, तो ग्राम-उद्योग तथा राष्ट्र-उद्योग के सभी कार्यक्रम विभिन्न स्तर की शिक्षा-संस्थाओं की जिम्मेदारी पर बनेंगे। फिर अनिवार्य केन्द्रित उद्योगों के कारण आज जितने उद्योग-नगर दिखाई देते हैं, वे सब विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो जायेंगे और आज जो संचालक, व्यवस्थापक, विशेषज्ञ तथा मजदूर के रूप में विभिन्न वर्ग दिखाई दे रहे हैं, उनके बदले उन केन्द्रों की सारी जनता उत्पादक श्रमिक बन जायगी। उनमें से कुछ अध्यापक और कुछ विद्यार्थी भी होंगे। अधिक वास्तविक स्थिति यह होगी कि वे सब शिक्षार्थी होंगे और उत्पादन की

प्रक्रिया के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान भी प्राप्त करेंगे.। जिनको अधिक अनुभव तथा जानकारी रहेगी, वे कम अनुभवी तथा कम जानकार शिक्षार्थियों का मार्ग-दर्शन करेंगे। उन्हींमें से कुछ अधिक प्रतिभाशाली लोग विभिन्न प्रकार के प्रयोग तथा नये ज्ञान की खोज करेंगे।

ऐसे वातावरण में स्वभावतः लोगों का बौद्धिक तथा सांस्कृतिक स्तर ऊँचा रहेगा। फिर आपस में मिलकर सारी व्यवस्था चलाना सहज हो जायगा और ऊपर से संचालन की आवश्यकता नहीं रहेगी।

शासन-मुक्त समाज कैसे बने ? : ६ :

शासन-मुक्त समाज की कल्पना के साथ मुख्य प्रश्न यह उठता है कि उसे स्थापित कैसे किया जा सकेगा। वस्तुतः यह कल्पना कोई नयी कल्पना नहीं है। ईसा का पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य, कार्ल मार्क्स का 'शासनहीन समाज', प्रिन्स क्रोपाटकिन का 'अराजकतावाद' आदि सभी एक ही वस्तु की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी के लिए जहाँ यह आवश्यक है कि वह अपने सामने सारी कल्पनाओं का स्पष्ट चित्र रखे; वहाँ यह भी जरूरी है कि वह अपनी कल्पना को मूर्तरूप देने के लिए स्पष्ट मार्ग भी बतलावे। बापूजी ने 'चरखा अहिंसा का प्रतीक है', कहकर मानव-समाज के लिए उस मार्ग का दिशानिर्देश किया। आज विनोबा उस इंगित को व्यावहारिक रूप दे रहे हैं। विनोबाजी ने इस नवक्रान्ति के कार्यक्रम को एक निश्चित सूत्र में बाँध दिया है। वह सूत्र है—"भूदानमूलक ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्रांति।" इस छोटे-से सूत्र में शासन-

मुक्त समाज की व्यावहारिक क्रांति के मार्ग का संपूर्ण दिशानिर्देश निहित है।

क्रांति का साधन

क्रान्ति का आद्य साधन क्रान्तिकारी का जीवन है। अतः उस जीवन का स्वरूप क्या हो, इस पर विचार सबसे पहले करने की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि वह जीवन क्रान्तिमंत्र के अनुरूप तथा संकल्पित समाज के अनुकूल होना चाहिए। इसलिए क्रान्ति की प्रक्रिया में प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि क्रान्तिकारी कार्यकर्ता अपने आपको शोषण-मुक्त बनाने की दिशा में योजनापूर्वक कदम उठावें। याने, श्रमिकों के शोषण का त्याग करने की दिशा में और श्रम-जीवन स्वीकार करने की दिशा में शीघ्रता से आगे बढ़ें। वे अपनी जीविका यथासंभव शरीर-श्रम से ही उपार्जित करें और पैतृक संस्कार के कारण उसमें जो कुछ कमी रह जाय, उसकी पूर्ति श्रमिकों से श्रमदान माँगकर ही करें।

लोग पूछेंगे, अगर पैतृक कमी दान से ही पूरी करनी है, तो उसे श्रम-दान से ही कराने का आग्रह क्यों ? आखिर श्रमिक का श्रम तो हमें अपने उपभोग के लिए लेना ही पड़ेगा, तो शोषक-वर्ग भी तो इसी प्रक्रिया से काम लेता है। वही वर्ग अपने शोषण में हिस्सा निकालकर हमारी कमी पूरी कर दे, तो उसमें आपत्ति क्यों हो ?

दिल और दिमाग की एकता

इस आपत्ति का मनोवैज्ञानिक आधार है। पुरानी कहावतें हैं, 'जिसका नमक खाना है, उसीका गुण गाना है।' यह बात यदि सही है, तो शोषण-मुक्ति की क्रान्ति में हमारा शोषणों की सहायता से जीना शोषकों का शोषण कायम रखने के पक्ष में आशीर्वादस्वरूप होगा। आत्मरक्षा प्रकृति का नियम है;

आत्महत्या नहीं। जिसके आधार पर आत्मरक्षा संभव है, उसीकी मंगलाकांक्षा स्वाभाविक है। बहुत-से पराक्रमी साथी यह कह सकते हैं कि जब हम विचारपूर्वक, आत्मरक्षा के लिए, शोषकों के शोषण पर निर्भर रहेंगे, तो फिर हमसे ऐसी गलती क्यों होगी ? वस्तुतः इस मामले में हमें अत्यन्त सतर्क रहने की आवश्यकता है। भीष्म-द्रोण जैसे स्थितप्रज्ञ तपस्वियों के लिए जो चीज असंभव साबित हुई, उसकी चेष्टा हम न करें, इसीमें श्रेय है। भीष्म, द्रोण के दिल और दिमाग में पांडवों की हिताकांक्षा थी, लेकिन उनका कर्म दुर्योधन के संरक्षण के लिए ही हुआ।

संस्था और क्रांति

इस उदाहरण का मतलब यह नहीं है कि हम उनकी सहायता नहीं लेंगे जो अपने श्रम से ही गुजारा नहीं करते। वस्तुतः हमारी क्रांति, पद्धति-परिवर्तन की क्रांति है। उसमें व्यक्तियों का बहिष्कार या निषेध नहीं है। इसलिए हम व्यक्तियों को अपने साथ लेकर ही आगे बढ़ेंगे, क्योंकि हम शोषण का अन्त करना चाहते हैं, शोषक का नहीं। अतएव हमें विचार तथा आयोजन-पूर्वक अनुत्पादक व्यक्तियों से सहायता लेनी है। यह सहायता श्रम-दान के रूप में ही होगी। हम उनसे प्रत्यक्ष श्रम-दान तथा उनकी श्रम-उत्पादित सामग्री का दान माँगेंगे। इस आवाहन से उन्हें भी वर्ग-परिवर्तन की प्रक्रिया में शामिल होने का मौका मिलेगा। यदि हम शोषण पर जीनेवाले साधन-संपन्न वर्ग से जीविका की सामग्री लेंगे, तो उसमें यह क्रांतिकारी तत्त्व नहीं रहेगा। क्रान्ति के वाहन के रूप में, क्रान्तिकारी संस्था का दूसरा स्थान है। इसलिए संस्थाओं के स्वरूप पर भी विचार करने की आवश्यकता है। व्यक्ति की तरह संस्था को भी अपना निर्वाह

अपने सदस्यों के श्रम से तथा जितने क्षेत्र में वह संस्था क्रान्ति का प्रसार करती हो, उस क्षेत्र के श्रमदान से ही करना चाहिए। यही कारण है कि विनोबा अपनी क्रान्ति का आन्दोलन चलानेवाली संस्थाओं को सूतांजलि से ही निर्वाह करने के लिए कहते हैं।

जिस प्रकार व्यक्ति तथा संस्था के शुद्धिकरण के साथ समाज-क्रान्ति का कदम आगे बढ़ता जायगा, उसका क्रम कुछ निम्न प्रकार का हो सकता है।

संस्था से क्रान्ति नहीं

शासन-मुक्त समाज की ओर अगर सफलता के साथ कदम बढ़ाना है, तो सर्वप्रथम हमें अपनी काम करने की पद्धति में परिवर्तन करना होगा। अब तक हम संस्थानिष्ठ, याने केन्द्रवादी तरीके से काम करते रहे हैं। आज सर्व-सेवा-संघ, या भूदान-समिति के कार्यकर्ता, लोगों से अपील करते हैं, जमीन लेते हैं, और भूमि-वितरण तथा उसके बाद का भी काम वे स्वयम् ही करते हैं। पिछले पच्चीस या तीस साल से सभी रचनात्मक संस्थाओं का कार्य इसी ढंग से चलता रहा है। अब तक ऐसा करना जरूरी भी था, क्योंकि लोकमानस में इस क्रान्ति की आवश्यकता का बोध नहीं था। लेकिन अब हमें जनता के अपने प्रत्यक्ष नेतृत्व तथा उसकी व्यवस्था शक्ति के आधार पर ही काम की प्रगति करनी है; नहीं तो शासन-मुक्ति के लिए अवश्य जन-शक्ति का निर्माण नहीं हो सकता।

इस प्रक्रिया के लिए आवश्यक यह है कि हम गाँव-गाँव में 'सर्वोदयी क्रान्ति' का विचार फैलायें और उसके अमल के लिए ग्राम-समितियों का संगठन करें। भूमि-प्राप्ति, वितरण, श्रम-दान-यज्ञ, कृषि-सुधार, केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार तथा ग्रामोद्योगों

का संगठन आदि सभी कार्यक्रम समिति की प्रेरणा से ही चलने चाहिए। संस्था के कार्यकर्ता केवल मार्ग-प्रदर्शक का काम करें। हो सकता है किसी उत्साही गाँव में योग्य नेतृत्व न हो। तो जिस योग्यता के आदमी उस गाँव में मिलें, उन्हींकी समिति बननी चाहिए तथा उन्हींकी मार्फत सारा काम हो, ऐसा आग्रह रखना चाहिए। फर्क इतना ही होगा कि ऐसे गाँव में कार्यकर्ता अपना अधिक समय मार्ग-दर्शन के लिए दें तथा समुचित शिक्षण द्वारा गाँववालों में योग्यता का विकास करें।

स्वतंत्र लोक-शक्ति

इस तरह भूमि-प्राप्ति आदि कार्यक्रम के माध्यम से स्वतंत्र लोक-शक्ति के विकास के लिए ग्राम समाज के संगठन की चेष्टा की जाय। जब आर्थिक संगठन के सिलसिले में काफी बड़े-बड़े क्षेत्रों में ऐसी जन-शक्ति का निर्माण होगा, तब निम्नलिखित योजना के साथ शासन-विघटन की प्रक्रिया शुरू हो सकेगी। उस समय ग्राम-समितियों का यह आपसी संगठन, शासन द्वारा संचालित ग्राम-व्यवस्था के मदों की सूची तैयार करेगा और यह निर्णय करेगा कि उनमें से कितने विभागों का काम वह अपनी स्वतंत्र शक्ति से चला सकता है। उसे यह आत्मविश्वास हो जाने पर कि वह अमुक विभाग अपने आप सम्हाल सकता है, वह सरकार से उन विभागों का अपने लिए दान माँगेगा। ग्राम समाज के लोग सरकार से कहेंगे कि इतने विभागों की व्यवस्था आप हमें सौंप दें और उन विभागों के खर्च के अनुपात में हमसे कर लेना भी बंद कर दें।

इस तरह भूमिदान-यज्ञ से शुरू कर क्रमशः सत्ता-दान-यज्ञ आन्दोलन पर पहुँचना होगा।

उपर्युक्त परिवर्तन करने के लिए हमें अपनी संस्थाओं के

रूप में परिवर्तन करना चाहिए। आज की दफ्तर-प्रथा की जगह आश्रम-प्रथा स्थापित करनी होगी। अखिल भारतीय दफ्तर तथा प्रांतीय दफ्तरों से लेकर छोटे-छोटे क्षेत्रों के दफ्तरों तक, सभी आश्रम का रूप ले लेंगे। इनमें कुछ जमीन कृषि के लिए होगी तथा फुरसत के समय उत्पादक श्रम के लिए कुछ ग्रामोद्योगों की भी योजना रहेगी।

उत्पादक श्रम का स्थान

सामान्यतः समाज के हर व्यक्ति को उत्पादक श्रम से ही अपना गुजारा करना होगा और कुछ व्यवस्था, शिक्षा आदि उत्पादक शुद्ध मानसिक श्रम का समाज को सेवा के रूप में दान देना होगा। लेकिन आज की परिस्थिति में संस्थाओं के सेवक उस मंजिल तक नहीं पहुँच सकेंगे। उन्हें व्यवस्था आदि का काम विशेष मात्रा में करना होगा। इसलिए काम के समय का आधा हिस्सा उत्पादक प्रवृत्ति तथा आधा हिस्सा व्यवस्था आदि कार्य में लगाना होगा। जितने समय के लिए उत्पादक परिश्रम करेंगे उतने में जिस अनुपात से उत्पादन होगा, उसी हिसाब से, व्यवस्था-कार्य के लिए समाज से 'दान' लेकर काम चलाना होगा। साथ-साथ इस बात की कोशिश करनी होगी कि यह दान भी श्रमदान या प्रत्यक्ष श्रमोत्पादित सामग्री का दान हो।

लेकिन पूर्व संस्कार के कारण आज हम सेवकों की इस हद तक बढ़ने की तैयारी नहीं है। हम चाहे जितनी कोशिश करें, इस जीवन में पूर्ण उत्पादक श्रमिक के रूप में हम अपना परिवर्तन शायद ही कर सकेंगे। अतः जितना हम अपने श्रम से उत्पादन करेंगे, उसके अनुपात से भी अधिक सामग्री अपने गुजारे के लिए समाज से दान के रूप में लेकर हमें समझौता करना पड़ेगा। लेकिन इसे हम अपनी कमाई न मानकर

'सहायता' मानेंगे और एक ओर से उत्पादन शक्ति में वृद्धि तथा दूसरी ओर से अपना खर्च कम करते हुए इस सहायता की रकम घटाने की निरन्तर कोशिश करते रहेंगे।

सेवक क्या करेगा?

इस प्रकार संस्था के सेवक को संस्था के दायरे से बाहर निकालकर प्रत्यक्ष जनशक्ति के आधार पर आन्दोलन का संघटन करना होगा। लेकिन उसके साथ-साथ उसे इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि अहिंसक समाज में संस्थाओं का स्वरूप भी आज जैसा नहीं रहेगा। इसलिए आन्दोलन को केवल संस्था का आधार छुड़ाना होगा, ऐसी बात नहीं है, बल्कि संस्था के रूप में आमूल परिवर्तन के लिए सक्रिय कदम उठाना होगा।

शासन-मुक्त या शासन-निरपेक्ष समाज में शासन का अवशेष रहेगा ही, लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसकी शक्ति गौण होगी और जनशक्ति मुख्य होगी। लेकिन जनशक्ति सचेतन तभी हो सकती है, जब उसे निरन्तर सक्रिय नेतृत्व मिलता रहे, इसलिए शासन-निरपेक्ष समाज के लिए यानी वास्तविक लोकशाही के लिए समाज में तीन संस्थाओं की आवश्यकता होगी:

(१) जननायक,
(२) जनशक्ति या जनमत और
(३) जन-प्रतिनिधि।

जननायक संस्था जनशक्ति का निर्माण करेगी और यह शक्ति जन-प्रतिनिधि को निर्देश देगी।

इस प्रकार अहिंसक समाज में सबसे शक्तिशाली संस्था सेवक-संस्था होगी। ऐसी सेवक-संस्था का स्वरूप क्या हो, यह प्रश्न लोकनीति में उसी प्रकार सबसे अधिक महत्त्व का है, जिस

प्रकार राज्य-संस्था का स्वरूप-निर्णय राजनीति में सबसे अधिक महत्त्व का होता है।

इसी प्रश्न का विवेचन करते हुए संत विनोबा ने पुरी के ऐतिहासिक सर्वोदय-सम्मेलन में संसार के समक्ष घोषणा की कि 'अहिंसक समाज में सेवा सार्वभौम और सत्ता सेविका होगी।' लेकिन सार्वभौम सेवा की संस्था अगर आज के स्वरूप में रह जाय तो क्या वह सेवा की ही संस्था के रूप में कायम रह सकेगी?

सेवक और संस्था

आज सेवक-संस्थाएँ भी उसी प्रकार से संचालित और अनुशासित हैं जिस प्रकार से राज्य-संस्थाएँ हैं। ऐसी स्थिति में अगर आज की सेवक-संस्था राज्य-संस्था से इतनी अधिक शक्तिशाली हो जाय कि वह राज्य का भी नियंत्रण करने लगे तो ऐसी संस्था राज्य के ही स्थान पर आरूढ़ हो जायगी। कारण, संस्था को जब संचालन-कार्य ही करना है तो वह कार्य राज्य की मार्फत न करके खुद ही करने लगेगी। अतः अहिंसक समाज में जिस शक्तिशाली सेवक-संस्था की कल्पना की गयी है, उसका स्वरूप भी कुछ और होगा।

ऐसी सेवक-संस्था में सेवक सार्वभौम और संस्था सेविका होगी। जनसेवक स्वतंत्र जननायक के रूप में जनता में विलीन होकर रहेंगे और जनशक्ति का निरन्तर आवाहन करते रहेंगे। जनकल्याण के यज्ञ में उनका पौरोहित्य होगा, लेकिन स्वतंत्र रहते हुए भी वे विच्छिन्न नहीं रहेंगे। वे सेवक-संस्था बनायेंगे अवश्य, लेकिन रेशम के कीड़े की तरह अपनी बनायी हुई संस्था के अन्तर्गत नहीं रहेंगे। जिस प्रकार मकड़ी अपने बनाये हुए जाले के ऊपर रहती है, उसी तरह वे उसे अपने ध्येय की पूर्ति के

लिए इस्तेमाल करेंगे। आज जनता सीधे संस्था की पोषक होती है, और संस्था सेवक की। उस समय जनता सीधे सेवक को पोषण देगी और सेवक संस्था को। जनता द्वारा यह पोषण भी सेवक के श्रम के विनिमय के रूप में होगा, न कि उसकी परवरिश के रूप में। इसके रूप की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

अतएव इस क्रान्ति के सेवक केवल आन्दोलन को ही संस्था-मुक्त नहीं करेंगे, बल्कि खुद भी अपने को तंत्र-मुक्त कर जनशक्ति के आधार पर भरोसा करके उसमें विलीन होने की चेष्टा करेंगे। हमारे सेवक ज्यों-ज्यों इस ओर बढ़ेंगे त्यों त्यों वे शासन-मुक्त समाज की ओर आन्दोलन की प्रगति कर सकेंगे।

वर्ग-विषमता की समस्या : १० :

यह स्पष्ट है कि शासन-मुक्त समाज का स्वरूप संचालित न होकर सहकारी होगा। सहकार समान स्तर के लोगों के बीच ही हो सकता है। जब तक विषमता रहेगी, तब तक सहकार नहीं हो सकेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि शासन-मुक्त समाज में वर्ग-विषमता न हो। लेकिन जिस तरह राजनैतिक क्षेत्र में सर्वाधिकारी राज्यवाद (Totalitarianism) की समस्या आज का मुख्य सवाल है, उसी तरह सामाजिक क्षेत्र में वर्ग-विषमता के संकट ने आज सबसे ऊपर का स्थान ले लिया है। समाज आज दो निश्चित तथा विरोधी वर्ग में विभाजित हो गया है। एक वर्ग उत्पादन करता रहता है और दूसरा व्यवस्था के बहाने उत्पादित सामग्री का उपभोग करता रहता है। साधारण भाषा में कहना होगा कि एक मेहनत करके खाता है और

दूसरा दलाली करके, और हम अक्सर एक को 'मजदूर' और दूसरे को 'हुजूर' कहते हैं।

शोषण के प्रकार

वर्ग-विषमता की यह सामाजिक समस्या कोई स्वतंत्र समस्या नहीं है। यह राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण का नतीजा-मात्र है। इस बात को विशेष रूप से समझना चाहिए। आखिर हुजूर लोग मजूरों का शोषण किस तरह करते हैं? इस पर से बचपन में पढ़ी हुई बिल्ली और बंदर की एक छोटी-सी कहानी याद आती है। दो बिल्लियाँ मेहनत करके रोटियाँ लायी थीं और बंदर उस रोटी का माकूल बँटवारा करने के बहाने उसे खा गया। उसी तरह मजदूर रोटी का उत्पादन करता है और हुजूर लोग इन्तजाम करने के बहाने वह रोटी खा जाते हैं। मजदूर केवल पेट पर हाथ रखकर ताकते रहते हैं।

यही कारण है कि आज संसार में चारों ओर से वर्गहीन समाज कायम करने की माँग सुनायी पड़ती है; लेकिन यह वर्गहीन समाज कायम कैसे हो? अगर दुनिया में एक ही वर्ग रखना है तो वह मजदूरों का यानी श्रमिकों का ही एक वर्ग हो सकता है, क्योंकि हुजूर-वर्ग यानी व्यवस्थापक-वर्ग अकेला अपने पैर पर खड़ा नहीं रह सकता। अतः वर्गहीन समाज कायम करने के लिए आवश्यक है कि इस हुजूर-वर्ग का लोप हो। इस वर्ग को विघटित करने का तरीका तभी मालूम हो सकेगा, जब हम इसके संगठित होने के इतिहास को समझ लें।

हुजूर-वर्ग कैसे बना?

मानव-समाज के प्रथम युग में सभी लोग मजदूर थे—सब उत्पादन करके खाते थे और सब सहयोगिता के आधार पर

झुंड में रहते थे। इसी कारण हमारी किताबों में लिखा है कि सत्य-युग में एक ही वर्ण था। बाद को जब समाज में प्रतियोगिता का आविर्भाव हुआ तथा आपसी संघर्ष के नतीजे से हिंसा होने लगी, तब मनुष्य ने राजा की सृष्टि की, यानी राज्य के रूप में एक ऐसी संस्था की सृष्टि की जिसमें कुछ लोग बिना उत्पादन किये व्यवस्था करके अपना गुजारा कर सकते थे। इस तरह राज्य-पद्धति के आविष्कार से हुजूर-वर्ग की सृष्टि हुई। जैसे-जैसे राज्य-प्रथा केन्द्रित और विस्तृत होती गयी, वैसे-वैसे उसीके सहारे हुजूर-वर्ग का विस्तार हुआ। उसी तरह मनुष्य ने श्रम टालने के लिए पूँजी के आधार पर जिस उत्पादन-पद्धति का आविष्कार किया, उसी पद्धति के अनुसार उद्योग-धंधों के संचालन तथा उत्पादित सामग्री के वितरण के बहाने एक दूसरी जाति के हुजूरों की विराट् फौज खड़ी हो गयी। दोनों मिलकर मजदूर पर इतना अधिक बोझ हो गया कि आज मजदूर उसके नीचे दबकर मरना चाहता है।

हुजूर बनाने के कारखाने

सिर्फ इतना ही नहीं, मौजूदा शिक्षा-पद्धति की खराबी के कारण शिक्षित समाज के लोगों में किसी प्रकार के उत्पादन का काम न कर सकने के कारण उनमें से जो लोग व्यवस्था तथा वितरण-कार्य नहीं करते हैं, वे भी किसी-न-किसी तरीके से मजदूरों के कंधों पर बैठे रहते हैं। वस्तुतः आज के स्कूल और कालेज हुजूर बनाने के कारखाने-मात्र बने हुए हैं। अतएव जैसे-जैसे इस कारखाने से लोग निकलते जाते हैं, वैसे-वैसे मजदूरों के कन्धों पर बोझ बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण के अलावा वर्तमान शिक्षा-पद्धति यह विषमता तेजी से बढ़ा रही है।

फलतः राजनैतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण के नतीजे से आज मजदूरों के कन्धों पर हुजूरों के बोझ की वृद्धि के कारण केवल मजदूर ही दबकर मर रहा है, ऐसी बात नहीं है; बल्कि संख्याधिक्य होने के कारण हुजूर लोगों को भी मजदूरों के शरीर से इतना रस नहीं मिल रहा है, जिससे वे मोटे-ताजे रह सकें, इसलिए वे भी सूखकर मर रहे हैं। इस प्रकार आज दोनों के सामने संकट खड़ा है यानी सारा संसार ही वर्ग-विषमता की आग से भस्म होना चाहता है। ऐसी हालत में आवश्यकता इस बात की है कि तत्काल और तुरंत एक महान् क्रान्ति के द्वारा पूर्ण रूप से एक वर्गीय समाज कायम हो, अर्थात् हुजूर-वर्ग के विघटन से मजदूरों का ही एक अद्वैतवादी समाज कायम हो।

क्रान्ति की दो प्रक्रियाएँ

प्रश्न रह जाता है कि इस क्रान्ति की प्रक्रिया क्या हो ? दो ही तरीके हो सकते हैं, एक वर्ग-संघर्ष का हिंसात्मक तरीका, दूसरा वर्ग-परिवर्तन की अहिंसात्मक क्रान्ति। एक विनाशकारी तरीका, दूसरा क्रान्तिकारी तरीका। पहले तरीके से मजदूर द्वारा हुजूरों के उन्मूलन की चेष्टा होगी और दूसरे तरीके से हुजूर मजदूर बनकर मजदूरों में विलीन होंगे। पहले तरीके की दूसरे मुल्कों में काफी आजमाइश हो चुकी है और हमने देखा कि उसका कोई नतीजा नहीं निकलता है, बल्कि एक समस्या से निकलकर दूसरी उससे जटिल समस्या के नीचे समाज पड़ जाता है। रूस में उन्मूलन की चेष्टा हमने देखी। वहाँ हुजूर-वर्ग खत्म नहीं हुआ। उनकी केवल चोटी ही कट गयी। सारा शरीर ज्यों-का-त्यों रह गया। पूँजीपतियों का नाश हुआ सही, लेकिन वहाँ इतना जबरदस्त एक व्यवस्थापक राज्य कायम हुआ कि इस व्यवस्था के नाम पर ही हुजूर-वर्ग का इतना अधिक संगठन

हुआ कि मजदूर पूर्ण रूप से उसके नीचे दब गया। पूँजीपति-रूपी चोटी रहने पर जनता कभी-कभी उसे पकड़ भी सकती थी, लेकिन अब तो उससे भी हाथ धो बैठी और एक भयंकर संगठित दल की मुट्ठी के नीचे चली गयी।

उन्मूलन की प्रक्रिया

उन्मूलन की प्रक्रिया हिंसा की प्रक्रिया है। इसलिए इस तरीके से केवल ऊपर लिखे मुताबिक तात्कालिक और व्यावहारिक संकट ही आयगा, ऐसी बात नहीं। मानव-समाज में एक स्थायी संकट कायम हो जायगा। आखिर हम वर्ग-विषमता क्यों दूर करना चाहते हैं? इसलिए कि हम हिंसा से मुक्त होकर दुनिया में शान्ति कायम कर सकें। हिंसा को माननेवाले कहते हैं कि वे भी दुनिया में हिंसा खत्म करके शान्ति कायम करना चाहते हैं। परन्तु वे कहते हैं, काँटा निकालने के लिए काँटा ही चाहिए, मालिश से वह नहीं निकलेगा। यानी हिंसा से ही हिंसा का अन्त होगा, प्रेम से नहीं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या हिंसा से हिंसा का अन्त होगा? जो लोग इस प्रकार सोचते हैं, वे विज्ञान को भूल जाते हैं। विज्ञान का कहना है कि हरएक क्रिया की समान प्रतिक्रिया होती है और इस क्रिया-प्रतिक्रिया का घात-प्रतिघात अनन्तकाल तक चलता है। अतः अगर हिंसा की क्रिया होगी तो उसकी प्रतिक्रिया प्रतिहिंसा ही होगी और हिंसा-प्रतिहिंसा का घात-प्रतिघात अनन्तकाल तक चलता रहेगा। फिर किस काल में जाकर हिंसा समाप्त होकर शान्ति की स्थापना होगी।

इसलिए गांधीजी हमसे वर्ग-परिवर्तन की अहिंसक क्रान्ति करने का आवाहन करते रहे हैं।

वे हुजूर-वर्ग को सामाजिक उत्पादन में शामिल होकर उत्पादक-वर्ग में विलीन होने के लिए कहते थे और इसका सक्रिय कार्यक्रम देश के सामने रखते थे। सन् १९४५ में जेल से निकलते ही उन्होंने कहा कि अंग्रेज तो जा रहे हैं और शायद हम जैसा समझते हैं, उससे जल्दी ही जायँगे। अब हमें शोषण-हीन समाज कायम करने के लिए सक्रिय कदम उठाना है। इसके अमल के लिए उन्होंने कहा कि जो लोग खादी पहनना चाहते हैं, उन्हें दो पैसे प्रति रुपये का सूत कातना ही होगा। उसी तरह उन्होंने कहा कि जो लोग खाना खाना चाहते हैं, उन्हें अपने हाथ से अन्न-उत्पादन करना ही है। इन बातों पर वे यहाँ तक जोर देते थे कि कलकत्ते के लोगों के यह कहने पर कि उनके पास जमीन कहाँ, जहाँ वे अन्न-उत्पादन कर सकते हैं, उन्होंने कहा कि गमले में ही सही, लेकिन नियमित रूप से अन्न-उत्पादन की प्रक्रिया हरएक को अपने हाथ से करनी ही है।

यह स्पष्ट है कि गांधीजी जैसे व्यावहारिक क्रान्तिकारी व्यक्ति यह नहीं समझते थे कि दो पैसे के सूत कातने-मात्र से या गमले में अन्न-उत्पादन करने से देश के अन्न-वस्त्र की समस्या हल हो जायगी या उतने ही से हुजूर-वर्ग के लोग मजदूर बन जायँगे, लेकिन क्रान्ति तो पहले विचार-क्षेत्र में ही होती है। गांधीजी सामान्य लाक्षणिक उत्पादन से पहले लोगों के दिमाग में क्रान्ति लाना चाहते थे ताकि वे निरन्तर अपने हाथ से उत्पादन करने के महत्त्व को समझें और थोड़ा-सा उत्पादन करके उत्पादक-वर्ग में सम्मिलित होने की क्रान्ति में शामिल हैं, यह बात जाहिर करें यानी गांधीजी के इस आन्दोलन के रजिस्टर में नाम लिखा लें।

शिक्षा-पद्धति में क्रान्ति

इसी प्रकार वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति की दिशा में दूसरे हल्के-

हल्के सक्रिय कार्यक्रम रखते थे। वे बाबू वर्ग के लोगों को अपने व्यक्तिगत काम के लिए घरेलू नौकर से काम न लेने की बात कहते थे। अपने आदर्श के अनुसार संचालित आश्रमों में पाखाना-सफाई से लेकर खाना बनाने तक सभी काम अपने हाथ से करने की विधि रखकर श्रम-प्रतिष्ठा पर जोर देते थे। अन्त में उन्होंने वर्ग-परिवर्तन का एक महान् क्रान्तिकारी तथा व्यावहारिक कार्यक्रम दुनिया के सामने रखा, वह था शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन। उन्होंने कहा कि शिक्षा के लिए वर्तमान हुजूर बनाने के कारखानों को बंद कर दिया जाय और सारी शिक्षा-योजना शरीर-श्रम द्वारा उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से ही बनायी जाय। ऐसा करने से मजदूर वर्ग के लोगों को शिक्षित करने में उन्हें मजदूरी के कार्य से उखाड़ने की आवश्यकता नहीं होती है और मजदूर रहते हुए वे शिक्षित हो जाते हैं। बाबू लोगों के लड़के भी बचपन से ही उत्पादन-कार्य में अभ्यासी होने के कारण समर्थ उत्पादक बन जाते हैं। इस तरह नयी तालीम के द्वारा देश में शिक्षित तथा वैज्ञानिक मजदूरों का एक-वर्गीय समाज कायम हो जाता है।

समग्र ग्राम-सेवा का कार्य

गांधीजी उपर्युक्त मनोविज्ञान तथा शैक्षणिक कार्यक्रम मात्र से ही संतुष्ट नहीं थे। यह सही है कि अहिंसा में इन प्रक्रियाओं का सबसे अधिक महत्त्व है, लेकिन साथ ही अगर समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किया न जाय तो प्रतिकूल परिस्थिति में मनोवैज्ञानिक तथा शैक्षणिक कार्यक्रम भी विफल हो सकता है। इसलिए वे देश को एक महान् सामाजिक क्रान्ति के लिए तैयार करना चाहते थे। इस दिशा में उन्होंने मुल्क के सामने समग्र ग्राम-सेवा द्वारा जन-स्वावलंबन का कार्यक्रम

रखा। जहाँ वे हुजूरों के विवेक पर असर कर उन्हें मजूर बनने की प्रेरणा देते थे, वहीं वे देहाती उत्पादक-वर्ग के लोगों में इस बात की चेतना पैदा करना चाहते थे कि वे हुजूरों की उन सेवाओं को इनकार करने की शक्ति संगठित करें, जिनके बहाने हुजूर लोग उनका शोषण करते रहे हैं, अर्थात् बन्दर और बिल्ली की कहानी की भूमिका में अगर कहा जाय तो जहाँ वे बन्दरों को अपने-आप रोटी पैदा करके गुजर कर शोषण छोड़ देने की बात कहते थे, वहाँ बिल्लियों को अपने आप रोटी बाँटकर खाने का संदेश सुनाते थे, ताकि उन्हें किसी दूसरे के पास रोटी बटवाने की सेवा लेने के लिए न जाना पड़े।

उन्होंने इस आन्दोलन के लिए सबसे पहले नेतृत्व की तब्दीली की बात की। आज जितने भी आन्दोलन चल रहे हैं उनके नेतृत्व बाबू वर्ग के लोगों के ही हाथ में हैं, हालाँकि जिस प्रकार मैंने पहले भी कहा हैं, वे हितैषी बाबू लोग हैं। लेकिन वर्ग-हीन समाज कायम करने का नेतृत्व अगर ऐसे लोगों के हाथ में रहे, जिनमें उत्पादन करके अपना गुजारा करने की शक्ति नहीं है, तो आन्दोलन के सफल होने पर यह नेतृत्व बिना पैदा करके खाने का कोई-न-कोई जरिया ढूँढ़ लेगा, यानी वे स्वावलंबी समाज की बात न सोचकर संचालित समाज की ही बात करेंगे, क्योंकि ऐसे समाज में संचालक का काम करने के लिए उनकी आवश्यकता होगी अर्थात् नेतृत्व अगर जिनके हाथ में आज है उन्हीं पर रह गया तो आन्दोलन को धोखा होने की पूर्ण संभावना रहती है। इसलिए गांधीजी ने पहला नारा यह लगाया कि हमें इस समाज-क्रान्ति के लिए सात लाख नौजवान चाहिए, जो सात लाख गाँवों में जाकर वर्ग-परिवर्तन कर उत्पादक श्रम द्वारा अपना गुजारा करें और समग्र ग्राम-सेवा से प्रत्येक देहात

को स्वयंपूर्ण बनावें। यही कारण है कि आज विनोबा गांधी-मंत्र के आधार पर जो क्रान्ति चला रहे हैं, उसके सेवकों को गाँव-गाँव में सक्रिय रूप से उत्पादक श्रम करते हुए क्रान्ति का प्रचार करने को कहते हैं और क्रान्तिकारी संस्थाओं को श्रमदान के आधार पर ही अपना संघटन-चलाने को कहते हैं।

हुजूर मजूर बनें

गांधीजी ने यह स्पष्ट रूप से देख लिया था कि आज मजदूर-वर्ग बेहोश है। अतः उनका नेतृत्व किसी बाहोश व्यक्ति को ही करना होगा। ऐसा होश हुजूर-वर्ग के लोगों में ही है, अतः उन्हींको मजदूर बनकर नेतृत्व तब्दीली का उद्देश्य सिद्ध करना होगा। मजदूर से तो कहना होगा कि तुम अपना काम अपने-आप चलाओ और दूसरे द्वारा अपने को शोषित न होने दो, पर ऐसी बात कहे कौन ? क्या हम कहनेवाले उनसे यह बात कहें कि हम तुम्हें रास्ता बताने की सेवा देते हैं, अतः हमारी सेवा तो ले लो और उसके एवज में हमको बिना पैदा करके खाने दो लेकिन दूसरे की ऐसी सेवा लेने से इनकार करो जिससे वे बिना पैदा करके तुम्हारे श्रम से उत्पादित सामग्री का उपभोग न कर सकें, क्या ऐसा कहना सुसंगत होगा ? इस प्रकार विश्लेषण कर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्गहीन समाज की क्रान्ति के नेतृत्व के लिए सबसे पहले देश के हुजूर-वर्ग के नौजवानों को मजदूर बनकर मजदूरों में विलीन होना होगा और शोषण की प्रक्रिया से असहयोग करने का आन्दोलन चलाना होगा, वरना वर्गहीन समाज की बात कोरे आदर्श के रूप में रह जायगी।

इस तरह गांधीजी ने सात लाख नौजवानों को मजदूर बन-कर मजदूरों का प्रत्यक्ष नेतृत्व स्थापित करने के बाद देहाती जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आंतरिक व्यवस्था के

लिए स्वावलंबी बनाने का संगठन करने को कहा, जिससे वे समाज में अति विकसित व्यवस्थापकों तथा वितरकों के हाथ से मुक्ति पा सकें। इस दिशा में उन्होंने चरखा संघ आदि संस्थाओं के कार्यक्रमों में आमूल परिवर्तन किया, जिससे सभी कार्यक्रम पूर्ण ग्राम-स्वावलंबन की दिशा में चल सकें।

संक्षेप में गांधीजी ने परिवर्तन की दिशा में दुनिया को दुधारा मंत्र दिया। शोषक-वर्ग को शोषण छोड़कर उत्पादक बनने के लिए उनकी विवेक-बुद्धि को जाग्रत किया और शोषित-वर्ग को शोषण से असहयोग करने का संगठन करने को कहा, जिससे शोषक-वर्ग को अब शोषण करने की गुंजाइश नहीं रह जायगी, ताकि परिस्थिति की मजबूरी के कारण वे अपने को मजदूर बनाकर वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति की ओर अग्रसर हो सकें।

व्यक्ति नहीं, पद्धति बदलनी है

उपर्युक्त आन्दोलन के संदेश से उन्होंने दुनिया को एक नया मंत्र दिया। उन्होंने क्रान्ति का एक नया क्रान्तिकारी तरीका बताया। वस्तुतः व्यक्ति कुछ नहीं है, पद्धति ही असली चीज है। उसीके कारण मनुष्य सुखी या दुःखी होता है। अतः अगर दुःख से मुक्त होना चाहते हो तो पद्धति बदलो, न कि व्यक्ति। सच पूछिये, तो केन्द्रीय राज्यवाद तथा पूँजीवाद के कारण व्यवस्था-वितरण का जो कार्य है, उसीने हुजूरों की आवश्यकता की सृष्टि की और जब तक समाज में उस कार्य की आवश्यकता रहेगी तब तक यह वर्ग किसी-न-किसी नाम से कायम रहेगा। इसलिए गांधीजी विकेन्द्रित तथा स्वावलंबी उत्पादन और व्यवस्था द्वारा उस कार्य को ही समाप्त करना चाहते थे, जिसके

कारण आज की वर्ग-विषमता का संकट संसार भर में फैल गया है।

श्रम-विभाजन की बात

देश के पढ़े-लिखे लोगों को जब यह बात बताई जाती है तो वे कहते हैं कि आप एकतरफा बात कहते हैं। यह क्या जरूरी है कि सभी लोग शारीरिक और मानसिक दोनों श्रम करें? वे श्रम-विभाजन की बात करते हैं। वे कहते हैं कि आखिर सब व्यक्तियों की प्रकृति, प्रवृत्ति तथा संस्कृति एक-सी नहीं होती। वे कहते हैं कि प्रकृति की विचित्रता के कारण विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न शक्तियाँ होती हैं और समाज की उन्नति के लिए उन शक्तियों का पूर्ण उपयोग होना चाहिए। ऐसा कहकर श्रम-विभाजन के बहाने वे कुछ लोगों को मानसिक श्रमवाले और कुछ लोगों को शारीरिक श्रमवाले बनाने की बात करते हैं और कहते हैं कि दोनों ही श्रमिक होने के कारण एक ही वर्ग में शामिल हो सकते हैं। विनोबाजी के शब्दों में वे श्रमिक-वर्ग में भी राहु और केतु के रूप में वर्ग करते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक के रूप में दो वर्ग चलाने पर वर्गहीन समाज का उद्देश्य सिद्ध होगा? फिर तो मानसिक श्रमवाले शारीरिक श्रमवालों पर हुकूमत कर उनका शोषण ही करने लगेंगे।

यह कैसी प्रगतिशीलता?

आश्चर्य की बात यह है कि जो लोग मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक के रूप में दो वर्ग रखना चाहते हैं, वे प्राचीन वर्ग-व्यवस्था के खिलाफ हैं। वे अपने को प्रगतिशील कहकर वर्गप्रथा को प्रतिक्रियावादी व्यवस्था कहते हैं। वस्तुतः अगर बौद्धिक श्रमिक तथा शारीरिक श्रमिक यानी ब्राह्मण और शूद्र

रूपी दो वर्ग रखना है, तो समाज की उन्नति के लिए वर्ण-व्यवस्था ही ज्यादा व्यावहारिक है, क्योंकि अगर दो अलग ही वर्ग रखना है तो पैतृक गुण का लाभ समाज को क्यों न मिले ?

वे प्रकृति के नियम और विज्ञान की बात करते हैं। क्या उनके वैज्ञानिक प्राणितत्त्व में ऐसी बात भी है कि कुछ लोगों का केवल मस्तिष्क बना है और कुछ का शरीर ? कुदरत ने मनुष्य को शरीर और मस्तिष्क, दोनों दिये हैं। उसने मानव को बौद्धिक तथा शारीरिक शक्ति दोनों से विभूषित किया है, इसलिए कि प्रत्येक मनुष्य दोनों को चलाकर प्रकृति में से ही अपने को जिन्दा रखने का साधन निकाल ले और सृष्टि की रक्षा करता रहे। अगर मनुष्य इस नियम का उल्लंघन कर अपने को मानसिक श्रमिक और शारीरिक श्रमिक में विभाजित कर ले तो वह प्रकृति का विद्रोह करता है और प्रकृति इस द्रोह का प्रतिशोध लेकर ही रहेगी। आज हम दुनिया में जो वर्ग-विषमता का ज्वालामुखी देख रहे हैं, वह कोई खास बात नहीं है, वह प्रकृति द्वारा प्रतिशोध का प्रदर्शन-मात्र है। अतएव अगर हम समाज को स्थिर तथा शांत देखना चाहते हैं, तो हमें वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति बुलंद कर मानव-समाज से इस द्रोह का अन्त करना ही होगा।

भूदान-यज्ञ और वर्ग-परिवर्तन

संत विनोबा द्वारा प्रवर्तित भूदान-यज्ञ वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति का एक महान् तथा व्यावहारिक कदम है। वस्तुतः आज भूमिहीन मजदूर अत्यन्त शोषित-वर्ग है और इसका शोषण इसलिए होता है कि उत्पादन का मूल साधन, भूमि, पूँजी के कब्जे में है। भूमिपति, जिन्होंने पूँजी लगाकर जमीन प्राप्त की है, श्रमिकों के श्रम से लाभ उठाकर उच्च वर्ग यानी हुजूरवर्गीय बने हुए हैं। विनोबाजी, भूमि किसीकी संपत्ति नहीं है, यह सिद्धान्त बताकर

कहना चाहते हैं कि भूमि की उत्पादित सामग्री उन्हींके उपभोग में आनी चाहिए, जो उस पर श्रम करे। इस सिद्धान्त के अनुसार वे भूमिपतियों को भूमि पर श्रम कर अपने को मजदूर-वर्ग में परिवर्तित करके मजदूरों में विलीन होने को कहते हैं। भूमिदान कहता है कि जिनके पास अधिक भूमि है, वे जितने पर खुद अपने शरीर-श्रम से पैदा कर सकते हैं, उतनी अपने पास रखकर बाकी भूमि उनको दे दें, जो उस पर परिश्रम तो करते हैं, लेकिन जिनके पास भूमि नहीं है।

विनोबा की चेतावनी

विनोबाजी का भूमिपतियों से ऐसा करने को कहना कोई त्याग और मेहरबानी का आवाहन नहीं है। यह मानव-समाज की, देश की और उनकी निजी स्वार्थ-रक्षा के लिए एक सामयिक चेतावनी है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, आज की दुनिया में वर्ग-विषमता का संकट इस पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है कि हुजूरों के बोझ से मजदूर दबकर मर रहे हैं और अत्यधिक तादाद हो जाने के कारण पोषण के अभाव से हुजूर सूखकर मर रहे हैं। यही हालत थोड़े दिन जारी रही, तो दोनों के मरने पर सृष्टिनाश यानी सर्वनाश हो जायगा। लेकिन प्रकृति यानी सृष्टि की मूल प्रवृत्ति आत्मरक्षा है, इसलिए वह अपने को मरने नहीं देगी और जिन्दा रहने के लिए कोई-न-कोई उपाय निकालेगी। यही कारण है कि आज का जमाना पुकार-पुकारकर वर्गहीन समाज की माँग कर रहा है। मैंने कहा है कि वर्गहीन समाज दो ही तरीके से कायम हो सकता है। मजदूर द्वारा हुजूरों का कत्ल या हुजूरों का मजदूर बनकर मजदूरों में विलीन होना। आज विनोबा महात्मा गांधी के विलीनीकरण के मंत्र से हुजूर-वर्ग को दीक्षित

करना चाहते हैं। अगर हुजूर घृणा, शान या क्रोध के कारण इस दीक्षा को इनकार करते हैं, तो वे देश और दुनिया और उनके साथ-साथ अपने को ज्वालामुखी के मुख पर ढकेलते हैं।

नौजवान आगे बढ़ें

वस्तुतः आज भारत के नौजवानों पर एक बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी है। आज के युग ने एक महान् चुनौती दी है। इस चुनौती की बात को विनोबाजी देश भर में घूमकर लोगों तक पहुँचा रहे हैं। वह बात है कि क्या नौजवान वर्ग-विषमता के ज्वालामुखी को सामान्य प्रकृति के हाथ में छोड़कर, उसे प्रज्वलित होने देकर सृष्टिनाश यानी सर्वनाश होने देंगे या प्रकृति पर पुरुष के नियंत्रण से सर्वनाश को टालकर सर्वोदय की स्थापना करेंगे? यह तो स्पष्ट ही है कि वर्ग-विषमता का जो महान् संकट आज दुनिया में खड़ा है वह ज्यों-का-त्यों स्थिर नहीं रह सकता। वर्ग-संघर्ष या वर्ग-परिवर्तन किसी-न-किसी रूप में कोई-न-कोई आन्दोलन खड़ा होकर ही रहेगा। अगर जवान अपने पुरुषार्थ से इस चुनौती के जवाब में वर्ग-परिवर्तन की महान् क्रान्ति कर इस विषमता की आग को सहज में ही बुझा नहीं सकेंगे, तो पुरुष के पुरुषार्थ के अभाव में वर्ग-संघर्ष की जो आग पहले से ही सुलग चुकी है, प्रकृति देवी उसीको अपना सहारा बनाकर वर्ग-विषमता दूर करने की कोशिश करेगी। उससे विषमता की आग बुझने के बजाय और प्रज्वलित होकर संसार को सर्वनाश की ओर ले जायगी।

मुझे आशा ही नहीं, बल्कि विश्वास है कि भारत के नौजवान अपनी काहिली और कायरता के कारण इस चुनौती को यों ही न जाने देंगे, बल्कि संत विनोबा द्वारा प्रवर्तित अहिंसक क्रान्ति में हजारों की तादाद में अपनी आहुति देकर अपनी पीढ़ी की शान और आन की रक्षा करेंगे।

प्रश्न—आपने वर्गविहीन समाज कायम करने के लिए जो दो तरीके बताये हैं, उसमें हिंसा के प्रति अन्याय किया है। आपने कहा है—"एक हिंसात्मक तरीका और दूसरा अहिंसात्मक क्रांति।" माना कि आप हिंसा को अवांछनीय मानते हैं, लेकिन वह क्रान्ति नहीं है, ऐसा कहना ज्यादती नहीं है क्या ?

उत्तर—आपके प्रश्न से ऐसा मालूम होता है कि आपने क्रांति किसे कहते हैं, इस पर गंभीर विचार नहीं किया। क्रांति का मतलब विध्वंस नहीं, बल्कि परिवर्तन है। एक व्यक्ति क्रान्ति करना चाहता है, इसका मतलब यह है कि वह लोगों की धारणा तथा मूल्यांकन में परिवर्तन लाना चाहता है और जब वह समझता है कि लोगों में परिवर्तन हो नहीं सकता तब वह कत्ल करता है; अर्थात् हिंसा अविश्वास का इजहार है। ऐसी अविश्वासी प्रवृत्ति से क्रांति सध सकती है क्या ?

आप इतिहास के पन्नों में देखेंगे कि हिंसात्मक क्रांति के नाम से संसार में जहाँ कहीं कुछ हुआ है, वहाँ और चाहे जो कुछ हुआ हो, क्रांति की सिद्धि नहीं हुई है, अर्थात् परिवर्तित समाज स्थापित नहीं हुआ है। कुछ लोगों ने हिंसा द्वारा दमन करके समाज को एक ढाँचे में ढालने की कोशिश की और इस परिवर्तन को अनंतकाल तक दबाकर कायम रखने की चेष्टा की। तो आप कैसे कह सकते हैं कि समाज में परिवर्तन हुआ ? अगर हिंसा द्वारा समाज में कोई परिवर्तन हुआ दीखता है और उसे हिंसा द्वारा दबाकर ही कायम रखना पड़ता है, तो परिवर्तन

हुआ, ऐसा नहीं कह सकते। क्रांति की सिद्धि की पहचान परिवर्तित समाज के सहज छोड़ने पर ही हो सकती है। अगर परिवर्तित स्थिति अपने-आप स्थिर नहीं रह सकती, तो वह क्रांति नहीं, क्रांति की भ्रांति मात्र है।

आजकल चिकित्सा-शास्त्र में डायबिटीज रोग का एक इलाज निकला है। रोगी को आजीवन प्रतिदिन इंजेक्शन लेना पड़ता है। एक दिन भी इंजेक्शन न ले, तो उसके शरीर की शक्कर उभड़ आती है, और इसे डाक्टर लोग इलाज कहते हैं। क्या आप कह सकते हैं कि वह रोगी रोगमुक्त हो गया? इसी तरह अगर लगातार गोली के निशाने पर समाज का मुँह एक दिशा में रखने की जरूरत पड़े, तो क्या आप कह सकते हैं कि उसका मुँह उधर ही हो गया?

इसलिए मेरा कहना है कि अगर वास्तविक क्रांति करनी है, तो वह अहिंसा से ही सिद्ध हो सकती है, क्योंकि अहिंसा स्थायी रूप से मनुष्य की धारणा तथा समाज के मूल्यांकन में परिवर्तन करती है।

प्रश्न—लेकिन आज हिंसा इतनी बढ़ रही है कि उसने गांधीजी को भी कत्ल कर दिया। सारे संसार में एटम बम इत्यादि शस्त्रों के बनाने की होड़ लगी हुई है। ऐसी स्थिति में अहिंसा कैसे चलेगी?

उत्तर—इसीलिए तो आज अहिंसा चलनेवाली है। क्रांति का जन्म तभी होता है, जब संसार में प्रतिक्रियावादी शक्ति पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। दूसरी ओर से क्रांतिकारी शक्ति का जन्म होते ही प्रतिक्रियावादी शक्ति आत्मरक्षा की अन्तिम चेष्टा में अपनी शक्ति भर विराट् रूप धारण करती है। कंस का

अत्याचार बढ़ने पर कृष्ण का जन्म हुआ और कृष्ण का जन्म लेते ही कंस का अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। लेकिन आपने देखा कि बालक कृष्ण को पालनेवाली यशोदा और गोकुलवासी, कंस के अत्याचार से किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हुए और विश्वास के साथ कृष्ण को मक्खन खिला-खिलाकर मजबूत किया। पुराण की कहानी में कंस विनाशकारी शक्ति थी और कृष्ण क्रांतिकारी।

उसी प्रकार आज के युग में हिंसा की विनाशकारी शक्ति को बढ़ते देख गांधीजी ने अहिंसा की क्रांतिकारी शक्ति पैदा की। तभी से हिंसा के विकास की भी तेजी बढ़ी। इस हिंसा का विकास देखकर आपको घबड़ाना नहीं चाहिए, बल्कि गोकुलवासी की तरह विश्वास के साथ अपनी जिन्दगी और तपस्या से सींचकर इस क्रांतिकारी शक्ति को बढ़ाना चाहिए। फिर आप देखेंगे कि आज हिंसा चाहे जितना विराट् रूप धारण किये हुए हो, उसकी समाप्ति अवश्यम्भावी है। आज शान्ति के दूत के रूप में पण्डित जवाहरलाल नेहरू का विश्व भर में जो स्वागत हो रहा है, वह इसी दिशा का प्रतीक है।

प्रश्न—आपने वर्ग-परिवर्तन की बात की है, वर्ग-संघर्ष को कतई स्थान नहीं दिया है। इससे आपने सृष्टि के एक बुनियादी तत्त्व को ही इनकार किया है। आखिर वर्ग-संघर्ष भी तो अहिंसक ढंग से किया जा सकता है। गांधीजी और विनोबाजी भी तो हमेशा सत्याग्रह की बात करते हैं। क्या यह संघर्ष का ही अहिंसक रूप नहीं है ?

उत्तर—मालूम होता है कि आप अभी भी रूढ़ विचार के बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। नयी क्रांति की बात समझने के लिए स्वतंत्र विचार की आवश्यकता है। आखिर उद्देश्य क्या है ?

साम्य की प्रतिष्ठा या वर्ग-संघर्ष? वस्तुतः कठिनाई यह है कि अधिकांश लोग अपने सामने गणेशजी जैसी एक मूर्ति रखकर अहिंसक क्रांति की आराधना करना चाहते हैं—यानी हिंसा के आधार पर जो धारणाएँ और मूल्यांकन रूढ़ हो चुके हैं, उसके सारे कलेवर को ज्यों-का-त्यों कायम रखते हुए उसके सिर से हिंसा काटकर अहिंसा रख देने मात्र में ही अहिंसक क्रांति की मूर्ति बन जाती है, ऐसा मानते हैं। लेकिन बात ऐसी नहीं है। अहिंसक क्रांति एक स्वतंत्र तथा मौलिक वस्तु है। आखिर अहिंसा में संघर्ष कहाँ? अहिंसा के मूल में तो सहयोग ही है।

वस्तुतः यह समझना ही गलत है कि प्रकृति का मूल तत्त्व संघर्ष ही है। ऐसा समझना पश्चिमी एकांगी विचार के असर का नतीजा है। हाँ, इतना आप कह सकते हैं कि प्रकृति में संघर्ष भी है। लेकिन संघर्ष और सहयोग में सहयोग की ही प्रधानता है। प्रकृति के सारे हिस्से एक-दूसरे से बँधे हैं और उनमें सामंजस्य तथा संतुलन है। वह वस्तुस्थिति ही सहयोगिता का प्राधान्य साबित करती है। अगर संघर्ष की प्रधानता होती, तो सारी सृष्टि कब की बिखर गयी होती।

यह सही है कि अहिंसा के क्षेत्र में भी विचार-भेद होता है, लेकिन इस भेद से विचार-संघर्ष पैदा नहीं होता, बल्कि विचार-मंथन होता है। मंथन के नतीजे से आचार निर्दिष्ट होता है और सहयोग के आधार पर वह आचार मूर्तिमान होता है।

आपके प्रश्न से दीखता है कि गांधीजी या विनोबाजी के सत्याग्रह की बात पर आपने गहराई से सोचा नहीं है। इसलिए जरूरी है कि आपको सत्याग्रह और संघर्ष के बारे में स्पष्ट धारणा हो। सत्याग्रह का मतलब विरोध नहीं है। सत्य के लिए आग्रह ही सत्याग्रह है। हम इस सत्य को मानते हैं कि भूमि

उसके पास होनी चाहिए, जो उस पर परिश्रम करे। इस सत्य को स्थापित करने के लिए घर-घर भूमि माँगना सत्याग्रह है और निर्भय होकर अपने हक पर डटे रहना भी सत्याग्रह है। अगर कोई किसान बेदखल होता है और निर्भय होकर वह उस जमीन पर डटा रहता है, तो विरोध वह किसीका नहीं करता है। सिर्फ इतना ही करता है कि कापुरुष जैसा अपने हक को छोड़कर भाग नहीं जाता।

संघर्ष में दोनों पक्षों की ओर से वार होता है। सत्याग्रह में ऐसा नहीं होता। सत्याग्रही अपने सत्य-पक्ष पर स्थिर रहता है और दूसरे पक्ष के वार से दबने से इनकार मात्र करता है। यह संघर्ष नहीं, सत्याग्रह है। जो लोग अहिंसक क्रांति की बात सोचते हैं, उन्हें इस तत्त्व को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, अन्यथा वे अहिंसा का नाम लेते रहेंगे, लेकिन पुरानी धारणाओं के कारण अपने काम में दिग्भ्रष्ट होकर प्रच्छन्न हिंसा की ओर बहकेंगे। अन्ततोगत्वा वे विफलता के गर्त में गिरेंगे और परिस्थिति को प्रतिक्रांतिकारी शक्ति के हाथ में सौंप देंगे।

प्रश्न—भूमिदान-यज्ञ से भूमि का बँटवारा हो जायगा, यह तो समझ में आता है, लेकिन आज जो बड़े-बड़े पूँजीपतियों के पास संपत्ति पड़ी है, उसका बँटवारा कैसे होगा और उसके लिए आप कौन-सा कार्यक्रम और आन्दोलन चलाना चाहते हैं?

उत्तर—इसीके लिए तो विनोबाजी ने संपत्ति-दान की बात शुरू की है। कोई भी व्यावहारिक क्रान्तिकारी एक-एक करके कदम उठाता है। विनोबाजी ने पहले भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन शुरू किया। जब उन्हें मालूम हो गया कि भूमिदान-यज्ञ का पैर जम गया, तो संपत्तिदान की बात की और अब इस पर जोर भी देने लगे हैं। यह सही है कि अभी आमदनी का ही छठा हिस्सा

माँगा जा रहा है; लेकिन विनोबाजी हमेशा कहते हैं कि उनकी यह माँग पहली किस्त की माँग है। उन्हींके शब्दों में कहें; तो वे संपत्ति के अन्दर एक फच्चर ठोंक देना चाहते हैं। क्रमशः आपको मूल पूँजी का दान भी माँगना होगा।

दूसरी ओर वे भूमिदान-यज्ञ और केन्द्रित-उद्योग-बहिष्कार को सीता-राम की तरह अभिन्न मानते हैं। भूमि-वितरण-आंदोलन के तरीके में और संपत्ति-वितरण-आंदोलन के तरीके में फर्क है। अगर किसी राजा से सारी जमीन मिल जाय, तो उसे खंडित कर उत्पादकों में बाँटा जा सकता है, लेकिन पूँजीपति से अगर सारा-का-सारा कारखाना मिल जाय, तो उसके टुकड़े करके बाँटा नहीं जा सकता। इसलिए इस दिशा में दोरुखा आंदोलन चलाना पड़ेगा। एक ओर से संपत्तिवान तथा पूँजीपतियों से संपत्ति और पूँजी का दान माँगना होगा और दूसरी ओर से केन्द्रित-उद्योग के बहिष्कार और ग्रामोद्योग के संगठन का आंदोलन चलाकर उद्योगों को विकेंद्रित करना होगा। देश के विकेंद्रित उद्योगीकरण के बाद लोगों के पास जो पूँजी एकत्रित हुई है, वह अनुत्पादक होकर खत्म हो जायगी। संपत्तिदान-यज्ञ से इस प्रकार की पूँजी के खत्म होने की प्रक्रिया में वेग आयगा।

यह सही है कि कुछ ऐसे उद्योग रह जायँगे, जिन्हें केन्द्रित ढंग से ही चलाया जा सकता है। ऐसे उद्योग पूँजी-निरपेक्ष नहीं हो सकेंगे। ऐसे उद्योगों को श्रमिकों की सहकारी समिति के हाथ में सौंपना होगा। संपत्तिदान-यज्ञ का आन्दोलन आगे बढ़ने पर आपको पूरा-का-पूरा कारखाना भी मिलेगा। और जैसे पूरा-का-पूरा गाँव मिलने पर उसकी व्यवस्था हम अपने आदर्श के अनुसार चलाने की कोशिश करते हैं, उसी तरह पूरा-

का-पूरा कारखाना मिलने पर उसे सामूहिक रूप से श्रमिकों द्वारा चलवाने का प्रयोग भी करेंगे और क्रमशः सारे अनिवार्य केंद्रित उद्योगों को श्रमिकों के हाथ में सौंप देने का आंदोलन चलायेंगे। ये सब कार्यक्रम संपत्तिदान-यज्ञ के अन्तर्गत हैं।

पुरानी धारणा के अनुसार आप कह सकते हैं कि ये सरकार के हाथ में क्यों न जायँ। लेकिन अगर आपको शासनहीन समाज कायम करना है तो सारा कार्यक्रम उसी दिशा में होना चाहिए। हमको दंड-शक्ति को क्षीण करने की बात सोचनी चाहिए, न कि उसे मजबूत करने की। वर्षों से देश के नेता शासन और न्याय-विभाग को अलग करने का आन्दोलन कर रहे हैं। हम ऐसा क्यों चाहते हैं? इसलिए कि हमारी राय में अगर शासन और न्याय एक ही हाथ में रहेगा, तो न्यायशक्ति को शासन के क्षेत्र में इस्तेमाल किया जायगा। इसी तरह अगर हम दमन का साधन और उत्पादन का साधन एक ही हाथ में रखेंगे, तो उत्पादन को दमन के काम में लाकर दंड-शक्ति अपने को मजबूत बनाने की कोशिश करेगी। यही कारण है कि हम अनिवार्य केंद्रित उद्योगों को भी सरकार के हाथ में न रखकर जनता द्वारा चालित स्वतंत्र और सामूहिक संस्था के हाथ में सौंपना चाहते हैं।

प्रश्न—पश्चिमी औद्योगिक मुल्कों में भी विकेंद्रीकरण की बात की जा रही है, तो उसमें और सर्वोदयी विकेंद्रीकरण में क्या फर्क है?

उत्तर—पश्चिम में जो विकेंद्रीकरण की बात करते हैं, उसमें उत्पादन की पद्धति बदलने की बात नहीं है। वे पूँजीवादी पद्धति को बदलकर श्रमवादी पद्धति नहीं कायम करना चाहते। उनका

विकेंद्रीकरण भौगोलिक है, यानी बम्बई में सारी कपड़े की मिल न होकर जिन इलाकों में रूई पैदा होती है, उन इलाकों में जगह-जगह एक-एक मिल रखी जाय।

एक दूसरे किस्म का विकेंद्रीकरण जापान में चल रहा है। उसमें कुछ-कुछ कुटीर-उद्योगों की बात भी है, लेकिन वह पूँजी-निरपेक्ष स्वावलम्बी पद्धति नहीं है। वह केंद्रित पूँजी संचालित दस्तकारी पद्धति है।

प्रश्न—लेकिन आज के वैज्ञानिक युग में ग्रामोद्योगी विकेंद्रीकरण कैसे चलेगा? क्या आप विज्ञान को स्वावलम्बन की बलिवेदी पर चढ़ाना चाहते है?

उत्तर—यह सवाल प्रायः सभी आधुनिक पढ़े-लिखे लोगों के दिमाग में आता है। इसका कारण यह है कि लोग विज्ञान का मतलब नहीं समझते। विज्ञान कोई एकांगी वस्तु नहीं है, वह तो प्रकृति के सर्वांगीण नियम के आधार पर बना है। किन्तु लोगों ने शायद विज्ञान का मतलब सिर्फ यंत्र-शास्त्र समझ लिया है। विज्ञान केवल यंत्र-शास्त्र नहीं है। राजनीतिशास्त्र, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, शरीर-तत्त्व आदि सब विज्ञान के विभिन्न अंग हैं। जो चीज विज्ञान के सारे अंगों का सामंजस्य नहीं रख सकती, वह अवैज्ञानिक है। कोई यंत्र यंत्र-शास्त्र के अनुसार पूर्ण होने पर भी यदि राजनैतिक, आर्थिक या मनो-वैज्ञानिक संतुलन की रक्षा नहीं कर सकता तो, वह अवैज्ञानिक यंत्र है और उसका इस्तेमाल विज्ञान के खिलाफ है। इसलिए हम उन यंत्रों को अवैज्ञानिक मानकर त्याज्य कहते हैं, जिनके प्रचलन से राजनैतिक तानाशाही, आर्थिक बेकारी या अन्यान्य मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दोषों की सृष्टि होती है। एक

छोटी-सी मिसाल लीजिए—खाद्य का वैज्ञानिक उद्देश्य स्वास्थ्य-रक्षा है। अगर किसी किस्म की आटा पीसने या तेल पेरने की मशीन से निकले हुए आटे या तेल का खाद्य-गुण घट जाता है, तो वह मशीन भले ही यंत्र के हिसाब से वैज्ञानिक हो, लेकिन खाद्य-उत्पादन के औजार के रूप में अवैज्ञानिक समझी जायगी। फिर यंत्रशास्त्र एक शास्त्र है, कोई मशीन मात्र नहीं है। एक ही वैज्ञानिक नियम से छोटा या बड़ा यन्त्र बनता है। अगर मशीन छोटी हो, तो लोगों की धारणा में अवैज्ञानिक है और बड़ी हुई, तो वैज्ञानिक हो जाती है, ऐसा सोचना ठीक उसी प्रकार है जैसे देहात के लोग बैंगन, कुम्हड़ा आदि के मामले में, यदि चीज छोटी हो तो उसे देशी और बहुत बड़ी हो जाने पर विलायती कहते हैं। आपको समझना चाहिए कि छोटी मशीन के आविष्कार में वैज्ञानिक बुद्धि अधिक लगानी पड़ती है।

दरअसल हम स्वावलम्बन की बलिवेदी पर विज्ञान को बलिदान नहीं करना चाहते, बल्कि आज की दुनिया में वैज्ञानिक विकास के नाम पर विज्ञान की जो हत्या चल रही है, उसे रोकना चाहते हैं।

प्रश्न—आपने यह कहा है कि गांधीजी ने शिक्षा के लिए वर्तमान हुजूर बनाने के कारखानों को बन्द करके सारी शिक्षा-योजना शरीर-श्रम द्वारा उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से ही हो, ऐसा कहकर वर्ग-परिवर्तन के लिए सक्रिय मार्ग उपस्थित किया था। इस पद्धति का स्वरूप आज तक स्पष्ट नहीं हुआ है। क्या आप इस पर ब्यौरेवार प्रकाश डालेंगे ?

उत्तर—मैंने बताया है कि सहकारी समाज में प्रत्येक व्यक्ति का आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्तर समान होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि समाज की प्रत्येक प्रक्रिया ही शिक्षा का

माध्यम बने, अन्यथा प्रत्येक मनुष्य पूर्ण रूप से शिक्षित हो ही नहीं सकता।

मानव-समाज में जितने कार्यक्रम हैं, वे मुख्यतः तीन हिस्सों में बाँटे जा सकते हैं :

(१) उत्पादन की प्रक्रिया,
(२) समाज-व्यवस्था,
(३) प्रकृति के साधनों की खोज।

प्रत्येक मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक इन तीन कार्यक्रमों में से किसी-न-किसी कार्यक्रम में लगा रहता है। यही कारण है कि गांधीजी ने इन तीनों कार्यक्रमों को शिक्षा का माध्यम माना है और यह कहा है कि शिक्षा की अवधि जन्म से मृत्यु तक होती है।

पहले उत्पादन की प्रक्रिया को लीजिये। उत्पादन के दो हिस्से हैं—कृषि और उद्योग। कृषि का काम शिक्षा के सभी स्तरों के माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है, लेकिन जैसा कि मैंने कहा है, सर्वोदय समाज में उद्योगों के तीन प्रकार होंगे—गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग और राष्ट्र-उद्योग।

गृह-उद्योग की प्रक्रिया बुनियादी दर्जों के लिए माध्यम होगी। ग्राम-उद्योग की प्रक्रिया उत्तर बुनियाद के लिए और राष्ट्र-उद्योग की प्रक्रिया उत्तम बुनियादी यानी विश्वविद्यालय के दर्जों के लिए माध्यम रहेगी। इस प्रकार उद्योग के सभी प्रकार शिक्षा के माध्यम के रूप में शिक्षण-संस्थाओं के मातहत हो जायँगे। फिर आज जो एक बहस चलती रहती है कि केन्द्रित उद्योग सरकार के हाथ में या व्यक्तिगत पूँजीपति के हाथ में या स्वतंत्र संस्था के हाथ में रहेगा, वह खतम हो जायगी। वह

किसीके हाथ में नहीं रहेगा। वह शिक्षण-प्रक्रिया का अंग होकर चलता रहेगा।

सामाजिक वातावरण का माध्यम इस प्रकार से इस्तेमाल किया जा सकेगा—पुरानी तालीम में शिक्षक छात्रों को घर के लिए सबक दिया करते हैं, उसी तरह समाज-व्यवस्था, सर्वे आदि के विषय में नयी तालीम के विद्यार्थियों को घर के लिए सबक देना होगा। विभिन्न कक्षाओं के लिए हलके और कठिन तरह-तरह के सबक होंगे और उनके माध्यम से विभिन्न विषयों की जानकारी करायी जायगी। इस प्रकार समाज-व्यवस्था भी जब शिक्षण के माध्यम के रूप में इस्तेमाल होगी, तब संचालित समाज के स्थान पर स्वावलम्बी समाज सहज ही चल सकेगा। उस समय ग्राम-पंचायत गाँव की संचालिका न होकर शिक्षार्थियों के शिक्षक के रूप में रहेगी।

उसी तरह प्राकृतिक साधनों की खोज के कार्यक्रम भी योजनापूर्वक शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने होंगे।

यह योजना की सामान्य रूपरेखा है। अधिक ब्यौरे के लिए आपको प्रत्यक्ष कार्य में लगना होगा।

●

ग्रा म - रा ज

धीरेन्द्र मजूमदार

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक
अ० वा० सहस्रबुद्धे
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ
वर्धा (म० प्र०)

प्रथम संस्करण : १५,०००
अक्तूबर, १९५५
मूल्य : चार आना

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

हमारे गाँव

हिन्दुस्तान शहरों में नहीं है। हिन्दुस्तान गाँवों में बसता है। इसलिए अगर हम अपने ग्रामीणों के जीवन में सुधार, विकास कर सकें, तो बाकी का कुल सुधार अपने आप हो जायगा।

आज सम्पत्ति देहात से शहरों में होकर विदेश चली जाती है। इस प्रवाह को बदल देने की जरूरत है जिससे देहाती सम्पत्ति देहात में ही रहे और देहात स्वावलम्बी बनें।

आदर्श भारतीय ग्राम इस तरह बसाया और बनाया जाना चाहिए कि जिससे वह सम्पूर्ण तथा नीरोग रह सके। आवश्यकतानुसार गाँव में कुएँ हों जिनसे गाँव के सब आदमी पानी भर सकें, सबके प्रार्थना-घर या मन्दिर हों। सार्वजनिक सभा आदि के लिए एक अलग स्थान हो। गाँव की अपनी गोचर भूमि हो। सहकारी तरीके की एक गौशाला हो। ऐसी प्राथमिक और माध्यमिक शालाएँ हों, जिनमें औद्योगिक शिक्षा सर्वप्रधान रखी जाय। गाँव के अपने मामलों का निपटारा करने को एक ग्राम-पंचायत भी हो। अपनी आवश्यकता के लिए अनाज, साग-भाजी, फल, खादी इत्यादि खुद गाँव में ही पैदा हों। एक आदर्श गाँव की मेरी अपनी यह कल्पना है।

—गांधी

विषय-सूची

ग्रा म - रा ज

: १ :

बंदर का न्याय

आप सब देहात के लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं, विनोबा की बात सुनने के लिए और उनके द्वारा चलाये हुए भूमिदान-यज्ञ को समझने के लिए। चार साल हो गये, विनोबा गाँव-गाँव जमीन माँगता घूम रहा है और साथ-साथ देश की जनता को इन्सानियत का पाठ पढ़ा रहा है। विनोबा का भूदान-यज्ञ आज देश का बच्चा-बच्चा जान गया है, लेकिन उसकी तह में कौन-सा विचार है, उसका आखिरी मकसद क्या है, आदि बातों का ज्ञान आप गाँववालों को कौन कहे, शहरों में रहनेवाले बड़े-बड़े पंडितों को भी नहीं है। इसलिए आज मैं आप सबको इस आन्दोलन की तह में ले जाना चाहता हूँ।

यह तो आप सब आपस में कहते ही होंगे कि देश में गांधी का एक बड़ा चेला, महान् संत, विनोबा घूम-घूमकर जमीन बाँट रहा है, गरीबों की गरीबी दूर करने के लिए। लेकिन आपको इस बात पर विचार करना होगा कि क्या इस तरह जमीन बाँटने से गरीबों की गरीबी दूर होगी? सत-युग से आज तक दान-पुण्य की परंपरा हमारे देश में रही है, फिर भी यह देश धीरे-धीरे

कंगाल हो गया। आज गाँव-गाँव में एक ही सवाल खड़ा है—रोटी, रोजी और कपड़ा। दूसरे धन-दौलत की बात तो दूर है, जब देश में रोटी-कपड़े का ही सवाल खड़ा हो गया है तो कौन, किसको और किस चीज का दान देगा, जिससे देश की गरीबी दूर हो सके ?

आज नहीं, हमेशा ही ऐसा हुआ है कि हम लोग जो शहर-वासी पढ़े-लिखे बाबू लोग हैं, उनमें से कुछ दयालु व्यक्ति निकलते हैं, जिनका दिल गरीबों की गरीबी के लिए तड़पता रहता है। अमीरों की इस दया-भावना को देखकर संत महापुरुषों ने उन्हें दरिद्रनारायण की सेवा का धर्म-ज्ञान दिया है। इस धर्म के पालन के लिए अमीर लोग दरिद्रनारायण की तलाश में निकले। इस युग में महात्मा गांधी ने कहा कि दरिद्रनारायण की बस्ती देहात में है। इसलिए उनकी सेवा करनी है तो आप सब देहातों में चले जाइये।

अब सवाल यह उठता है कि देहात के लोग दरिद्र क्यों हैं ? आखिर देश की सारी दौलत की जड़ तो देहात में ही है, क्योंकि खेती वहीं होती है। शहरों की बड़ी-बड़ी कोठियों की छत पर सम्पत्ति का निर्माण नहीं हो सकता। फिर भी हालत यह है कि जो देहात सारी सम्पत्ति पैदा करते हैं वे ही दरिद्र हैं और हम लोग जो शहर के रहनेवाले हैं, अमीर बनकर आप दरिद्रों की सेवा करने के लिए व्याकुल रहते हैं। यह अजीब बात है। मैं आपको इसी बात पर विचार करने के लिए कहूँगा।

एक मिसाल लीजिये। आप लोग मिट्टी का कोई टीला बनाना चाहते हैं, तो उसके लिए गड्ढा खोदकर मिट्टी लेते हैं। फिर टीले पर घर बनाकर उसमें रहने लगते हैं। आपका घर

देखने में सुन्दर मालूम होता है, लेकिन उस सुन्दरता को बनाने में आप जो चारों तरफ गड्ढा खोदते हैं, उसमें बरसाती पानी जमा होता है। कचरा भी उसमें जमा होकर सड़ता है। फिर उसमें से मच्छर, बदबू, रोग आदि पैदा होते हैं और फैलते हैं; जिससे आपकी शांति में बाधा पहुँचती है। आप सोचते हैं कि इन गड्ढों को पाटना चाहिए। तब आप क्या करते हैं? उस टीले में से अगर कुछ मिट्टी खुरचकर डालने की बात आप सोचेंगे तो गड्ढा नहीं पटेगा। दूसरे स्थान से मिट्टी लाकर पाटना चाहेंगे तो दूसरे स्थान पर गड्ढा हो जायगा। फिर वहाँ पर कुछ दिनों के बाद वही समस्या पैदा होगी। ऐसी हालत में गड्ढे की समस्या का हल क्या होगा, यह आप ही सोच सकते हैं। उसका सही हल तो पूरे टीले को गड्ढे में डालकर उसे जमीन की सतह के बराबर लाने में ही है।

उसी प्रकार आप कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि बड़े-बड़े शहरों में बड़ी-बड़ी कोठियों के जो टीले देखते हैं, उनका निर्माण देहाती कमाई करनेवाले देहाती मजदूरों के पेट में गड्ढा करके हुआ है। काफी गड्ढे हो जाने पर उनका करुण-क्रन्दन हमारे कानों में पहुँचता है। उस रोने की आवाज से हम बेचैन होते हैं और उनके प्रति हमारे दिलों में करुणा और दया की भावना पैदा होती है। फिर हम अपनी बेचैनी को शांत करने के लिए उन बेचारे देहाती मजदूरों की सेवा करने की बात सोचते हैं। तो अब बताइये, उनकी सेवा कैसे हो, जिससे उनके पेट का गड्ढा पाटा जा सके। आप थोड़ा विचार करें कि आखिर हम इसके लिए करते क्या हैं?

इस सेवा-कार्य के लिए हम सम्पत्ति के उन टीलों के पास

पहुँचते हैं। उनमें से थोड़ा-सा खुरचकर चन्दे के रूप में हम इकट्ठा करते हैं और उस फंड में से अस्पताल खोलकर गरीबों को कुछ दवा बाँटते हैं। कुछ रूई ले जाकर चरखा चलवाते हैं, खादी बनाकर उन्हीं टीलों के हाथ बेचते हैं इस प्रकार उन टीलों में से और थोड़ी सम्पत्ति खुरचकर गाँववालों को वापस करते हैं। इसी तरह दूसरे ग्रामोद्योगों के द्वारा भी कुछ राहत पहुँचाने की कोशिश करते हैं। आप लोग भी इसके लिए आशीर्वाद देते रहते हैं। लेकिन आप बतायें कि क्या इस तरीके से कभी पूरा गड्ढा पटेगा? इससे अधिक-से-अधिक इतना ही होगा कि सदियों से शोषण और दमन के कारण दरिद्रनारायण जो बेहोश हो गया है, इस राहत से होश पाकर चिल्लाने की स्थिति में आ जायगा।

अतएव आज जब विनोबा दरिद्रनारायण की बुनियादी समस्या हल करने के लिए निकला है, तो आपको इस ऊपरी राहत की बात छोड़कर समस्या की बुनियादी बात पर पहुँचना होगा और उसका हल निकालना होगा। यह हल भी दूसरे लोग आपके लिए नहीं निकाल सकेंगे। खुद आपको ही उसे ढूँढ़ना होगा। हम टीले पर बैठे हुए जब कभी आपकी समस्याओं की बात सोचेंगे, तो थोड़ा-थोड़ा टीला खुरचने की बात करेंगे। लेकिन पूरे टीले को ढहा देने की बात हमारे दिमाग में आ ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें हमारी आत्मरक्षा का सवाल है। इसीलिए मैं कहता था कि विनोबा के आन्दोलन की तह में क्या है, इस पर विचार करने की जिम्मेवारी आपकी ही है।

महात्मा गांधी ने इसी बुनियादी समस्या का हल बताने के लिए जन्म लिया था। उन्होंने देश भर में अहिंसक समाज कायम

करने का सुझाव दिया था। अहिंसक समाज का मतलब यह है कि कोई किसी का हिस्सा न ले और सब अपनी मेहनत की कमाई खायें। लेकिन यह हो कैसे? आज तो दुनिया की हालत विचित्र हो गयी है। किसान और मजदूर की पैदावार चाट जानेवाले बहुत लोग पैदा हो गये हैं। वह भी किसान के घर में सीधे डाका डालकर नहीं, बल्कि उनकी तरह-तरह की सेवा करने के बहाने से। बाबू लोग क्या सेवाएँ करते हैं, उनका स्वरूप क्या है, यह आप सबको समझ लेना चाहिए।

सबसे बड़ी सेवा तो राज्य-व्यवस्था की है। आप सब नासमझ हैं, इन्तजाम नहीं कर सकते हैं, इसलिए आपका इन्तजाम हम कर देते हैं, महज मजदूरी लेकर। यह तो आप सब जानते ही हैं कि बच्चे पर दया उसके माँ-बाप ही कर सकते हैं, दूसरे नहीं। तो जो धन-दौलत है उस पर भी रहम उसे पैदा करनेवाले ही कर सकते हैं। हम इन्तजाम करनेवाले तो उसे पैदा नहीं करते, इसलिए उसे बेरहमी से इस्तेमाल करते हैं और इस कारण हक से ज्यादा खा भी लेते हैं। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए मैं आपको बचपन में पढ़ी एक कहानी सुनाना चाहता हूँ। आपमें से जो लोग पढ़े-लिखे हैं, उन्होंने यह कहानी पढ़ी भी होगी।

कहानी है बन्दर और बिल्ली की। दो बिल्लियाँ बड़ी मेहनत से कहीं से कुछ खोआ लायीं। खोआ को बराबर-बराबर बाँटने में कुछ मतभेद हुआ। यह सारा हाल एक बन्दर देखता रहा। उसके मुँह में पानी भर आया। उसने पास आकर बाँटने की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली। उसने एक तराजू लाकर, अंदाज

से खोए के दो हिस्से किये और दो पलड़ों में उन्हें चढ़ाया। एक पलड़ा जब अधिक वजन से झुकने लगा, तो उसने उसमें का थोड़ा-सा खोआ निकालकर खा लिया। अब दूसरा पलड़ा भारी पड़ने लगा, तो उसने दूसरे पलड़े के खोए में से भी थोड़ा-सा निकाल कर खा लिया। इस क्रिया से सारा खोआ धीरे-धीरे बन्दर के पेट में चला गया और बेचारी बिल्लियाँ भूखी ही रह गयीं। उसी तरह आप जो कुछ पैदा करते हैं, वह सब बीच के 'व्यवस्था करनेवालों' के पेट में चला जाता है और आप भूखे रह जाते हैं।

अब आपको समझना होगा कि यह राज्य-व्यवस्था किस तरह फैली और उसकी जन्म-कथा क्या है। तभी आप इस बोझ से मुक्त होने का रास्ता खोज सकेंगे। . . .

: २ :

शोषण-मुक्ति के लिए शासन-मुक्ति

एक ऐसा भी जमाना था जब दुनिया में कोई राजा नहीं था। उसकी जरूरत नहीं थी। जहाँ कहीं पानी मिल जाता था वहीं लोग झुण्ड बनाकर बस जाते थे। वे आपस में मिलकर खेती-बारी करते थे और शिकार भी करते थे। धीरे-धीरे आबादी बढ़ी और आपस में कुछ झगड़ा-टण्टा भी होने लगा। ऐसे झगड़ों से हिंसा पैदा हुई। इससे लोग परेशान हुए। उन्होंने देखा कि इस तरीके से तो जिन्दा रहना ही मुश्किल है और जिन्दा तो सभी रहना चाहते हैं। दुनिया में जितने किस्म के भय हैं, उनमें मरने का भय सबसे बड़ा होता है।

भागवत में एक कथा है कि एक बार लोग परेशान होकर ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनसे कहा कि महाराज, हम लोगों के आपसी झगड़े के मारे आपकी सृष्टि का ही नाश होने का भय पैदा हो गया है। अतः हमारे प्राण बचाने के लिए और अपनी सृष्टि की रक्षा के लिए आप कुछ उपाय करें। ब्रह्मा ने सोच-समझकर लोगों का झगड़ा मिटाने के लिए पृथ्वी पर राजा भेजा। तब से शांति-स्थापन के लिए राजा का जन्म हुआ। यह पौराणिक कथा है। पर, वस्तुतः मनुष्य ने राज्य-प्रथा का आविष्कार तभी किया था, जब परिस्थिति के कारण मनुष्य का स्वार्थ आपस में टकराने

लगा और मनुष्य आपस में एक-दूसरे के खिलाफ हिंसा का प्रयोग करने लगे। ऐसी दशा में राजा का काम सबको शान्त तथा मर्यादित रखने का हुआ। फलतः वह उत्पादक कार्य से अलग हो गया। उत्पादकों ने सोचा कि सबके उत्पादन से राज्य-कर के रूप में कुछ थोड़ी-थोड़ी सामग्री राजा को दी जाय। क्रमशः राजा का काम बढ़ने लगा, क्योंकि जब लोगों को एक सरदार मिल गया, तो स्वभावतः वे निश्चिन्त हो गये और इस कारण उनमें सुस्ती भी आने लगी। जनता को राजा की आवश्यकता दिन-दिन अधिक महसूस होने लगी। दूसरी तरफ राजा के अधिकार और शक्ति बढ़ने के कारण उसमें मद का विकास हुआ और वह प्रजा का निर्दलन भी करने लगा। धीरे-धीरे प्रजा को राजा का इस प्रकार का अत्याचार खलने लगा और वह राजा को हटाने की बात सोचने लगी। उसने समझा कि अधिकार और शक्ति पाकर राजा मदांध हो गया है और अब वह प्रजा की भलाई नहीं सोच सकता। वह राजदंड को प्रजा के झगड़े के निराकरण में इस्तेमाल करने के बजाय अपनी शक्ति और सत्ता को बढ़ाने में ही इस्तेमाल करता है। अतः प्रजा ने विद्रोह किया और राजा को सिंहासन से उतार दिया।

लेकिन ऐसा करने में लोगों ने एक बहुत भारी भूल की। प्रजा-पीड़न में राजा का ही दोष नहीं था। किसी भी संकट के लिए सामाजिक व्यवस्था जिम्मवार होती है, न कि उसे चलानेवाला व्यक्ति। जनता का संकट इसलिए नहीं था कि राजा के हाथ में दंड था। बल्कि इसलिए था कि दंड-शक्ति द्वारा समाज के संचालन की प्रथा कायम हो गयी थी और जब दंड के नीचे

प्रजा आ जाती है तब दंडधारी अपनी सत्ता संगठित करने में उसका उपयोग तो करेगा ही; क्योंकि सत्ता-प्राप्ति के साथ-साथ उसकी वृद्धि की चेष्टा स्वाभाविक है। दंड रहेगा तो चलेगा ही।

लोगों ने इस तत्त्व को नहीं समझा। उन्होंने व्यक्ति को ही दोषी माना, प्रथा को नहीं। उन्होंने राजदंड को राजा के हाथ से निकालकर जनता के प्रतिनिधियों की पार्लमेन्ट के हाथ में सौंप दिया। लेकिन नतीजा और खराब ही हुआ। "सैयाँ भये कोतवाल अब डर काहे का।" जब प्रतिनिधियों के हाथ में दंड चला गया तो स्वभावतः जनता को इस बात की आशा हुई कि नया दंडधारी प्रतिनिधि-मंडल राजा से अधिक जनता की सेवा करेगा, क्योंकि वे उनके ही अंग हैं। दूसरी ओर जब प्रतिनिधि-मंडल के हाथ में राज-दंड तथा शक्ति आ गयी, तो स्वभावतः उनमें अपने अधिकार तथा सत्ता की वृद्धि की प्रवृत्ति जाग उठी और उनकी आकांक्षा इस दिशा में आगे बढ़ने लगी। जनता की यह आकांक्षा कि राज्य द्वारा जन-जीवन की अधिक-से-अधिक व्यवस्था हो और अधिकारी की यह आकांक्षा कि अधिकार-वृद्धि हो, —इन दोनों आकांक्षाओं ने मिलकर जनता के जीवन पर नयी राज्यव्यवस्था का अधिपत्य पहले से भी ज्यादा स्थापित कर दिया। दिन-दिन यह प्रक्रिया आगे ही बढ़ती गयी। आज तो उसका स्वरूप अत्यन्त भयंकर हो गया है।

आज आप लोग देहात में रहते हुए भी राज्य के बोझ का अनुभव कर रहे हैं। देश भर में व्यवस्था और प्रबन्ध के बहाने असंख्य लोग घूम रहे हैं। आपके ही गाँव में कितने इन्स्पेक्टर और डिप्टी आते हैं, उसका कोई ठिकाना है? सुबह से घड़ी

लेकर बैठ जाइये, एक अधिकारी आता है और कहता है कि "मैं टीका लगानेवाला अधिकारी हूँ।" दूसरा आता है तो कहता है कि "मैं खाद का गड्ढा देखनेवाला अधिकारी हूँ।" इस प्रकार कोई सड़क, कोई खेती तो कोई मछली, मुर्गी पालने की ही बात बताने के बहाने से आपके गाँव में आपके इन्तजाम के लिए आता है और इन्तजाम के लिए आपसे फीस भी लेता है। ये सब आपके सेवक हैं, नौकर हैं; लेकिन अजीब बात यह है कि नौकर मालिक से सौगुने अच्छे कपड़े पहनते हैं और खाते हैं, तब आप समझ सकते हैं कि मालिक की दशा क्या होगी।

इस प्रकार जब आप गहराई से विचार करने लगेंगे तो आपको मालूम होगा कि यद्यपि राज्यव्यवस्था जनता के घरेलू झगड़े निपटाने के लिए शुरू हुई थी; तथापि उसने बढ़ते-बढ़ते आज सम्पूर्ण मानव-जीवन को आत्मसात् कर लिया है। आज जनता राज्यरूपी शिकंजे के नीचे दबकर मरना चाहती है। जो कुछ आप पैदा कर रहे हैं, वह सब सरकारी नौकरों को खिलाने में ही चला जाता है, तो आपको खाने के लिए कहाँ से मिलेगा? आप लोग शोषण की समस्या के बारे में सुनते होंगे। कहते हैं कि पूँजीपति शोषण करता है इसलिए उसका नाश करना चाहिए। लेकिन आज तो पूँजीपति और पूँजी से चलनेवाला शासन यानी राज्यपति, दोनों अपने-अपने ढंग से जनता का शोषण कर रहे हैं। दोनों ऐसे मिल गये हैं कि एक को दूसरे से अलग करना कठिन है। किसी देश में पूँजी के हाथ में राज्य है (जैसे अमेरिका, इंग्लैंड आदि) तो कहीं राज्य के हाथ में पूँजी है (जैसे रूस)। बाहरी रूप चाहे जो हो, सत्ता और पूँजी का गठबंधन हर जगह है।

आपको यह समझाया जाता है कि पूँजीपति आपका शोषण कर लेता है, इसलिए उसका अन्त करना चाहिए। लेकिन केवल इतने से ही काम नहीं चलेगा। पूँजीपति आज के जमाने में राज्य से अलग चीज नहीं है। अगर आप गहराई से सोचें तो देखेंगे कि पूँजी चाहे पूँजीपति के हाथ में हो, चाहे राज्य के हाथ में, आपकी स्थिति में बहुत अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए आपको एक साथ पूँजी और राज्य, दोनों से मुक्त होना पड़ेगा। तभी आप जो पैदा करते हैं उसका चैन से उपभोग कर सकेंगे।

आप लोग सोचते हैं कि अंग्रेज गये तो आपका काम पूरा हो गया और आपको आगे कुछ करना ही नहीं है। यही कारण है कि स्वराज्य-प्राप्ति के बावजूद जब आपकी तकलीफ खतम न होकर बढ़ती ही जाती है, तो आप परेशान हो जाते हैं। फिर इस परेशानी के कारण आप दूसरे लोगों की शिकायत करते हैं। लेकिन इस शिकायत से तो आपकी समस्या का समाधान होनेवाला है नहीं। उसके लिए सारी परिस्थिति पर विचार करना होगा और उसमें से बाहर निकलने का रास्ता ढूँढ़ना होगा। आखिर आप लोगों ने अंग्रेजी शासन से मुक्त होना क्यों चाहा? क्या इसीलिए अंग्रेजों से लड़े कि हमें विदेशियों का राज्य पसन्द नहीं था? इस देश की परम्परा में ऐसी अरुचि की बात तो है ही नहीं। हजार वर्ष से कई विदेशी जातियाँ यहाँ आयीं और उन्होंने हम पर राज्य किया। लेकिन हमने कभी उन्हें हटाने की कोशिश नहीं की। तो अंग्रेज के आने के बाद दो सौ वर्ष के अन्दर ही आजादी की बात क्यों सूझी? इसलिए इस प्रश्न पर आपको गहराई से सोचना चाहिए। बात यह है कि पहले जो लोग आये,

वे हमारे देश में केवल हुकूमत करते रहे। देश का शोषण उन्होंने नहीं किया। अंग्रेज हमारे देश में हुकूमत करने के लिए नहीं आये। वे शोषण के लिए आये। देश का शोषण इतना ज्यादा होने लगा कि सारी जनता कंगाल हो गयी। इस कंगालियत की हालत से निकलने के लिए हम लोगों ने शोषण से मुक्त होना चाहा। इसीलिए हमने अंग्रेजों को हटाना चाहा। इस तरह हमारी लड़ाई वास्तव में अंग्रेजी राज्य से नहीं; बल्कि शोषण से रही है। यही कारण है कि गांधीजी हमेशा कहते थे कि विदेशी राज्य हटाना स्वराज्य का पहला कदम है। असली स्वराज्य तो तब होगा जब शोषणहीन-समाज कायम हो जायगा।

अतएव असली स्वराज्य तो शोषणहीन यानी शासनमुक्त समाज है। शासनमुक्त समाज का अर्थ यह नहीं है कि समाज में कुछ व्यवस्था ही न हो। देखना तो यह है कि समाज में व्यवस्था भी कायम रहे और साथ-साथ शासनमुक्त भी हो जायँ। यह कैसे होगा, इस पर विचार करने की जरूरत है।

समाज में जब तक संचालन की आवश्यकता होगी, तब तक शासन की भी जरूरत रहेगी। अतः आपका मनचाहा समाज संचालित नहीं होगा, यह निश्चित है। संचालन नहीं रखना है, तो सहकारी-व्यवस्था स्थापित करनी है। लेकिन संचालन यानी शासन से मुक्ति तो तब मिलेगी जब आप अपने-अपने गाँव में अपनी व्यवस्था अपने आप चला लें। इसीको गांधीजी स्वावलम्बी समाज और विनोबा ग्राम-राज कहते हैं। अपने गाँव में अपना राज हो जाय तो सरकारी नौकरशाही के राज से मुक्ति मिल जाय।

: ३ :

हिंसा से मुक्ति कैसे मिले ?

शासन के भयंकर संघटन के कारण जनता का शोषण होता है, इतना ही नहीं; बल्कि राज्य के बोझ के कारण उसका दमन भी होता है। इसलिए आज की दुनिया में राज्यव्यवस्था आशीर्वाद के बदले अभिशाप साबित हो रही है। तभी तो हम शासनमुक्त 'ग्रामराज' चाहते हैं। आज की दुनिया की हालत ऐसी है कि बिना शासनमुक्ति के इन्सान की जिन्दगी खतरे में पड़ गयी है। आपमें से बहुत से देहात के भाई काफी पढ़े-लिखे होंगे। आपको मालूम होगा कि जितने पढ़े-लिखे लोग हैं वे हर बात में विज्ञान की दुहाई देते हैं। यहाँ तक कि वे कहते हैं कि गांधीजी भले ही महात्मा रहे हों, लेकिन वे इस वैज्ञानिक-युग के आदमी नहीं थे। वे कहते हैं कि इस युग में गांधी की राह चलने लायक नहीं है। उनकी राय में गांधीजी दुनिया को हजार वर्ष पीछे घसीट ले जाना चाहते थे। लेकिन मैं आपको बताना चाहता हूँ कि आज का युग वैज्ञानिक-युग है इसीलिए गांधीजी का जन्म हुआ, ताकि वे विज्ञान के संकट से मानव-समाज का उद्धार कर सकें।

आप मन में सोचते होंगे कि भला विज्ञान कहीं संकट का कारण हो सकता है? विज्ञान ने तो मनुष्य की तरक्की की है। यह ठीक है कि विज्ञान ने मानव-समाज का बड़ा कल्याण किया

है, लेकिन विज्ञान की तरक्की के साथ-साथ मनुष्य का मस्तिष्क अगर वैज्ञानिक नहीं हुआ तो वह विज्ञान ही अपने कत्ल का साधन बना लेगा।

एक कहानी है। एक आदमी ने एक बन्दर पाला था। उसने अपने पालतू बन्दर को बहुत से हुनर सिखा दिये थे। बन्दर भी उसका भक्त था और उसकी सेवा किया करता था। उस आदमी के पास एक तलवार थी। बन्दर ने अपने मालिक को तलवार से एक आदमी का गला काटते देख लिया था और उसने तत्काल यह बात सीख भी ली थी। दिन को जब मालिक सोता था तो बन्दर उसके शरीर पर से मक्खियाँ उड़ाता था। एक दिन एक मक्खी किसी तरह काबू में नहीं आ रही थी और घूम-घूमकर मालिक के बदन पर बैठती थी। बन्दर को बहुत गुस्सा आया। उसने सोचा कि अब इसे मार ही डाला जाय। मालिक की परेशानी उसे सहन नहीं होती थी। उसने झट तलवार उठाकर मक्खी पर चला दी। मक्खी उस समय मालिक की गर्दन पर बैठी थी। मक्खी तो उड़ गयी, लेकिन मालिक की गर्दन कट गयी।

विज्ञान चाहे जितना उपयोगी हो, लेकिन वह बन्दर के हाथ पड़ जायगा तो खुद ही सारे मानव-समाज का ध्वंस कर देगा। ऐसा क्यों होगा, इस पर आप विचार करें।

प्राचीनकाल से सनातन धर्म की शिक्षा 'अहिंसा परमो धर्मः' की रही है। लेकिन अन्याय के प्रतिकार के लिए या धर्म की स्थापना के लिए हिंसा की भी इजाजत रही है। लोग आपसी झगड़ा निपटाने के लिए भी हिंसा का प्रयोग करते रहे हैं। सिर्फ

हिंसा की इजाजत थी, इतना ही नहीं; बल्कि विशेष परिस्थिति में उसे आपद्धर्म भी माना गया था। धर्मयुद्ध में प्राण-त्याग करने से सशरीर स्वर्गलाभ होता है, ऐसी बात पढ़ने को मिलती है। पहले जब विज्ञान का युग नहीं था, तब ऐसी बातों से शायद विशेष नुकसान नहीं था। लेकिन आज ऐसी बात चल नहीं सकती।

गांधीजी ने दुनिया को अहिंसा का एक नया संदेश सुनाया। उन्होंने हर हालत में हिंसा के परित्याग की बात सुनायी, क्योंकि अगर नित्यधर्म और आपद्धर्म, दोनों अहिंसा का न हो, तो 'परम-धर्म अहिंसा' यह सिद्धान्त सध नहीं सकता। अगर नित्य-जीवन में हिंसा की मान्यता रही तो उसकी परिणति अहिंसा नहीं हो सकती; यह आप आसानी से समझ सकते हैं। इसलिए महात्मा गांधी समाज के प्रत्येक मामले में अहिंसा का ही प्रयोग करने को कहते थे। वे दुनिया में एक अहिंसक-समाज कायम करना चाहते थे, क्योंकि वह समाज के जीवन को नैतिक एवं आध्यात्मिक बुनियाद पर संघटित करना चाहते थे।

आजकल पढ़े-लिखे लोगों को नैतिक तथा आध्यात्मिक बातों से कुछ नफरत हो गयी है। आपके यहाँ भी ऐसे बहुत-से पढ़े-लिखे व्यक्ति आते होंगे, जो कहते हैं कि नैतिक और आध्यात्मिक आधार की बात झूठी है, यह सब पूंजीपतियों का ढोंग है; वे इस प्रकार की बातें करके ठगना चाहते हैं, इत्यादि। आप लोग भी कभी-कभी ऐसी बातों में बहक जाते हैं। इसलिए थोड़ी देर के लिए मैं गांधीजी के नैतिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य की बात छोड़ देता हूँ।

आप मेरे सामने बैठे हैं और मैं आपसे बात कर रहा हूँ, यह तो वास्तविक चीज है न? बहुत से अंग्रेजी पढ़े भाई भी नहीं कह सकेंगे कि हम लोग आज जो एक साथ मिले हैं वह एक स्वप्न है। तो मैं आपको बताना चाहता हूँ कि आज का युग वैज्ञानिक-युग है। इस युग में यदि अहिंसक-समाज की स्थापना न हुई तो परलोक की बात तो दूर, इस लोक में भी हम और आप जिन्दा नहीं रह सकेंगे। अर्थात् आज के जमाने में चाहे जिस कारण हो, अगर हिंसा की मान्यता रही तो मानव-समाज जिन्दा नहीं रह सकेगा। ऐसा क्यों? यह मैं आपको बताना चाहता हूँ।

आपको मालूम है कि विज्ञान के वरदान से दुनिया में बहुत से भस्मासुरों का जन्म हो गया है। भस्मासुर की कहानी आपको मालूम है न? शिवजी के वरदान से उसमें वह शक्ति आ गयी थी कि जिसके सिर पर हाथ रख दे वह भस्म हो जाता। भस्मासुर अपनी शक्ति की परीक्षा के लिए शिवजी पर ही अपना हाथ रखना चाहता था। उसी तरह आज की दुनिया में एटम बम, हाइड्रोजन बम और ऐसे-ऐसे बहुत से बमों का आविष्कार हुआ है, जिनको विज्ञान के वरदान से भयंकर भस्मशक्ति प्राप्त हुई है। और मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि ये भस्मासुर अपनी शक्ति की परीक्षा के लिए आपकी टूटी झोपड़ियों पर अपने हाथ नहीं रखेंगे; बल्कि वे अपनी शक्ति की परीक्षा कलकत्ता, बम्बई, लन्दन, न्यूयार्क, मास्को आदि बड़े-बड़े वैज्ञानिक केन्द्रों पर ही करेंगे। सोचने की बात है कि तब विज्ञान की क्या दशा होगी?

अतएव आज की समस्या विज्ञान के वर-पुत्रों के हाथ से विज्ञान को ही बचाने की है। केवल विज्ञान की रक्षा का ही सवाल नहीं है, बल्कि सारे मानव-समाज की रक्षा का प्रश्न है। मतलब यह कि इस वैज्ञानिक-युग में इन्सान को यदि जिन्दा रहना है तो उसे हिंसा को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। अगर यह नहीं करना चाहते हो तो आत्मरक्षा के लिए ही विज्ञान को छोड़ना पड़ेगा। आज आपके सामने विज्ञान और हिंसा, दो में से एक को चुनने का सवाल है। अब आप ही बताइये कि इनमें से आप किसे चुनना चाहते हैं? साफ है कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति मानव-कल्याण के लिए विज्ञान को अपनाकर हिंसा को ही छोड़ना चाहेगा।

यही कारण है कि दुनिया में जितने मुल्क हैं; सबके नेता एक स्वर से कह रहे हैं कि दुनिया को हिंसा से मुक्त होना है। रूस, अमेरिका, चीन, इंग्लैंड जैसे बड़े-बड़े फौजी मुल्कों के नेता भी कहने लगे हैं कि आपसी झगड़ा शांति से निपटाया जाय, युद्ध से नहीं। रूस, अमेरिका आदि सभी देशों के नेता यह मानते हैं कि उनका अपना-अपना पक्ष ही धर्मपक्ष है। फिर भी उसकी रक्षा के लिए वे युद्ध नहीं चाहते। यानी आज के युग में धर्म-स्थापना के लिए भी लोग हिंसा नहीं चाहते; क्योंकि वे मानते हैं कि ऐसा करने से संसार भर के मनुष्यों का नाश हो जायगा।

इस तरह आप देखेंगे कि दुनिया के सभी राष्ट्रनायक दो राष्ट्रों के बीच का मामला तय करने के लिए युद्ध के बदले अहिंसक तरीके की ही खोज में हैं। लेकिन एक राष्ट्र के अन्दर, व्यक्ति और व्यक्ति के बीच का मामला तय करने में या एक श्रेणी और दूसरी

श्रेणी के बीच का मामला तय करने में हिंसात्मक तरीका चलता रहा तो क्या राष्ट्रों के बीच के मामलों में अहिंसा को अपनाना संभव होगा? नित्य समस्या का समाधान हिंसा से करते रहना और आखिर में एक देश और दूसरे देश के बीच की समस्या खड़ी होगी तो हिंसा के अभ्यासी लोग मिलकर अहिंसा का निर्माण करेंगे, यह क्या संभव होगा?

आत्मरक्षा प्रकृति का नियम है। इन्सान जो कुछ सोचेगा और करेगा उसकी बुनियादी भूमिका आत्मरक्षा की चेष्टा ही होगी। इन्सान को सबसे ज्यादा डर मरने से होता है। वह मरना नहीं चाहता। ऐसी हालत में वह हर बात को जिंदा रहने की भूमिका के खाते में लिखेगा और उस हिसाब से जिसमें नुकसान होगा उसे छोड़ देगा और जिसमें लाभ होगा उसे ही अपनायेगा। पुराने जमाने में 'अहिंसा परमो धर्मः' के सिद्धान्त को मानते हुए अन्याय के प्रतिकार में या धर्म-संस्थापन के लिए जो हिंसा की इजाजत रही है, वह भी सामूहिक आत्मरक्षा की ही थी। एक कंस या जरासंध और कुछ उसके साथी हजारों मनुष्यों पर जब हिंसा का चक्र चला रहे थे तब कुछ लोगों की हत्या करके हजारों लोगों को हिंसा के आक्रमण से बचा लेने में आत्मरक्षा की भूमिका में लाभ ही दीखता था, चाहे वह लाभ तात्कालिक ही क्यों न हो। लेकिन उसी आत्मरक्षा की भूमिका में आज झगड़े निपटाने के लिए भी अगर हिंसा का उपयोग किया जाय तो व्यापक विध्वंस के कारण सामूहिक हानि का ही खतरा है। इसीलिए आज की परिस्थिति में लोग इसे छोड़ देना चाहते हैं।

लेकिन हिंसा को छोड़ने की चिंता में मनुष्य एक बुनियादी

गलती करता है। वह युद्ध तो नहीं चाहता लेकिन एक राष्ट्र की आन्तरिक समस्या के समाधान में हिंसा को अनिवार्य मानता है। दुनिया में लोग कहते हैं कि समाज के शोषण को खत्म करने के लिए तथा एक श्रेणी और दूसरी श्रेणी के भेद को मिटाने के लिए तो हिंसा का तरीका ही सफल हो सकता है। अहिंसा से समस्या का समाधान नहीं होगा। आन्तरिक समस्या के समाधान में भी अगर हिंसा का उपयोग किया जाय तो उसीके विकास से अन्त-र्राष्ट्रीय हिंसा की सृष्टि होगी। फलस्वरूप मानव-समाज का नाश हो जायगा।

डाक्टरों में एक कहावत मशहूर है। किसी डाक्टर ने एक मरीज का आपरेशन किया था। जब वह बाहर निकला और लोगों ने मरीज का हाल पूछा तो उसने कहा कि आपरेशन तो सफल हुआ लेकिन मरीज टेबल पर ही मर गया। यही हालत हिंसा द्वारा समस्याओं के समाधान की बात सोचनेवालों की होगी। अगर हिंसा द्वारा समाज की किसी समस्या को हल करने की कोशिश की जाय, तो समस्या का शायद समाधान हो जायगा लेकिन उस समाधान का उपयोग करने के लिए संसार में कोई मनुष्य ही नहीं रह जायगा। विज्ञान के कारण आज की दुनिया की स्थिति यही है।

यही कारण है कि महात्मा गांधी को आज सारा संसार युग-पुरुष मानता है। आपने देखा होगा कि दुनिया के किसी भी देश के प्रतिनिधि जब भारत में आते हैं तो पहले गांधीजी की समाधि पर माला चढ़ाते हैं। वे ऐसा केवल उनके महात्मापन के कारण नहीं करते, क्योंकि अत्यंत भौतिकवादी चीन के नेता भी गांधीजी

की समाधि पर फूल चढ़ाते हैं। गांधीजी के प्रति संसार की यह श्रद्धा केवल इसलिए ही नहीं है कि उन्होंने दुनिया में मानवता के विकास के लिए समाज को नैतिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर संघटन के उद्देश्य से सामाजिक अहिंसा की बात कही है; बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने अहिंसक प्रतिकार की बात कहकर युग-समस्या के समाधान का मार्ग भी उपस्थित किया है।

यह सब तो है फिर भी दुनिया के सारे राष्ट्रनायक शांति की खोज में भयंकर युद्ध की तैयारी में लगे हुए हैं। इस अन्तर्विरोध के कारणों को भी ढूँढ़ने की आवश्यकता है । बात यह है कि मनुष्य की बुद्धि तो हिंसा-मुक्ति की कायल है। परिस्थिति उसे ऐसा सोचने को बाध्य करती है। लेकिन उसका संस्कार हिंसा का है। सदियों से मानव-समाज ने हिंसा का यश-गान किया है। धर्म-युद्ध में प्राणत्याग करने से आदमी सीधे स्वर्ग में चला जाता है, ऐसा दुनिया के सब लोग कहते रहे हैं। इसलिए यद्यपि बुद्धि अहिंसा चाहती है तो भी संस्कार मनुष्य को हिंसा की ओर ले जाता है। आपको मालूम है कि जब कभी बुद्धि और संस्कार का विरोध होता है तो साधारणतः संस्कार की ही विजय होती है। एक साधारण मिसाल से यह बात आपकी समझ में आ जायगी। आप लोग कभी बीमार पड़ते हैं तो वैद्य कह देता है कि खटाई और मिर्च का परहेज करो। आप बुद्धिपूर्वक उसे सही मानते हैं और कहते हैं कि ऐसा होना ही चाहिए। लेकिन खाना खाते समय आपका संस्कार थोड़ा-बहुत खटाई, मिर्च खिला ही देता है। शहर के पढ़े-लिखे लोग—सभी मानते हैं कि बिना छँटा हुआ चावल स्वास्थ्य के लिए अच्छा है। ऐसा वे कहते भी हैं। लेकिन

उनकी थाली में जब बिना छँटे चावल का भात परोस दिया जाता है तो उनकी शक्ल बदल जाती है। वे एकदम नाक सिकोड़ लेते हैं; क्योंकि बुद्धि चाहे जितना बिना छँटे चावल की बात करे, संस्कार उन पर विजयी हो ही जाता है। यह सही है कि ऐसे बहुत से सात्त्विक पुरुष होंगे जिनकी बुद्धि संस्कार पर विजय प्राप्त करती है; लेकिन ऐसे लोग बिरले ही होते हैं। उन्हें हम साधु, संत और ऋषि कहते हैं।

इस तरह आज के संसार की हालत यह है कि सब लोग चाहते हैं कि दुनिया का काम अहिंसा से चले। लोग हिंसा से मुक्त हो जायँ, लेकिन उनका संस्कार उन्हें ढकेल ही देता है। इसलिए आपको सोचना होगा कि इन्सान के संस्कार में से किस तरह हिंसा निकालकर अहिंसा की भावना पैदा की जाय। अतएव हमें कोई खास कोशिश नहीं करनी है कि लोग गांधीजी की अहिंसा को समझें। वस्तुतः इस बात के प्रचार की आवश्यकता नहीं है और न इसके लिए महात्मा गांधी जैसे युग-पुरुष को जन्म लेने की ही आवश्यकता थी। आज के वैज्ञानिक प्रगति के युग में मनुष्य अहिंसा को मानने के लिए मजबूर है। गांधीजी के जन्म की आवश्यकता तो दुनिया को हिंसा-मुक्ति का रास्ता दिखलाने की थी, क्योंकि अगर गांधी का जन्म न होता तो अहिंसा की जरूरत महसूस करने पर भी उसे पाने का रास्ता न मिलने के कारण इन्सान इधर-उधर भटकता रहता। वह जिस विराट् वैज्ञानिक प्रगति के कारण हिंसा को छोड़ने के लिए व्याकुल हो रहा है, उसी विज्ञान के कारण चर्खे की आवश्यकता को नहीं सोच पाता। बात यह है कि ऊपर से देखने से विज्ञान के साथ चर्खे का मेल

नहीं बैठता है। आप लोग तो सुनते ही हैं कि लोग गांधीजी के चर्खे का मजाक उड़ाते हैं। वे उस पर हँसते हैं और कहते हैं कि इस वैज्ञानिक-युग में चर्खे की बात करना बेवकूफी है।

लेकिन महात्मा गांधी ने चर्खे को अहिंसा का प्रतीक कहा। मैं आपको बताऊँगा कि गांधीजी ने ऐसा क्यों कहा।

आप सबको मालूम है कि शिक्षा और दीक्षा से मनुष्य का स्वभाव और संस्कार बनता है। इसलिए गांधीजी शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति करना चाहते थे। वे चाहते थे कि देश की शिक्षा-पद्धति ऐसी हो जिससे मनुष्य के अन्दर अहिंसा की भावना पैदा हो सके। लेकिन केवल शिक्षा और दीक्षा से ही काम नहीं चलता है। इससे चाहे जितना अहिंसा का उदय हो, अगर समाज की व्यवस्था तथा पद्धति ऐसी ही रहे कि मनुष्य के हृदय में निरंतर हिंसा उत्पन्न होती रहे तो अनन्तकाल तक अहिंसक शिक्षा के नतीजे से भी मनुष्य का संस्कार अहिंसामय नहीं हो सकेगा।

किसी हौज में पानी भरने के लिए जरूरी है कि उस पर पानी का नल खोल दिया जाय। लेकिन साथ-साथ यदि उसमें से पानी निकलने का रास्ता बन्द न किया जाय तो अनन्तकाल तक नल खुला रहने पर भी हौज नहीं भरेगा। उसी तरह अहिंसक शिक्षा के साथ मनुष्य-हृदय का हिंसा-प्रवेश-द्वार अगर खुला रहा तो अनन्तकाल तक अहिंसक संस्कार नहीं बन पायेगा। इसलिए आपको इस बात की खोज करनी होगी कि किन-किन कारणों से हमारे हृदय में हिंसा का प्रवेश होता रहता है।

अगर थोड़ी गहराई से विचार करेंगे तो स्पष्ट हो जायगा कि शासन की संस्था और शोषण की परिस्थिति के कारण ही

मानव-हृदय में निरंतर हिंसा का प्रवेश होता रहता है। आप कहेंगे कि शोषण के कारण हिंसा पैदा होने की बात तो समझ में आती है, लेकिन शासन की वजह से हिंसा कैसे पैदा होती है, यह बात समझ में नहीं आती। कुछ लोग तो उल्टे यह समझते हैं कि शासन से ही समाज में हिंसा मर्यादित रहती है। इसलिए इस प्रश्न पर आपको कुछ अधिक गहराई से विचार करना होगा, क्योंकि काफी बारीक दार्शनिक तत्त्व के आधार पर विचार करने पर ही यह बात समझ में आयेगी।

विज्ञान का नियम है कि दुनिया में कोई भी क्रिया होती है तो तत्काल उसकी प्रतिक्रिया होती है और यह प्रतिक्रिया भी क्रिया के अनुरूप ही होती है। आप किसी जगह पर घूँसा मारें तो आपने जो चोट पहुँचाने की क्रिया की उसकी प्रतिक्रिया में आपके हाथ में भी चोट महसूस होगी। उसी तरह मनुष्य पर शासन की जो क्रिया होती है, उसके हृदय में उसकी प्रतिक्रिया भी होगी ही।

शासन की शक्ति दंडशक्ति होती है। वह दंड—सजा देने के सहारे ही सब काम करता है। आप शासन को क्यों मानते हैं? इसलिए कि आपको डर है। यदि नहीं मानेंगे तो सजा हो जायगी। आप जरा विचार करें कि यह दंड-शक्ति याने सजा देने की शक्ति हिंसा-शक्ति है या अहिंसा-शक्ति? यह सही है कि राजदंडरूपी हिंसा को समाज ने कबूल कर रखा है, लेकिन है वह हिंसा ही। और यह हिंसा निरंतर मनुष्य पर इस्तेमाल होती रहती है। इस हिंसक क्रिया की प्रतिक्रिया क्या होगी? प्रतिहिंसा ही होगी न? इस तरह शासन के अस्तित्व के कारण मनुष्य के

हृदय में निरंतर हिंसा और प्रतिहिंसा की क्रिया चलती रहती है, जिससे उसकी आदत और संस्कार में हिंसा की भावना जड़ पकड़ लेती है। ऐसी हालत में अगर मनुष्य के संस्कार से हिंसा निकालनी है तो यह जरूरी है कि इस समाज में से शासन को समाप्त किया जाय। यानी समाज में एक शासन मुक्त-समाज की स्थापना की जाय। यही कारण है कि गांधीजी कहते थे कि अहिंसा के लिए "राजसत्ता" का लोप होना चाहिए। . . .

: ४ :

जनशक्ति से चलें तभी स्वराज

आप देहात के लोगों को शासन-मुक्ति की बात नयी मालूम होती है, लेकिन दुनिया में जो लोग शासन चलाते हैं वे भी अब शासन-मुक्ति की बात करने लगे हैं। आपने कम्युनिस्टों का नाम सुना होगा। जिन कम्युनिस्ट मुल्कों में सारा काम राज्य के जरिये से ही होता है, यानी जहाँ राज्य का संघटन सर्वव्यापी है, वहाँ भी लोग कहते हैं कि संसार की शांति के लिए शासन का लोप होना ही चाहिए। लेकिन वे मानते हैं कि शासन ही शासन को खत्म करेगा। इसलिए वे दिन-ब-दिन उसे मजबूत करते जा रहे हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता है ऐसा कैसे हो सकता है। कोई आदमी अपने हाथ से अपना गला काट ले तो उसे पागल कहते हैं, क्योंकि सृष्टि का नियम आत्मरक्षा है, आत्महत्या नहीं। अतएव अगर राज्यव्यवस्था को खत्म करना है तो यह काम राज्य-शक्ति द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए राज्य के बाहर की ही किसी शक्ति की जरूरत पड़ेगी।

राज-शक्ति के अलावा यदि कोई शक्ति है तो वह है जन-शक्ति। ऐसे तो पढ़े-लिखे लोग आपको समझायेंगे कि राज-शक्ति भी कोई अलग शक्ति नहीं है, क्योंकि जन-शक्ति ने ही उसे पैदा किया है। लेकिन आप लोगों ने मुगल बादशाह के

जमाने की कहानी तो सुनी ही होगी कि कई बादशाहों के बेटों ने अपने बाप को कैद कर सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली थी। बेचारा बाप बेटे के बन्धन के नीचे पड़ा रहता था। उसी तरह राज्य-शक्ति यद्यपि जन-शक्ति की ही बेटी है, लेकिन उसने अपनी माँ को ही अपनी मुट्ठी के नीचे बाँधकर गिरफ्तार कर रखा है। आज बेचारी जन-शक्ति राज्य-शक्ति के नाग-फाँस में इस तरह बँधी हुई है कि उसके लिए हिलना-डोलना असम्भव हो गया है। इस बात को समझने के लिए आज की दुनिया में जितनी किस्मों की राज्य-व्यवस्थाएँ चल रही हैं; उन्हें समझना होगा।

आप लोगों ने पिछले महायुद्ध की कहानी सुनी होगी। हिटलर का भी नाम सुना होगा। वह और उसके साथी जिस प्रकार की राज्य-व्यवस्था चलाते थे, उसे 'तानाशाही' कहते हैं। उसका नाम है 'फासिस्टवाद'। रूस आदि देशों में जो व्यवस्था चलती है, उसे कम्युनिस्टवादी राज्य कहते हैं। वह भी तानाशाही की ही एक किस्म है। तानाशाही मुल्कों में जनता को कोई स्वतंत्रता नहीं रहती। जीवन के हर हिस्से में राज्य का दखल रहता है। ऐसे राज्य को लोग 'सर्वाधिकारी राज्य' कहते हैं। सर्वाधिकारी राज्य में सारा अधिकार राज्य का होता है और जनता उनके डर से यंत्र जैसी चलती रहती है। लोग कहते हैं कि ऐसे राज्य में प्रजातंत्र नहीं है। वे प्रजातंत्र की कुछ दूसरी ही कल्पना करते हैं। हिन्दुस्तान में आज जैसा शासन चलता है उसीको राजनैतिक भाषा में 'प्रजातंत्र' यानी 'जनता का राज्य' कहते हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों में इसी प्रकार की राज्य-

व्यवस्था है, जिसे वे 'पार्लमेण्टरी राज्य-व्यवस्था' कहते हैं। ऐसे राज्यों को वे 'स्वराज्य' कहते हैं, लेकिन गांधीजी उसे स्वराज्य नहीं मानते थे। वे कहा करते थे कि इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों में 'स्वराज्य' नहीं है क्योंकि उनकी राय में आम लोग वोट देकर जो पार्लमेण्टवाली सरकार बनाते हैं, वह वास्तविक 'स्वराज्य' नहीं है। वह तो एक वैधानिक प्रजातंत्र मात्र है। यानी वह एक 'किताबी स्वराज्य' है, 'अमली स्वराज्य' नहीं।

मेरी इस बात को सुनकर पढ़े-लिखे लोग परेशान होते हैं। वे कहते हैं कि फासिस्टवादी, कम्युनिस्टवादी राज्यों को सर्वाधिकारी तो अवश्य कहा जा सकता है, लेकिन पार्लमेण्टरी राज्य को सर्वाधिकारी राज्य कैसे कहा जाय। पार्लमेण्टरी राज्य के इतिहास पर और उसकी दिन-दिन होनेवाली प्रगति पर अगर गहराई से गौर करेंगे तो मेरी बातों को आप ठीक समझ जायँगे।

पुराने जमाने में दुनिया में राजाओं का राज्य चलता था। राजा के बाद उसका बेटा राजा होता था। जनता पर कौन राज्य करे, इसका निर्णय स्वयं जनता नहीं करती थी। इसलिए राजा चाहे जिस तरह से काम करे उस पर जनता बोल नहीं सकती थी। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर राजा धीरे-धीरे मनमाना हो गया। इससे प्रजा को तकलीफ हुई। प्रजा ने सोचा कि उस पर किसी गैर का राज्य नहीं होना चाहिए, बल्कि कौन राज्य चलाये इसका फैसला वह खुद कर ले, तभी दुनिया में शक्ति कायम होगी। इस विचार से जनता ने राजा के हाथ से राजदंड छीनकर अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में दे दिया। इससे एक नयी परिस्थिति पैदा हुई।

राजा के हाथ से प्रतिनिधि के पास शासन की बागडोर चली जाने से जनता की आशा बढ़ी। कहावत है—'सैयाँ भये कोतवाल अब डर काहे का।' जब अपना स्वामी ही कोतवाल होता है तो दरवाजा खोलकर निश्चिन्त सो जाने की इच्छा कुदरती होती है। जब जनता के सैयाँ यानी उसके अपने आदमी के हाथ में राज-दंड आ गया तो संभवतः जनता को आशा बँधी कि प्रतिनिधि-मंडल राजा से अधिक उनकी व्यवस्था चलायेगा।

मनुष्य का स्वभाव होता है कि उसके हाथ में अधिकार आने पर वह उसे बढ़ाना चाहता है। इसके अनुसार नये प्रतिनिधि-मंडल की आकांक्षा भी अधिकार बढ़ाने की ही रही। इस प्रकार एक ओर से जनता द्वारा अधिकार से अधिक दायरे में राज्य-व्यवस्था की चाह और दूसरी ओर से प्रतिनिधि-मंडल द्वारा अधिक-से-अधिक अधिकार-वृद्धि की आकांक्षा, इन दोनों के मिल जाने से दिन-दिन जन-जीवन के अधिकाधिक हिस्से पर शासन का दखल बढ़ता चला जा रहा है। और आज तो राज्य का नाम सर्वकल्याणकारी राज्य रखा जा रहा है। यानी आजकल आप लोगों के विचार में राज्य ही हर समस्या का जिम्मेदार है, इस सिद्धान्त ने मन में घर कर लिया है। लेकिन आपने इस सिद्धान्त पर कभी गौर भी किया है क्या?

सर्वकल्याणकारी राज्य का महत्त्व क्या है? उसका मतलब तो आप रोज पटना, लखनऊ, दिल्ली की सड़कों पर देखते ही हैं।

देश के निवासी भूख और बीमारी से परेशान हैं, उसके लिए लोग लम्बे-लम्बे जुलूस निकालते हैं। राज-भवन के सामने नारे लगाते हैं। 'रोजी-रोटी दो, नहीं तो गद्दी छोड़ दो'। इसका

मतलब यह है कि आपकी राय में एक आदमी भी भूखा रहे तो राज्य जिम्मेदार; एक आदमी बेकार रहे तो राज्य जिम्मेदार; यहाँ तक कि पोखरे से पानी भरकर लाते समय यदि आपके घर की बहू-बेटी के पैर में काँटा गड़ जाय तो भी राज्य जिम्मेदार; क्योंकि सड़क को साफ रखने की जिम्मेवारी भी राज्य की है! आप विचारें तो सही। एक भी आदमी भूखा न रहे, यदि इस बात की जिम्मेदारी राज्य पर है, तो उस राज्य को यह अधिकार भी देना होगा कि वह देखे कि कोई व्यक्ति अपनी पाचन-शक्ति से एक दाना भी ज्यादा तो नहीं खा रहा है? यदि यह अधिकार उसको नहीं मिलेगा, तो सबको रोटी देने की जिम्मेवारी भी उस पर नहीं रह सकती। अर्थात् अगर जनता के सर्वकल्याण की तथा सारी समस्याओं की जिम्मेवारी राज्य पर रखना है, तो समाज के सर्वस्व पर अधिकार भी उस राज्य के ही हाथ में दे देना होगा। सर्वस्व के अधिकारी राज्य को ही सर्वाधिकारी राज्य कहते हैं न! इसका मतलब यह है कि आज दुनिया में जितने प्रकार की राज्यव्यवस्थाएँ चल रही हैं, सब सर्वाधिकारी हैं। यही कारण है कि गांधीजी कहते थे कि संसार में कहीं भी स्वराज्य नहीं है।

अगर राज्यशक्ति यानी शासन का दायरा सर्वव्यापक है तो उसके बाहर की शक्ति यानी जन-शक्ति के सामने फिर सवाल उठता है कि वह किस छोर से उसे तोड़ना शुरू करे। जब शासन-सत्ता ने सारे समाज को पूर्णरूप से घेरे में बाँध लिया है तो यह सवाल बहुत जटिल हो जाता है, क्योंकि घेरे से बाहर निकले बिना उसे विघटित करना कठिन है। इसलिए आपको शासन को समाप्त करने के तरीकों पर विचार करना ही होगा।

: ५ :

'सीता-राम' : पूँजी के नाग-पाश से बचने का नया मंत्र

अगर आप चाहते हैं कि किसी ऐसे मकान को तोड़ दिया जाय जो दूसरे के कब्जे में है, तो पहले आपको उस मकान पर कब्जा करना होगा, तभी उसे विधिपूर्वक तोड़ सकेंगे। इसी प्रकार अगर आप शासन को विघटित करना चाहते हैं तो पहले आपको उस पर कब्जा लेना होगा। लोग कहेंगे कि जब जनता ही वोट देकर शासन चलाने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजती है, तो प्रतिनिधि के जरिये शासन पर जनता का कब्जा तो है ही। फिर कब्जा लेने का सवाल कहाँ उठता है? मैंने पहले ही कहा है कि यह कब्जा केवल वैधानिक है, वास्तविक नहीं है अर्थात् वह किताबी है, असली नहीं है। असली कब्जा तभी माना जा सकता है, जब उस पर जनता का सीधा नियंत्रण हो। गांधीजी के साथियों ने आज से ३० साल पहले जब उनसे पूछा था कि आपकी राय में सीधे कब्जे का मतलब क्या है, तो उन्होंने हमें वैधानिक स्वराज और असली स्वराज का मतलब बताया था। उन्होंने कहा था कि जितने बालिग स्त्री-पुरुष हैं और जिन्होंने शरीरश्रम द्वारा राज्य की सेवा की है, उन सबके वोट से जब

सरकार बनेगी, तभी स्वराज्य होगा। लेकिन साथ-साथ यह भी बताया था कि केवल इतने से ही वास्तविक स्वराज्य नहीं होगा। उन्होंने आगे कहा था कि केवल कुछ लोगों के गद्दियों पर चले जाने से ही स्वराज्य नहीं होता है, बल्कि अधिकार का दुरुपयोग होने पर प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सीधा विरोध करने की शक्ति मिलने में ही स्वराज्य है।

अतएव शासन-सत्ता को तोड़ने के लिए प्रथम आवश्यकता यह है कि जनता में ऐसी शक्ति पैदा हो, जिससे अधिकार का दुरुपयोग होने पर वह अधिकारी के विरोध में विद्रोह कर सके। यह तभी हो सकता है, जब जनता की परिस्थिति विरोध करने के अनुकूल हो। परिस्थिति अनुकूल न होने पर इच्छा रहते हुए भी विरोध करना कठिन होता है। आज तो परिस्थिति ही प्रतिकूल है, क्योंकि आज जनता की जान अधिकारी की मुट्ठी में है। यह कैसे है, इसे हम अब देखेंगे।

आज संसार में मनुष्य के जिन्दा रहने की जितनी सामग्री है, उसके उत्पादन की पद्धति पूँजी पर आश्रित है। इसका मतलब यह है कि लोगों की जान पूँजी पर लटकी हुई है। कहावत है कि "जिसके हाथ में जान, उसके हाथ में आन।" जब अधिकारी के हाथ में जनता की जान रहेगी, तो जनता चाहे जितनी शक्तिशाली हो, वह अधिकारी का विरोध नहीं कर सकेगी।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। एक राक्षसपुरी के तमाम राक्षसों ने अपनी-अपनी जान एक भ्रमर के अन्दर रखकर उसे एक स्थान पर सुरक्षित रख दिया था। एक दुबले-पतले राजकुमार ने उनकी नगरी में पहुँचकर उस भ्रमर को अपनी मुट्ठी में कर

लिया था। एक-एक राक्षस एक ग्रास में उस राजकुमार को खाने की शक्ति रखता था, फिर भी उनकी जान राजकुमार की मुट्ठी में होने के कारण वे सबके सब उसके गुलाम बन गये थे।

वस्तुतः जान मनुष्य की सबसे प्यारी वस्तु है। संसार में संतान के लिए माता का प्रेम सबसे ऊँचा है। फिर भी इतिहास में यह बात लिखी है कि ऐसे मौके अक्सर आते हैं, जब अपनी जान बचाने के लिए माताएँ भी अपने बच्चों को संकट में छोड़कर भाग जाती हैं। तो साधारण जनता के लिए स्वतंत्रता चाहे जितनी प्यारी हो,जब उसे आजादी और जान में से एक को चुनना होगा तो वह आजादी को छोड़कर जान को ही चुनेगी। यह सही है कि ऐसे बहुत से महापुरुष निकले हैं, जिन्होंने आजादी के लिए जान दे दी है। लेकिन ऐसे लोगों को आप शहीद कहते हैं और उनकी पूजा करते हैं। अर्थात् ऐसे लोग बिरले होते हैं। इसलिए अधिकार के दुरुपयोग का विरोध करने की शक्ति अगर चाहिए तो ऐसी स्थिति पैदा करनी होगी, जिससे जनता की जान अधिकारी की मुट्ठी में न रहे।

ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए एक आर्थिक क्रान्ति की जरूरत है। इसका अर्थ यह है कि पूँजी-आधारित उत्पादन को बदलकर श्रम-आश्रित उत्पादन पद्धति कायम करनी है । दूसरे शब्दों में पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति बदलकर श्रमवादी उत्पादन-पद्धति कायम करनी होगी। लोग कहेंगे कि इसके लिए पूँजी के बाहर जाने की जरूरत क्या है? राज्य एक वस्तु है और पूँजी दूसरी वस्तु है। लेकिन आपको मालूम है कि आज संसार में राज्य और पूंजी अलग-अलग नहीं रह गयी हैं। संसार में दो

ही प्रकार की व्यवस्थाएँ चलती हैं। कहीं राज्य के हाथ में पूँजी है, तो कहीं पूँजी के हाथ में राज्य है। दोनों में फर्क ही क्या है? पूँजी और सत्ता के गठबंधन के जो दोष हैं, वे दोनों में हैं।

अर्थशास्त्र के पंडित कहेंगे कि आपकी पूँजी और श्रम की बात में केवल शब्द का ही फेर है। दोनों तो एक ही चीज हैं, क्योंकि पूँजी भी कोई आसमान से नहीं टपकती है; श्रम को ही जमा करके पूँजी बनी है। यह बात सही है,लेकिन उसमें फर्क है। यह सही है कि श्रम जमा करके पूँजी बनती है लेकिन वह पूँजी तभी बनती है, जब श्रम मनुष्य के शरीर से बाहर निकलकर एक जगह इकट्ठा होता है। तो पूँजी चाहे घनीभूत श्रम ही क्यों न हो, वह मनुष्य-शरीर के बाहर की चीज है। इसलिए श्रमिक के बाहर के लोग उस पर कब्जा कर लेते हैं। यद्यपि पूँजी की पैदाइश श्रम से ही हुई है, फिर भी जिस प्रकार राज्य-शक्ति ने जन-शक्ति को बाँध रखा है, उसी तरह पूँजी ने श्रम को अपना दास बना रखा है। यही कारण है कि दुनिया पूँजी की गुलाम हो गयी है और पूँजी की गुलाम होने के कारण ही वह राज्य के नाग-पाश में जकड़ गयी है। इसलिए मैं कह रहा था कि जनता की आन की रक्षा के लिए उसकी जान को पूँजी के बाहर निकालना जरूरी है। इसीलिए पूँजी-आश्रित उत्पादन-पद्धति बदलकर श्रम-आश्रित उत्पादन-पद्धति कायम करने की आवश्यकता है। इसका मतलब यह है कि अगर अहिंसक समाज-रचना के लिए शासन-मुक्त समाज कायम करना जरूरी है, तो इसके लिए पहली आवश्यकता पूँजी-मुक्त आर्थिक जीवन है। यही कारण है कि विनोबा कांचनमुक्ति की बात पहले

करते हैं और यह कहते हैं कि भूमिदान-यज्ञ हमारी क्रान्ति का पहला कदम है। तमाम उत्पादन का मूल साधन भूमि है, इसलिए जरूरत इस बात की है कि शासन-मुक्ति की क्रान्ति के लिए पहले भूमि को पूँजी के हाथ से निकालकर श्रम के हाथ में लाया जाय। इसीलिए हम नारा लगाते हैं कि "भूमि किसकी, जो जोते उसकी।"

अतएव आज हमें सबसे पहले देश की भूमि-समस्या को हल करना होगा। आज पैसा लगाने से भूमि मिलती है। इन तरीकों को हमें बदलना होगा और ऐसा करना होगा कि जमीन की पैदावार उसीको मिले, जो उस पर श्रम करता है।

भूमि के वँटवारे के बारे में एक मूलभूत सिद्धान्त भी समझ लेना चाहिए। अगर भूमिदान-यज्ञ अहिंसक समाज यानी शासन-मुक्त समाज की स्थापना का पहला कदम है, तो शासन के बिना समाज की सुव्यवस्था चले, ऐसा भी होना चाहिए। इसके लिए यह जरूरी है कि आज व्यवस्था के लिए जो ऊपर से समाज का संचालन और नियंत्रण चल रहा है, उसे बदल देना होगा। और संचालन-प्रथा के बदले सहकारी यानी साझेदारी-प्रथा कायम करनी होगी। साझा मनुष्य का होता है, सम्पत्ति का नहीं। इसलिए भविष्य के समाज में सब लोग मिल-जुलकर श्रम करेंगे और श्रम से जो कुछ पैदावार होगी, उसका उपभोग करेंगे। ऐसे समाज का रूप एक परिवार का होगा। परिवार में उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति सारे घर की होती है; किसी एक की नहीं। अतः भूमि का मालिक कोई व्यक्ति नहीं होगा, बल्कि सारा गाँव होगा। भूमिदान-यज्ञ, भूमि का 'ग्रामीकरण' करने के लिए है।

भूमि का ग्रामीकरण करके उस पर जो पैदा करेगा, पैदावार उसकी होगी। तभी वह श्रमवादी उत्पादन-पद्धति हो सकेगी। लेकिन भूमि पर तो केवल कच्चा ही माल पैदा होगा। उसका पक्का माल बनाने के लिए उद्योग चाहिए। तो आप विचारें कि श्रमवादी आर्थिक व्यवस्था में उद्योग का स्वरूप क्या होगा? उसे पूँजी के हाथ से निकालकर श्रम के हाथ में देना होगा। आज केन्द्रित उद्योगों के अधीन जो बड़े-बड़े कल-कारखाने और उद्योग चल रहे हैं उनके बदले में आपको घर-घर और गाँव-गाँव में चर्खा-कर्घा, ढेंकी-चक्की, कोल्हू-घानी और दूसरे गृह-उद्योग और ग्रामोद्योग चलाने होंगे। इसलिए भूमि-दान-यज्ञ आन्दोलन के साथ-साथ केन्द्रित उद्योग-बहिष्कार के आन्दोलन को भी शामिल किया गया है और इसलिए विनोबाजी भूमि-दान-यज्ञ और ग्रामोद्योग को अभिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि मेरे लिए ये दोनों 'सीता-राम' जैसे हैं।

लेकिन आज हम लोग इस अत्यंत जरूरी प्रोग्राम के बारे में उदासीन हैं। यह आन्दोलन आज प्रस्ताव के कागज में ही पड़ा है। आप इसे अमल में नहीं लाते हैं। मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि इस आन्दोलन के बिना भूमि-दान-यज्ञ भी गुमराह हो जायगा।

केन्द्रित उद्योग के बहिष्कार द्वारा उद्योगों का विकेन्द्रीकरण किये बिना भूमि उलटकर पूँजी की मुट्ठी में चली जायगी, क्योंकि वैसी स्थिति में भूमि-केन्द्रित उद्योगों को कच्चा माल सप्लाई करने के लिए उसकी सेविका, दासी हो जायगी। जब उद्योग पूँजी के हाथ में रहेगा तो सम्भवतः उसे राज्य की मुट्ठी में रहना पड़ेगा और उसके लिए राज्य द्वारा केन्द्रित राष्ट्रीय

योजना बनेगी। राष्ट्रीय योजना केवल उद्योगों के लिए नहीं बन सकती। कच्चे माल का उत्पादन भी उस योजना का अंग होगा। इसका मतलब यह है कि भूमि का उत्पादन भी ऊपर से राज्य द्वारा नियंत्रित होगा। फिर भूमिदान-यज्ञ शासन-मुक्ति का पहला कदम होगा, ऐसा आप नहीं कह सकते। इतना ही होगा कि राज्य का दखल सीधे भू-श्रमिक पर होगा। भू-स्वामी की मध्यस्थता खतम हो जायगी। ऐसी परिस्थिति में राज्य का नाग-पाश बढ़ेगा, घटेगा नहीं। तो केन्द्रित उद्योग-बहिष्कार के बिना भूमिदान-यज्ञ का आन्दोलन समाज को शासन-मुक्ति की ओर न ले जाकर सर्वाधिकारी राज्य-संघटन में मदद पहुँचायेगा, अतः हम सचेत हो जायँ।

केन्द्रित उद्योग-बहिष्कार से सहज ही पूँजी का निराकरण हो जायगा। पूँजी किसे कहते हैं, आपको मालूम है न? अर्थ-शास्त्र में पूँजी और संपत्ति, ये दो चीजें अलग-अलग मानी गयी हैं। लेकिन वस्तुतः वे दोनों एक ही चीज हैं। मान लीजिए, आपने अपनी पेटी में एक हजार रुपया रख दिया है और उसे खर्च करते हैं, तो उसे आप सम्पत्ति कहेंगे। लेकिन अगर आप उसी रुपये को ब्याज पर चला देते हैं और उसको लगाकर नयी सम्पत्ति पैदा करते हैं तो वह हजार रुपया आपकी पूँजी हो जायगी। मतलब यह हुआ कि जिस सम्पत्ति को सन्तान होने लगती है वह पूँजी हो जाती है। केन्द्रित उद्योग-बहिष्कार से बड़े-बड़े कारखानों में जो पूँजी लगी हुई है, उससे नयी पूँजी पैदा नहीं हो सकेगी, क्योंकि कारखाने बन्द हो जायेंगे। इस तरह निःसंतान हो जाने पर वह पूँजी फिर सम्पत्ति में बदल जायगी।

लोग कहते हैं कि निःसंतान की गति नहीं है। वह निर्वंश हो जाता है। उसका वंश तभी तक चलता है, जब तक उसकी खुद की आयु रहती है। तो पूँजी के सम्पत्ति में बदलने से जब वह खर्च होने लगेगी, तो वह क्रमशः समाप्त होती जायगी। लेकिन कोई क्रान्तिकारी उसको अपने आप समाप्त होने तक इन्तजार नहीं कर सकता। इसलिए संत विनोबा उसकी आयु घटाने के लिए सम्पत्ति-दान-यज्ञ की बात करते हैं, जिससे जन-जीवन जल्दी से पूँजी के कब्जे से मुक्त होकर श्रम के आधार पर प्रतिष्ठित हो सके, ताकि इस प्रकार से पूँजी के बाहर निकलकर जनशक्ति-राज्य को विघटित करने की ताकत पा सके। ...

: ६ :

चार लगाओ, एक पाओ

इस प्रकार से आर्थिक क्रान्ति द्वारा वास्तविक लोकतंत्रीय राज्य कायम होने के सिलसिले से ही शासन के विघटन की प्रक्रिया शुरू हो सकती है। वह किस तरह हो सकती है, इस पर अब हम विचार करें।

जैसा कि मैंने बताया है, इसकी शुरुआत तो भूमिदान-यज्ञ से ही होगी। फिर भूमि का दान, प्राप्ति, वितरण, केन्द्रित उद्योगों का बहिष्कार, ग्रामोद्योगों की स्थापना आदि कार्यक्रम चलाना होगा। अब प्रश्न यह है कि ये सब कार्यक्रम किस प्रकार चलें। अब तक जो काम चलता रहा, उसे आप ग्रामवासी अपनी ओर से नहीं चलाते थे। हम लोग कुछ सार्वजनिक कार्यकर्ता गाँव-गाँव में आते हैं और आपके लिए कुछ काम कर देते हैं। किसी गाँव में आपसे सहानुभूति और सहयोग मिलता है और किसी गाँव में नहीं मिलता है। भूमि-प्राप्ति तो होती है, लेकिन आप लोग विचार समझकर लोगों से नहीं माँगते हैं। उसी तरह से अगर आज गाँवों में कुछ ग्रामोद्योग भी चलते हैं, तो हम लोग अखिल भारतीय या प्रान्तीय या जिला संस्थाओं की ओर से उसे चलाते हैं। गाँव के लोग जैसे किसी भी व्यापारी कारोबार में काम करते हैं, उसी तरह हमारे ग्रामोद्योग में काम करते हैं।

आपकी ओर से कोई प्रेरणा नहीं है। आप भी समझते हैं कि चलो, गाँव की बेकारी दूर करने के लिए ग्राम-उद्योग चलाकर हम लोगों ने आप पर बहुत उपकार किया है। सम्पत्तिदान के बारे में तो आप समझ ही बैठे हैं कि हम शहर की सम्पत्ति के ढेर में से कुछ खुरचकर ला देंगे। हम जब गाँव में आते हैं, तो आप लोग दरख्वास्त पेश करते हैं कि गाँव में कुँआ बनवा दीजिये, सड़क बनवा दीजिये, स्कूल बनवा दीजिये आदि। और यदि आपकी दरख्वास्त के मुताबिक कार्य न हुआ तो शिकायत करते हैं। इसका मतलब यह है कि आप जनता का राज्य अर्थात् गांधी का स्वराज्य चाहते ही नहीं।

अब जरा विचार तो करें कि अगर इसी तरह बाहर से आकर काम करना हो तो राज्य की ओर से वैसा हो ही रहा है, फिर हम लोगों की क्या जरूरत? राज्य की ओर से सारा काम होने का मतलब आपके लिए कितना भारी बोझ है, यह तो मैं पहले ही बता चुका हूँ। इतने बोझ से आपको संतोष नहीं होता है; तो लोगों का नया बोझ अपने सिर पर हम लादना चाहते हैं क्या? राज-सेवकों की भारी फौज आपके गाँव में आपके कल्याण के लिए तो आती ही है; उसके अलावा जन-सेवकों की भी फौज चाहिए क्या? आप खा-पीकर जिंदा भी रहना चाहते हैं या अपनी सारी पैदावार तरह-तरह के सेवकों को खिलाने में ही खत्म करना चाहते हैं? आप चाहते हैं कि सरकार का पूरा बोझ रहे और फिर हम-आप सरकार के बीच के दलाल बनें? इन दरख्वास्तों का मतलब क्या है, इसे हम सोचें।

मैं एक बार बाढ़-पीड़ित क्षेत्रों में पद-यात्रा कर रहा था।

एक गाँव में सरकारी अस्पताल था। वहाँ का डाक्टर काफी अच्छा आदमी था। मैंने दरियाफ्त किया तो मालूम हुआ कि अस्पताल में चौबीस हजार रुपये सालाना खर्च होते हैं। चौबीस हजार रुपये के बजट में दवाओं का मद दो ही हजार का था, बाकी तनख्वाह और दूसरे फुटकर कामों में खर्च होता था। ये चौबीस हजार रुपये आते कहाँ से हैं? लोगों की ही जेब से। इसका मतलब यह हुआ कि अगर हम दरख्वास्त देकर अपने गाँव में अस्पताल खुलवाना चाहते हैं, तो दो हजार रुपये की दवा के लिए चौबीस हजार रुपया देना होगा। केवल चौबीस हजार ही नहीं, बल्कि यह चौबीस हजार रुपया हमसे वसूल करने के बहाने गाँव से लेकर दिल्ली तक जो मोटी-मोटी तनख्वाह-वाले कर्मचारी तैनात हैं, उनका तथा अस्पताल खोलने और उसका मुआइना करने आदि के लिए जिन अफसरों की फौज तैनात है उन सबका वेतन, सफर-खर्च आदि भी आपको ही देना पड़ेगा। वह भी पाँच-छः हजार रुपये से कम न होगा। अर्थात् दो हजार रुपये की दवा पीने के पीछे आप तीस हजार रुपये खर्च करते हैं। उसी तरह स्कूल के पीछे यदि पाँच हजार रुपये का खर्च है तो उसके लिए हमको कम-से-कम दस हजार रुपया देना ही होगा।

अतएव अगर हम चाहते हैं कि शासन-मुक्त समाज यानी जनता का स्वराज्य हो, तो इस सारे आन्दोलन का स्वरूप ही बदलना होगा। इसके लिए गाँव-गाँव में गाँव की अपनी समिति बनानी होगी और आन्दोलन के सिलसिले से जो काम चलता है, उसे आपको अपनी प्रेरणा, नेतृत्व, व्यवस्था तथा आन्तरिक साधनों से ही चलाना होगा। पुराने जमाने में ऐसा ही होता था।

गाँव में पुरोहित के रूप में अपना नेतृत्व होता था। गाँव के लोग यज्ञ में आहुति चढ़ाते थे और अपने कल्याण का सारा काम अपने आप कर लेते थे। कभी संयोग से कोई राक्षस गाँव के यज्ञ को नष्ट करना चाहता था तो वे राजा के पास पहुँचते थे। राजा को इतनी सेवा के लिए एक-दो आने बीघा लगान भी दे देते थे। गाँव का बाकी प्रबंध वे खुद करते थे और अपनी सम्पत्ति अपने आप उपभोग करते थे। बाहरी सेवकों को खिलाने-पिलाने में ही खत्म नहीं करते थे। यह जो आज का सिलसिला चल रहा है, उसे तो अंग्रेजों ने देश को चूसने के लिए शुरू किया था। मैं यहाँ कह देना चाहता हूँ कि जब तक आप हम सिलसिला जारी रखेंगे तब तक हमारा शोषण होता ही रहेगा।

लोग कहेंगे कि सदियों के शोषण और निर्दलन के कारण हम बेहोश हो गये हैं। अपने आप काम चलाने की आदत न होने से हमारी बुद्धि मंद पड़ गयी है। इसलिए पुराने जमाने के लोगों जैसी अब हमारी योग्यता नहीं रही। हम क्या करें और कैसे करें, यह सब सूझता ही नहीं। इसलिए हमको रास्ता बताने के लिए आप जैसा नेता तो चाहिए ही। मैं इस बात को मानता हूँ कि आपको हमारी सेवा की जरूरत है। लेकिन जरूरत भर ही हमसे काम लीजिये। हमसे रास्ता पूछें; लेकिन काम अपने आप करें। आज तो हम आपका सारा काम कर देते हैं। पर जैसा दूसरे लोग आपकी सेवा के बहाने सदियों से आपको चूसते रहे हैं, उसी तरह हम भी आपका ही खाते रहेंगे। दूसरे की कमाई खाने की आदत पड़ जानेपर हमारा पेट दिन-ब-दिन बढ़ता ही जायगा। कहावत मशहूर है: 'मुफ्त का चन्दन घिस मेरे लाला!'

इसलिए विनोबाजी देश की आजादी कायम रखने की दृष्टि से ग्राम-राज्य की स्थापना का जो क्रान्तिकारी संदेश सुना रहे हैं उसे चलाने की जिम्मेदारी आपको हा लेनी होगी, क्योंकि यह क्रान्ति आपकी है। परेशानी हमारी नहीं, आपकी है। हम तो आप लोगों के मत्थे अच्छा जीवन बिता ही रहे हैं। इसलिए आप जिम्मेदारी को किस तरह चलायेंगे, यह मैं आपको बताना चाहता हूँ।

: ७ :

स्वराज की पहली सीढ़ी : ग्रामोदय-समिति

गाँव-गाँव में ग्राम-समिति बनानी होगी। इसका नाम ग्रामोदय समिति या ग्राम-राज्य समिति रखें या कोई भी नाम रखें, वह आपकी ही होगी। समिति को गाँव की आर्थिक जाँच करनी होगी। कितनी और कैसी जमीन है, कितने भूमिहीन हैं और उनके लिए कितनी जमीन चाहिए, यह सब मालूम करना होगा। फिर जितने लोग स्वराज्य चाहते हैं वे सब एक साथ जत्था बनाकर भूमिवानों से भूमि माँगने जायँगे तथा उसे भूमिहीनों में वितरण करेंगे। जमीन जो मिलेगी, उसमें कुछ परती, कुछ आबादी भूमि होगी। आप जिन भूमिहीनों को भूमि देंगे, उनके लिए साधन-दान माँगना होगा, ताकि वे उस पर काम कर सकें। गाँव में साधन बहुत नहीं है, तो भी जो कुछ मिल सके, लेने की कोशिश करनी होगी। इसके बाद एक-एक अंचल से कुछ लोग शहरों में जाकर सम्पत्ति-दान माँगने का काम करेंगे। आप कहेंगे कि शहरों में जाकर माँगने की फुरसत कहाँ? फुरसत तो आपके पास भरपूर है। गाँव के सारे धंधे, इन्तजाम आदि सब तो शहरवाले ले गये हैं। फुरसत के कारण ही तो आप कंगाल हुए हैं। जितना समय शहरों में जाकर मुकदमा लड़ने में बिताया जाता है; उतना समय अगर सम्पत्तिदान-यज्ञ में लगाया जाय

और गाँव का झगड़ा गाँव में ही निपटा लें तो जितनी सम्पत्ति की कचहरी-देवता के कदमों पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, वह सब बच जाय। उस सम्पत्ति तथा साधनदान से गाँव के सभी भूमिहीन आबाद हो जायँ। ये सब काम करने के लिए आप हमारी सलाह और मार्ग-दर्शन ले सकते हैं और उतने भर के लिए हमको खिला भी सकते हैं। इन कामों को चलाने की अगर आपमें योग्यता नहीं है तो कई गाँव मिलकर शिक्षण-शिविर चला सकते हैं और उसमें हम लोगों को बुला सकते हैं।

इतने से ही आपकी समस्याओं का अन्त नहीं होगा। ऊपर का काम पूरा करने के बाद भूमि का ग्रामीकरण करना होगा। यानी सारी भूमि ग्रामराज्य के हाथ में लानी होगी। फिर जरूरत और मेहनत की क्षमतानुसार उसे लोगों में बाँटना होगा, जिससे वे उस पर पैदा करके गुजर कर सकें। फिर इस बात की सूची बनानी होगी कि गाँव में पूँजीवादी उद्योगों का कौन-कौन माल इस्तेमाल होता है। उनका उसी तरह बहिष्कार करना होगा, जिस तरह आजादी की लड़ाई के दिनों में हम विदेशी माल का बहिष्कार करते थे। उसके स्थान पर ग्रामोद्योगों का संगठन करना होगा।

यह सब काम करने के लिए गाँव के लोगों की योग्यता बढ़ानी होगी। इसलिए शिक्षा की व्यवस्था भी ग्राम-समिति को ही करनी होगी। जो लोग दिन भर मेहनत करके खाते हैं, उनके लिए रात्रि-पाठशाला और बाकी के लिए बुनियादी-शिक्षा-शाला चलानी होगी।

आप कहते हैं कि देहातों में साधन ही क्या रह गये हैं, तो मैं शहरों से साधन-दान-यज्ञ का रास्ता बताता हूँ। किन्तु देहात में एक बहुत बड़ा साधन मौजूद है। दर असल वही आपके लिए एकमात्र पूँजी है। वह है शरीरश्रम की पूँजी। आपकी समिति को गाँव में श्रमदान का अनुष्ठान चलाना होगा। इससे गाँव की जमीन तोड़ना, कुँआ बनाना, तालाब खोदना, बाँध बाँधना आदि सभी काम करना होगा। इससे गाँव का संगठन तो मजबूत होगा ही, एक साथ काम करने की वजह से अमीर-गरीब का भेद-भाव भी मिटेगा। वैसे गाँव में कोई अमीर है ही नहीं। उनकी बस्ती तो शहरों में ही है। गाँव में तो कुछ कम गरीब और कुछ ज्यादा गरीब हैं। फिर भी उनमें कुछ भेद-भाव है ही। श्रम-दान-यज्ञ इस छोटे भेदासुर का नाश करके ग्राम-राज्य कायम करने की ओर ले जायगा।

इस प्रकार आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रम द्वारा ग्राम-समिति की योग्यता बढ़ेगी और उसका संगठन मजबूत होगा। फिर जब समितियों में इतना आत्मविश्वास हो जायगा कि राज्य द्वारा संचालित कई विभागों का काम वे अपने आप चला सकती हैं तो उतने विभागों के लिए वे शासन से मुक्त होने की माँग कर सकेंगी। इस तरह अंत में आपको सत्ता-दान-यज्ञ आन्दोलन चलाकर शासन-मुक्ति की प्रक्रिया शुरू करनी होगी। जिस तरह भूमि-पतियों से भूमि तथा श्रम और सम्पत्तिवानों से श्रम और सम्पत्ति का दान माँगते हैं, उसी तरह जिनके हाथ में सत्ता है, उनसे सत्ता का भी दान माँगेंगे और जिस तरह भूमिवान तथा सम्पत्तिवान अभी दान दे रहे हैं, उसी तरह सत्तावान भी अपने हाथ से सत्ता

छोड देंगे। हम जिस अनुपात में उनसे सत्ता छुड़ाते जायँगे, उसी अनुपात से करमुक्त भी होते जायँगे। इस प्रकार हम शासन-रूपी इमारत की एक-एक ईंट गिराते हुए केन्द्रीय शासन से मुक्ति पाने की ओर आगे बढ़ेंगे और गांधीजी के स्वराज्य को कायम करते चलेंगे। . . .

: ८ :

बुद्धि और श्रम का मेल

मैंने आपसे कहा कि वास्तविक स्वराज्य के लिए यह जरूरी है कि समाज की व्यवस्था सहकारी हो, संचालित न हो। सहकार बराबरी के लोगों में ही हो सकता है। कोई ज्यादा धनी हो और कोई बहुत गरीब रहे, तो उनमें आपस में सहकार नहीं हो सकता और न शोषक और शोषित के बीच में ही सहकार चल सकता है। प्रकृति के नियम के अनुसार पाँच उँगलियों के भेद जैसा कुछ भेद जरूर रहेगा। लेकिन उन पाँच उँगलियों में फर्क उतना ही होगा, जितना स्वाभाविक है। विनोबाजी कहते हैं कि एक उंगली एक फुट की हो और दूसरी दो इंच की, तो मुट्ठी नहीं बँध सकती। अर्थात् समाज में अधिक विषमता रहने पर सहकार नहीं सध सकता। यही कारण है कि विनोबाजी साम्ययोग की बात करते हैं। वे चाहते हैं कि समाज की विषमता दूर होकर समता कायम हो। आपको इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा।

आज की दुनिया विशेष रूप से दो श्रेणियों में विभाजित हो गयी है। एक वे, जो शरीरश्रम से उत्पादन करके खाते हैं और दूसरे वे, जो व्यवस्था और वितरण करने के बहाने बिना उत्पादन करके खाते हैं। एक को श्रमजीवी कहते हैं और दूसरे को बुद्धि-

जीवी कह सकते हैं। लोक-भाषा में एक को "मजूर" और दूसरे को "हुजूर"। जब तक दुनिया में हुजूरों और मजूरों का भेद रहेगा, तब तक शासन-मुक्त सहकारी समाज नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज की दुनिया शासन-मुक्ति की बात करती है तो साथ-साथ श्रेणीहीन समाज की भी माँग पेश करती है। अगर संसार में एक ही श्रेणी को रहना है, तो स्वभावतः मजूर-वर्ग यानी श्रमजीवी-वर्ग ही होगा, क्योंकि हुजूर-वर्ग अकेला अपने आप जिन्दा नहीं रह सकता। वह मजूर के कन्धे पर ही जिन्दा रह सकता है।

प्रश्न यह है कि यह विषमता दूर होकर मजूरों का श्रेणी-हीन समाज कायम कैसे हो ? आप लोग वर्ग-संघर्ष की बात सुनते रहते हैं। इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि मजूर-वर्ग हुजूरों से संघर्ष कर उनकी सुख-सुविधा छीन ले और उस वर्ग का नाश कर दे। लेकिन ऐसे संघर्ष का नक्शा आपको मालूम होना चाहिये। उससे हुजूर और मजूर, दोनों वर्गों का नुकसान है, क्योंकि इसमें से द्वेष और हिंसा पैदा होगी। हिंसा की प्रतिक्रिया प्रतिहिंसा होगी और हिंसा-प्रतिहिंसा की भट्ठी जलती रहेगी। फिर शान्ति कब होगी? जिसके लिए आप व्याकुल हैं, अगर वही वर्ग विजयी होकर दूसरे वर्ग को निरन्तर दबाकर शान्ति रखने की कोशिश करे, तो वह शान्ति कब्रिस्तान की शान्ति होगी, जिन्दों की शान्ति नहीं।

वर्ग-संघर्ष का नमूना तो आप देख चुके हैं। अभी पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में जो हिन्दू और मुसलमानों का संघर्ष हुआ उसकी तस्वीर आपको याद है न? जब एक वर्ग दूसरे वर्ग से

संघर्ष करने लगता है, तो इन्सान इन्सान नहीं रहता। वह शैतान हो जाता है। फिर जो हुआ है वह आपने देखा ही है। वर्ग-संघर्ष चाहे धर्म की बुनियाद पर हो, चाहे आर्थिक आधार पर हो वह सब वर्ग के सामूहिक संघर्ष का ही रूप होता है। फिर जो कांड होता है, उसकी रूप-रेखा में थोड़ा-बहुत भले ही फर्क हो, लेकिन मूल स्वरूप एक ही होता है। इसलिए गांधीजी और उनके शिष्य विनोबा कहते हैं कि श्रेणी-हीन समाज की स्थापना के लिए श्रेणी-संघर्ष नहीं चाहिए। श्रेणी-परिवर्तन चाहिए। मतलब यह कि आप लोगों में जो बाबू लोग यानी हुजूर लोग हैं, उन्हें शरीरश्रम का अभ्यास कर श्रमजीवी बनना होगा। अर्थात् उन्हें वर्ग-परिवर्तन की क्रान्ति में शामिल होना होगा।

साथ-साथ आज जो केवल श्रमजीवी हैं, उनको बौद्धिक विकास करना होगा, ताकि प्रत्येक के जीवन में बुद्धि और श्रम के समन्वय से पूरी मनुष्यता का विकास हो। आज तो पूरा मनुष्य कहीं है ही नहीं। जो पढ़े-लिखे बुद्धि-जीवी हैं, वे हाथ-पैर से कोढ़ी हैं और जो हाथ-पैर से मिहनत करते हैं, वे दिमाग से गोरू हैं। पढ़े-लिखे लोगों ने 'हेड' और 'हैण्ड' के रूप में समाज के दो टुकड़े कर दिये हैं। ईश्वर ने हर आदमी को दिमाग और शरीर दोनों दिया है, ताकि वह दोनों को चलाकर अपनी जीविका चलाये और समाज की सेवा भी करे। लेकिन आदमी ने परमेश्वर के भी विधान को उलटकर दिमागवाले और शरीरवाले, ऐसे दो टुकड़े करने की कोशिश की है। कुदरत का कानून टूटने पर वह बैठी नहीं रहती। कानून तोड़नेवाले को सजा देती है। मनुष्य ने जब आज प्रकृति के नियमों का उल्लंघन किया, तो

उसके कारण संसार में इतनी अशान्ति, युद्ध और विग्रह का बोलबाला है। फलस्वरूप सारा विश्व ध्वंस की ओर जा रहा है।

अतएव एक ओर बुद्धिजीवियों को शरीरश्रम से उत्पादन करने की शक्ति पैदा करनी होगी और दूसरी ओर श्रमजीवियों में समुचित शिक्षण से व्यवस्था-शक्ति पैदा करनी होगी। यह सब कार्यक्रम आपको अपने लिए यानी प्रौढ़ों के लिए करना है। आनेवाली पीढ़ी के लिए तो आपको वैज्ञानिक तथा सुव्यवस्थित शिक्षण का कार्यक्रम चलाना होगा। महात्मा गांधी इसके लिए पूरी योजना बताकर गये हैं। वह योजना है—नयी तालीम की योजना, जिसे आप 'बुनियादी शिक्षा' या 'बेसिक शिक्षण' कहते हैं। आज देश में जो पद्धति चल रही है, उससे तो लोग 'बाबू' ही बनते हैं। इस पद्धति को अंग्रेजों ने इसलिए चलाया था, कि उन्हें शासन और शोषण के दलाल मिल सकें। उसमें अगर 'मजूर' का बेटा घुस जाय तो शुद्ध 'हुजूर' होकर ही निकलता है और फिर किसी मजूर के कन्धे पर बैठकर खाना चाहता है। अगर घर से बाहर कोई मजूर उसे बैठने के लिए नहीं मिलता है, तो घर जाकर घरवालों के कन्धों पर बैठ जाता है। इसलिए मैं अक्सर आजकल के स्कूल और कालेजों को 'हुजूर बनाने का कारखाना' कहा करता हूँ।

यही कारण है कि सोलह साल पहले जब पहले-पहल स्वराज्य की झलक दीखने लगी, तो महात्मा गांधी ने अंग्रेजों के चलाये हुए हुजूर-कारखानों को तोड़कर, देश में बुनियादी शिक्षा चलाने पर ज़ोर दिया। यह शिक्षा किताब के जरिये नहीं; बल्कि हल-बैल, फावड़ा-कुदाल, चर्खा-कर्घा, ढेंकी-चक्की, कोल्हू-घानी

आदि उत्पादन के कामों के जरिये दी जाती है। गांधीजी ने तो असली स्वराज्य कायम करने के लिये ही ऐसी सलाह दी; लेकिन बदकिस्मती से आपके दिल में गांधी का आदर है, लेकिन दिमाग में गांधी के लिए जगह नहीं है। ऐसी शिक्षा-पद्धति से आप लोग नफरत करने लगे। गांधी को बेवकूफ समझने लगे। कहने लगे कि अगर कुदाल ही चलाना है, तो घर पर कुदाल नहीं है क्या? स्कूल में भेजने की जरूरत ही क्या? लेकिन आपकी समझ में यह नहीं आया कि अंग्रेज़ तो यही चाहते थे कि कुदाल चलानेवाले गोरू रह जायँ और पढ़ने-वाले कोढ़ी रहें। गांधीजी बुनियादी शिक्षा द्वारा सबको आदमी बनाना चाहते थे। वे हरएक को बुद्धिमान तथा वैज्ञानिक श्रमजीवी बनाना चाहते थे, जिससे हरएक उत्पादक का बौद्धिक विकास हो और तब वे आपस में अपना इन्तजाम करके बाहर के अफसर, इन्स्पेक्टर या डिप्टी की सेवाओं को स्वीकार करने से इनकार कर सकें, ताकि दुनिया में ग्रामराज्य स्थापित होकर शासन-मुक्त स्वराज्य कायम हो सके।

क्या आप हम लोगों की सलाह लेकर आपसी संगठन द्वारा बापू का यह स्वप्न पूरा कर सकेंगे? अगर नहीं कर सकेंगे तो आप अनंत काल तक लूटे जायँगे और आज जो दुर्दशा है, वह दिन-ब-दिन बढ़ती ही जायगी और आखिरकार आपका सर्वनाश हो जायगा।

: ६ :

शंका-समाधान

शंका—हिन्दुस्तान में जब पूरा अहिंसक-समाज हो जायगा और बाहर के लोग हिंसक रह जायँगे तब देश की रक्षा का क्या इन्तजाम होगा ?

समाधान—आपको मालूम होना चाहिए कि ऐसा हो नहीं सकता कि हिन्दुस्तान में सर्वोदय हो गया अर्थात् पूरे सर्वोदय-समाज की स्थापना हो गयी और सारी दुनिया यों ही रह गयी। कोई एक विचार किसी एक देश में बँधा नहीं रहता। वह सारी दुनिया में फैलता है। आपके देश में यह विचार जितना तेज होगा उतना ही दुनिया में ज्यादा फैलेगा, क्योंकि गांधीजी ने जिस समस्या को हल करने के लिए अपना संदेश सुनाया, वह समस्या केवल भारत की नहीं है। वह तो विश्वव्यापी समस्या है।

मैंने पहले ही कहा है कि विज्ञान की तरक्की इतनी ज्यादा हो गयी है कि जिन्दा रहने के लिए ही सही, संसार भर के लोग हिंसा से मुक्त होना चाहते हैं। और हिंसा-मुक्ति के लिए शासन-मुक्ति चाहिए ही। अतः दुनिया के लोग जिस चीज के लिए व्याकुल हैं, भारत अगर उसका रास्ता साकार रूप से बता सके, तो दुनिया उसी रास्ते पर चलने लगेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐसी परिस्थिति पैदा ही नहीं हो सकती कि भारत एक घेरे के

अन्दर सर्वोदय को पूरा कर दे और दुनिया आज जैसी हिंसा को माननेवाली रह जाय। तर्क की खातिर अगर मान भी लें कि आप जैसा कहते हैं, वैसी ही स्थिति रहेगी तो भी हमें कोई खतरा नहीं दीखता है। आपको मालूम होना चाहिए कि आज कोई मुल्क किसी दूसरे मुल्क पर अकेला हमला नहीं कर सकता। जब एक मुल्क हमला करेगा तो दूसरे किसी मुल्क को वह सहन नहीं होगा और वह हमला करनेवाले मुल्क पर हमला करेगा। इसलिए अगर कोई मुल्क भारत पर हमला करेगा, तो दुनिया भर में हिंसक मुल्क आपस में ही लड़ेंगे। इससे हो सकता है कि भारत की तात्कालिक कुछ हानि हो, लेकिन सारी दुनिया के आपस में लड़ने के बाद लोग आज से ज्यादा हिंसा के विरोध के कायल हो जायँगे। भारत की भी तात्कालिक जो हानि होगी वह उतनी नहीं होगी, जितनी भारत के भी युद्ध में शामिल होने में होती।

इसके अलावा एक और बात आपको समझनी चाहिए। दुनिया में कोई बिना कारण कुछ नहीं करता। हर क्रिया के पीछे कुछ मतलब होता है। जब कोई मुल्क किसी दूसरे मुल्क पर हमला करता है, तो उसका उद्देश्य विजित मुल्क पर हुकूमत करना होता है। आपको मालूम होना चाहिए कि बिना जनता के सहयोग के कोई मुल्क किसी दूसरे मुल्क पर हुकूमत नहीं कर सकता। आप जब भारत में सहकारी जन-शक्ति का इतना पूरा संगठन कर लेंगे, जिससे जनता अपने राष्ट्रीय शासन को ही अनावश्यक करके विघटित कर दे, तो क्या वह शक्ति विदेशी शासन को कबूल कर उससे सहयोग करेगी ? अतएव आपको इसकी चिन्ता

करने की जरूरत नहीं। आप एकाग्रता के साथ अपना स्वराज्य कायम करने में लग जाइये।

शंका—आपने कहा कि भूमि का ग्रामीकरण करना होगा, तो क्या सारी जमीन इकट्ठी रहेगी और सब लोग उसमें मजदूरी करेंगे? इससे तो खेती में किसीको दिलचस्पी नहीं रहेगी।

समाधान—ग्रामीकरण का अर्थ यह नहीं है कि कुल सामूहिक खेती ही हो। बापू के स्वराज्य में हरएक व्यक्ति और परिवार के स्वतंत्र विकास का मौका है। ऐसा मौका देते हुए सामूहिक जीवन का अभ्यास तथा संस्कार डालना होगा। इसलिए हमारा नारा है—'खेत समाज का, खेती परिवार की।' इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भूमि की योजना यह है :

सारी जमीन गाँव की रहेगी। ग्राम-सभा उसमें से छठा या दसवाँ भाग सामूहिक खेती के लिए रखेगी। बाकी भूमि को परिवारों में जरूरत और योग्यतानुसार बाँट देगी। प्रत्येक परिवार इस बात के लिए स्वतंत्र रहेगा कि वह अकेले खेती करेगा या कुछ लोगों के साथ मिलकर सम्मिलित खेती करेगा। जिसके पास पूरे समय काम देनेवाला दूसरा धंधा न हो और जो अपने हाथों से खेती करने को तैयार हो, उसे भूमि अवश्य मिलेगी। सामूहिक खेती प्रत्येक परिवार के श्रम-दान से चलेगी और उसकी पैदावार गाँव के सार्वजनिक कार्य के लिए होगी। गाँव की बुनियादी शाला इसी सार्वजनिक जमीन पर होगी।

ग्राम-सभा यह भी निर्णय करेगी कि कितने साल बाद भूमि-विभाजन पर फिर विचार किया जायगा। इस बीच परिस्थिति बदलने के कारण अगर किसीको अधिक भूमि की

जरूरत पड़ी तो सामूहिक खेती में से दी जा सकेगी। दूसरी ओर खेती छोड़कर दूसरे धंधे में चले जाने पर उसका खेत सामूहिक खेत में मिल जायगा। इस तरह सामूहिक खेत से बीच की परिस्थिति का भी मुकाबला किया जा सकेगा। फिर खेती करने के लिए दिलचस्पी न उठने का सवाल ही नहीं उठता। इस योजना से दोनों बातें होंगी। प्रत्येक परिवार दिलचस्पी तथा बुद्धिपूर्वक काम करके अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकेगा और सामूहिक खेती में ग्राम-समाज के सभी परिवार मिलकर काम करने के कारण उनमें सामाजिक भावना का निरंतर अभ्यास होता रहेगा, जिससे लोगों की प्रकृति में सहकारिता का संस्कार बनेगा और बढ़ता रहेगा।

शंका—हल, चर्खा, कुदाली में भी लोहा चाहिए, जो हमारे गाँव में पैदा नहीं हो सकता, तो 'केन्द्रित उद्योग-बहिष्कार' से हम कैसे जिन्दा रह सकेंगे?

समाधान—'केन्द्रित उद्योग-बहिष्कार' की भी एक मर्यादा है। किसी चीज की पूर्ण स्थिति अन्तिम स्थिति है। पूर्ण तो सिर्फ भगवान् ही है, जो दिखाई नहीं देता। जो कुछ दिखाई देता है और आगे दिखाई देगा, वह सब अपूर्ण है। अतः पूँजी के बिना समाज का अर्थ है, पूँजी की गुलामी से मुक्त होना।

प्रधानतः उद्योग तीन किस्म के होंगे: गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग और केन्द्रित उद्योग। जिन उद्योगों को आप परिवार की सामूहिक शक्ति से चला सकेंगे, उन्हें 'गृह-उद्योग' कहेंगे। उसके बाद जिन उद्योगों को गाँव सामूहिक शक्ति से चला सकेगा, वे 'ग्राम-उद्योग' क्षेत्र में रहेंगे। बाकी उद्योग जो समाज के लिए

अनिवार्य हैं, वे सब 'केन्द्रित उद्योग' के रूप में रहेंगे। गृह-उद्योग में भी दो विभाग होंगे, एक वह उद्योग जिसमें पूरा परिवार पूरे समय के लिए लगेगा और दूसरा वह जो खेती के साथ सहायक धंधे के रूप में रहेगा।

अभी मैं बहिष्कार की जो बात करता हूँ, वह फिलहाल अन्न और वस्त्र के क्षेत्र के लिए है, क्योंकि इन्हीं पर मनुष्य की जान निर्भर रहती है। इसके उपरान्त आप जितनी चीजों का बहिष्कार करके ग्राम-उद्योग चला सकें, उतना ही अच्छा है। इस विचार को आपको और सफाई से समझ लेना चाहिए। अन्न और वस्त्र के रूप में जिन सामग्रियों का आप उपभोग करते हैं, उन्हें किसी हालत में केन्द्र से नहीं लेना चाहिए। लेकिन उन्हें पैदा करने के लिए यदि किसी औजार की आवश्यकता हो, तो वह केन्द्र से भी लिया जा सकता है। बात यह है कि अगर उपभोग्य सामग्री के लिए केन्द्र का मुहताज रहना पड़े तो आवश्यकता पड़ने पर आप केन्द्रीय शक्ति का विरोध नहीं कर सकेंगे। लेकिन औजार केन्द्र से लिया तो विरोध के काल में जितना औजार आपके पास आ चुका है, उसके सहारे आप अपना काम चला सकेंगे। इसी दृष्टि से औजार चलाने के लिए केन्द्र से प्राप्त बिजली, तेल आदि नहीं लेना है, क्योंकि ऐसा करने से आप अपनी दैनिक आवश्यकता के लिए उनकी मुट्ठी में चले जायँगे।

शंका—केन्द्रित-उद्योग बहिष्कार से यंत्रों का भी बहिष्कार हो जायगा। लेकिन आपने कहा है कि आज का समाज विज्ञान के लिए हिंसा को छोड़ना चाहता है। यंत्र-बहिष्कार में तो विज्ञान को ही छोड़ना होगा। फिर पुराने जमाने में जैसा था, अन्याय के

प्रतिकार में यदि थोड़ी-बहुत हिंसा रह जाय तो आपको आपत्ति क्या है?

समाधान—केन्द्रित-उद्योग बहिष्कार से विज्ञान का बहिष्कार नहीं होता। विज्ञान का मतलब बड़े-बड़े यंत्र नहीं हैं, बल्कि उस यंत्र के पीछे जो शास्त्र है यानी जो प्रकृति का नियम है वह अर्थात् प्रकृति की शक्तियों की जानकारी ही विज्ञान है। इस जानकारी को मनुष्य वैज्ञानिक तथा अवैज्ञानिक, दोनों तरीकों से इस्तेमाल कर सकता है। मनुष्य चाहे इसे अपनी जिन्दगी का साधन बना दे और चाहे उसे अपने संहारक के रूप में इस्तेमाल करे। यह निर्भर करता है मनुष्य की बुद्धि और वृत्ति पर। आज दुनिया शासन और पूँजी के संगठन में लगी हुई है तो आज का सारा वैज्ञानिक आविष्कार उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाता है, तथा उसका उपयोग लाजिमी नतीजे—युद्ध की तैयारी के लिए किया जाता है। जिस दिन दुनिया शासन-मुक्त स्वावलम्बी समाज के संगठन में लगेगी उस दिन सारी वैज्ञानिक खोज उसीके लिए की जायगी।

आपके मन में यह सवाल इसीलिए उठता है कि केन्द्रवादी प्रचार के कारण आपने यंत्र को ही विज्ञान मान लिया है, लेकिन यंत्र-शास्त्र विज्ञान की एक शाखा है। शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, राजनीति-विज्ञान, अर्थ-शास्त्र ये सभी विज्ञान हैं; बल्कि मनुष्य-समाज के लिए ये ही सब विज्ञान ज्यादा मौलिक हैं। बाकी जितने पदार्थ विज्ञान के दायरे में आते हैं वे सब गौण हैं। अगर कोई यंत्र, यंत्र-शास्त्र के हिसाब से पूरा वैज्ञानिक भी हो, लेकिन उसका इस्तेमाल शरीर-विज्ञान की

दृष्टि से हानिकारक हो तो वह अवैज्ञानिक है। मिसाल के तौर पर आटा पीसने की मिल में आटे का पोषक तत्त्व घट जाता है। यह आपको मालूम है कि आटे का वैज्ञानिक इस्तेमाल शरीर को पोषण देना है, तो जिस मशीन के कारण उसका पोषक तत्त्व ही घट जाता है उसे आप वैज्ञानिक नहीं कह सकते। वह मिल, यंत्र-विज्ञान के हिसाब से पूर्ण होने पर भी मानव-हित की दृष्टि से अवैज्ञानिक है। उसी तरह एक ट्रैक्टर पूर्ण वैज्ञानिक यंत्र है, फिर भी अगर उसके इस्तेमाल से किसी देश में बेकारी पैदा होती है, तो उस देश के अर्थशास्त्र के हिसाब से वह अवैज्ञानिक है। उसी तरह किसी यंत्र के इस्तेमाल से अगर आप केन्द्रीय सत्ता की मुट्ठी में चले जाते हैं, तो राजनीति-शास्त्र के अनुसार उसका इस्तेमाल अवैज्ञानिक है।

अतएव आप जब विज्ञान की बात सोचते हैं तो एकांगी विचार करने से काम नहीं चलेगा। सर्वांगीण दृष्टि से ही सोचना होगा। किस चीज को रखना है और किसको छोड़ना है, इसका निर्णय करने के लिए आपको विज्ञान की हर शाखा की दृष्टि से विचार करना होगा। इसलिए जब मैं वास्तविक स्वराज्य की स्थापना के लिए केन्द्रित उद्योगों के बहिष्कार की बात कहता हूँ तो समझना चाहिए कि मैं विज्ञान के वैज्ञानिक इस्तेमाल का मार्ग बता रहा हूँ। फिर स्वावलम्बी समाज के लिए यंत्र को छोड़ना तो नहीं है। उस समय आविष्कार की दिशा ही बदल जायगी। अगर हमको लगे कि बिजली की शक्ति आवश्यक है तो हमें विकेन्द्रित तरीके से बिजली पैदा करने के आविष्कार में लगना होगा। जब सामान्य व्यक्ति सूर्यकिरण को केन्द्रित कर के

घर में आग जला सकते हैं, खाना बना सकते हैं तो उसे और अधिक केन्द्रित करके घर-घर में बिजली पैदा करना असंभव है क्या? मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि बड़े-बड़े यंत्रों के आविष्कार में जितनी वैज्ञानिक बुद्धि की जरूरत है, उससे ज्यादा बारीक बुद्धि इस प्रकार की खोज के लिए चाहिए।

इन तमाम बातों को समझने के लिए यंत्रों की मर्यादा के आधार को समझ लेना चाहिए। सर्वोदय की दृष्टि से किसी यंत्र को छोड़ना या इस्तेमाल करना सनातन नियम नहीं होगा। देश और काल के हिसाब से परिस्थिति के अनुसार ही हर यंत्र पर विचार करना होगा। उस निर्णय के लिए बुनियादी तत्त्व ये हैं :

(१) **राजनैतिक तत्त्व**—जनता का राज्य यानी स्वराज्य में जो कुछ भी केन्द्रीय व्यवस्था बच जायगी, वह भी अगर अधिकार-वृद्धि के लिए या और किसी कारण शासन-शक्ति का दुरुपयोग करने लगे तो जनता को उसके लिए विरोध में विद्रोह करने की परिस्थिति निरंतर कायम रखनी होगी, नहीं तो स्वराज्य की रक्षा नहीं होगी। इसलिए ऐसे किसी भी यंत्र का हम इस्तेमाल नहीं करेंगे, जिसकी व्यवस्था या चालक-शक्ति के लिए किसी केन्द्रीय संगठन पर भरोसा करना पड़े।

(२) **आर्थिक तत्त्व**—ऐसा यंत्र इस्तेमाल नहीं करना है, जिससे देश में बेकारी पैदा हो; चाहे वह यंत्र विकेन्द्रित शक्ति से ही क्यों न चले।

(३) **सामाजिक तत्त्व**—यंत्र जिस काल में इस्तेमाल होगा, उस काल की जनता के बौद्धिक स्तर को भी देखना होगा;

क्योंकि अगर उसकी जटिलता ऐसी रही, जिससे उसकी मरम्मत के लिए भी किसी विशेषज्ञ-वर्ग की आवश्यकता हो, तो भी श्रेणी-हीन समाज की दृष्टि से वह हानिकारक ही होगा।

उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार कोई यंत्र अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और रूस जैसे हलकी (-कम) आबादी के मुल्क में चाहे चल सके, लेकिन चीन, हिन्दुस्तान या जापान जैसे मुल्क में बेकारी पैदा करने के कारण उसका चलना अवैज्ञानिक हो जायगा। उसी तरह बिजली से चलनेवाला यंत्र आज हानिकारक हो सकता है, लेकिन विकेन्द्रित बिजली का आविष्कार होने पर उसका इस्तेमाल वैज्ञानिक भी हो सकता है। उसी तरह सामाजिक स्तर की वृद्धि के साथ यंत्रों में भी फेर-बदल हो सकता है।

अतएव इन प्रश्नों पर आपको गहराई से और वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना होगा।

शंका—आपने कहा कि पुराने जमाने में गाँव के लोग अपना काम अपने आप चलाते थे। लेकिन कभी ताड़का का उपद्रव हुआ तो लोग राजा के पास पहुँच जाते थे। इसका मतलब है कि उन दिनों भी कुछ हद तक राज्य था ही। शासनमुक्त समाज में ऐसी जरूरत पड़ जाय तो हम क्या करेंगे? क्या उस समय भी कुछ हद तक शासन रहेगा? यदि रहेगा तो उसकी सीमा क्या होगी?

समाधान—वैसे तो पूर्ण एक भगवान् ही होता है, अतः पूर्ण शासनहीन समाज भी भगवान् का ही रूप होगा, अर्थात् अदृश्य रहेगा। शासनमुक्त-समाज का साकार रूप शासन-निरपेक्ष समाज ही होगा। इसका मतलब यह है कि साधारणतः समाज

स्वावलम्बी रहेगा। लेकिन थोड़ा-सा बचा हुआ शासन रहेगा ही। वह जरूरत पड़ने पर रेलगाड़ी की जंजीर का काम करेगा। मैंने कहा है कि ऐसा समाज सहकारी होगा, संचालित नहीं। संचालित समाज वह होता है, जिसे ऊपर से चलाया जाता है। सहकारी समाज नीचे की मूल आबादी के आपसी सहयोग से चलता है।

आज जो सरकारें चलती हैं, वे एक तरह समाज का शीर्षासन ही हैं। आज समाज की जड़ ऊपर और शाखा नीचे है। पेड़ की जड़ वहाँ रहती है जहाँ से वह अपने पोषण के लिए रस खींचती है और उसकी शाखा आसमान की तरफ रहती है। आज की दुनिया की सरकारें रस तो जनता से लेती हैं लेकिन उनकी जड़ आसमान की ओर है। उनकी जड़ दिल्ली, लन्दन, न्यूयार्क, मास्को आदि नगरों में है और शाखाएँ-प्रशाखाएँ देहातों की ओर। यही कारण है कि आपको पता नहीं रहता कि आपका इन्तजाम कैसे, कहाँ से और कौन करता है। पता चले भी तो कैसे? सारा संचालन ऊपर से होता है। इस व्यवस्था को उलट देना है। दिल्ली, लखनऊ या पटना में बैठकर लोग तय नहीं करेंगे कि ग्राम-पंचायत का काम और अधिकार क्या है? वह निर्णय आपको करना होगा।

ग्राम-सभा यह तय करेगी कि समाज की कितनी जिम्मेवारी गाँव के लोग मिलकर उठा सकते हैं। उस हिसाब से आप अपना विधान बनायेंगे। फिर आप इस बात की सूची तैयार करेंगे कि कितनी चीजें आपके लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। जिन्हें आप गाँव की सम्मिलित शक्ति से नहीं कर सकेंगे, ऐसी चीजों

के लिए जिम्मेवारी जिले को सौंपेंगे और उस जिम्मेवारी को चलाने के लिए अपनी गाँव-सभा से प्रतिनिधि भेज देंगे। इसी तरह जिला निर्णय करेगा कि कितनी जिम्मेवारी उसकी है और कितनी जिम्मेवारी प्रान्त की होगी। फिर प्रान्त राष्ट्रीय केन्द्र के लिए निर्णय करेगा और राष्ट्रीय केन्द्र अपने बचे काम अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के लिए रखेंगे। इस तरह समाज-व्यवस्था की जड़ गाँव में रहेगी और धीरे-धीरे सूक्ष्म होते हुए अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र पर पहुँचकर करीब-करीब बिन्दुवत् हो जायगी। इस योजना से गाँव-स्वावलम्बन के आधार पर अखिल विश्व-परिवार का भी संगठन होगा। यही है बापू के स्वराज्य का चित्र।

शंका—ग्राम-राज्य के नाम से तो आप लोग एकदम छुट्टी लेना चाहते हैं। लेकिन जब तक हम योग्य नहीं होते हैं, तब तक आप लोगों के संगठन की आवश्यकता रहेगी। आपके खयाल में उसका क्या स्वरूप होगा?

समाधान—हाँ, यह सही है कि आप लोग सदियों तक 'सरकार माई-बाप' कहकर दूसरों का भरोसा करते रहे। ऐसी बुद्धि अंग्रेजों ने हमको सिखायी है। उन्होंने यह बात इसलिए सिखायी कि आप अपने बारे में कुछ न सोचें, उन्हीं की ओर ताकते रहें, ताकि पीछे वे लूट मचा सकें। जेब काटनेवाले का तरीका मालूम है न! वह एक ओर बातचीत में अपनी ओर फँसा रखता है और दूसरे हाथ से जेब काट लेता है। इस तरह सदियों तक की आदत के कारण आज हमने अपनी भलाई की बात भी सोचनी छोड़ दी है। तकलीफ होने पर दूसरे के पास

दौड़कर जाते हैं। इसलिए यह सही है कि कुछ दिन शिक्षा देने के लिए हमारी जरूरत है।

लेकिन सवाल यह है कि हम आपके बीच रहें भी तो किसके सहारे रहें। आज तो हम राज्य या पूँजी के सहारे रहते हैं। राज्य से मदद लेकर या पूँजीपतियों से चंदा माँगकर आश्रम बनाकर रहते हैं तथा आपके बीच में आकर काम करते हैं। भीष्म-द्रोण की कहानी मालूम है न! उनका दिल पांडवों की भलाई की ओर ही था। उनकी सारी सहानुभूति और प्रेम पांडवों के लिए था। फिर भी चूँकि उनकी परवरिश दुर्योधन की ओर से हुई थी, इसलिए मौके पर उन्हें दुर्योधन का ही साथ देना पड़ा। हम लोगों की परवरिश राज्य की ओर से, पूँजी की ओर से होगी तो हमारी सहानुभूति चाहे जितनी आपके लिए हो, हमारा आशीर्वाद हमेशा उनको ही दीर्घायु बनाने के लिए होगा। जब तक यह स्वरूप रहेगा, हम चाहे जितने दिन आपके बीच में काम करें, हमारे जरिये आपका ग्राम-राज्य नहीं स्थापित होगा।

इसलिए अगर आपको हमारी आवश्यकता है तो पहली जरूरत यह है कि हम पूँजी के भरोसे जिन्दा न रहकर अपने श्रम और आपके श्रम-दान से जिन्दा रहें। अतः हमारा संगठन भी ऊपर से नीचे न जाकर, नीचे से ऊपर जाना चाहिए। तो सबसे पहले गाँव में सबको मिलकर यह तय करना होगा कि हमें अपना काम खुद चलाना है। फिर रास्ता बताने के लिए हमसे जरूरत पड़े तो जिस तरह से आप किसी भी गुरु-पुरोहित को बसाते हैं, उसी तरह किसी को बसायेंगे। उनके लिए थोड़ी ज़मीन भी देनी होगी, कुछ साधन भी देने होंगे, जिससे वह और उनका

परिवार मेहनत करके उत्पादन कर सकें। अगर कुछ घटेगा तो आप अपने श्रम से पैदा की हुई सामग्री थोड़ी-थोड़ी देकर पूरा कर देंगे। इस तरह से एक-एक इलाके के लोग जब इस बात का संकल्प कर लेंगे कि हमको बाहरी राज्य नहीं चाहिए, हम ग्राम-राज्य ही स्थापित करेंगे और सब लोग मिलकर किसी दूसरे मित्र-परिवार को अपने बीच में बसा लेंगे तो थोड़े ही दिन में आपकी योग्यता बढ़ जायेगी। तब हमारी सेवा की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी।

इस प्रकार से आश्रमों की भी व्यवस्था होगी। आश्रमों में भी जमीन, ग्रामोद्योग आदि उत्पादन के साधन होंगे, जिनसे लोग मेहनत करके पैदा करेंगे और जो घटेगा, उसे आस-पास के लोग श्रम-दान से पूरा करेंगे। ऐसे आश्रमों में खेती-बारी और ग्रामोद्योगों की तरक्की की खोज होगी और आप जिन सेवकों को अपने बीच में बिठाना चाहते हैं, उनकी ट्रेनिंग होगी। इन आश्रमों में आपके बच्चों के शिक्षण का भी प्रबन्ध हो सकता है।

हम लोगों का स्वरूप जब ऐसा हो जायेगा तभी हम केन्द्रीय-राज्य और पूंजी के बाहर निकलने के लिए आपका मार्गदर्शन करते रह सकेंगे। नहीं तो हमारी सहानुभूति आपके लिए और आशीर्वाद उनके लिए रहने से कुछ भी नतीजा नहीं निकलेगा।

शंका—अगर सब लोग शरीरश्रम से उत्पादन करेंगे तो व्यवस्था का काम कौन चलायेगा? आखिर दफ्तर, कचहरी, डाकखाना, रेल, जहाज आदि कुछ-कुछ तो चलेगा ही। उसका क्या होगा?

समाधान—इस बात को समझने के लिए श्रेणीहीन समाज

पर गहराई से विचार करना होगा। मैंने कहा है कि हरएक आदमी को शरीरश्रम और बौद्धिकश्रम दोनों करना होगा। दोनों के अभ्यास और विकास से ही वह पूर्ण मनुष्य बनेगा। तब आदमी बुद्धिपूर्वक वैज्ञानिक शरीरश्रम से उत्पादन करके अपने शरीर का गुजारा करेगा और व्यवस्था का काम अधिक आदमियों में बाँटकर फैला देना होगा, ताकि शुद्ध बुद्धि का काम केवल समाज-सेवा में अर्पित हो सके।

अब रहा उस व्यवस्था का काम जो समाज के वृक्ष के ऊपर की डाली का होगा। उनके लिए नीचेवाले ऐसा नियम बना सकते हैं कि वे भी अमुक अवधि तक शरीरश्रम से उत्पादन अवश्य करें और जिस अनुपात से वे उत्पादन करें, व्यवस्था-कार्य में भी उनका वेतन उसी अनुपात से मिले। इस प्रक्रिया से अनिवार्य केन्द्रित-व्यवस्था के कारण विशिष्ट बुद्धिजीवी वर्ग की सृष्टि नहीं हो पायेगी।

शंका—लेकिन रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसा विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति हो तो क्या उसे भी उत्पादन-श्रम करना होगा? और होगा तो क्या प्रतिभा का दुरुपयोग नहीं होगा?

समाधान—असाधारण प्रतिभा की बुनियाद पर समाज-व्यवस्था का ढाँचा नहीं बनता है। समाज में जब कभी कोई असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति निकलेंगे, उस समय का समाज उनके लिए असाधारण व्यवस्था सोच लेगा। आज उसके लिए आप कुछ नहीं सोच सकते हैं, क्योंकि जो साधारण से परे होते हैं उन सबकी विशेषता एक किस्म की नहीं होगी। विशेषता का प्रकार देखकर समाज के लोग समुचित व्यवस्था कर लेंगे।

लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि उत्पादक-श्रम किसी के प्रतिभा-विकास के लिए बाधक नहीं होता, बल्कि वह प्रतिभा वास्तविक जीवन के अनुभव के कारण और प्रखर होती है। निःसंदेह रवीन्द्रनाथ ने इस तथ्य को महसूस किया था। यही कारण है कि उन्होंने उत्पादन के अभ्यास से शिक्षण-कला का विचार जाहिर किया और विचार को अमली रूप देने के लिए शांति-निकेतन और श्री-निकेतन का संगठन किया।

शंका—आपने कहा है कि उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से तालीम दी जायगी। साथ ही यह भी कहा है कि बड़े-बड़े कारखाने, नहर, रेलगाड़ी आदि भी रहेंगे; तो जिनको इंजीनियरिंग, डाक्टरी आदि सीखनी है, वे कैसे सीखेंगे तथा कवि और कलाकार का शिक्षण कैसे होगा?

समाधान—इंजीनियरिंग, डाक्टरी आदि केवल किताबें पढ़ने से नहीं आती। बचपन से ही यदि उत्पादन की प्रक्रिया का अभ्यास रहेगा, तो ये विद्याएँ ज्यादा अच्छी तरह समझ में आयेंगी। यह कैसे होगा, इसे समझने के लिए बुनियादी शिक्षा की पूरी योजना समझनी होगी।

मैंने कहा है कि समाज के हर कार्यक्रम के माध्यम से शिक्षा देनी होगी और यह भी कहा है कि सहकारी-समाज के लिए यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति का बौद्धिक, शारीरिक और सांस्कृतिक स्तर करीब-करीब बराबर हो। इसलिए हर व्यक्ति की पूर्णरूपेण शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। गांधीजी ने यह भी कहा है कि शिक्षा की अवधि जन्म से मृत्यु तक होती है। यह तो आप मानेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक किसी-न-किसी

काम में लगा रहता है। रेलवे, मोटर, हवाई जहाज आदि चीजें यदि दुनिया में रहेंगी, तो इनके उत्पादन के कारखाने कहीं तो रहेंगे ही। ऐसे कारखानों में आज मजदूर काम करते हैं। उस समय उत्पादन का काम विद्यार्थी करेंगे। इन कारखानों में आज जो विशेषज्ञ, इंजीनियर आदि रहते हैं वे शिक्षक होंगे। विद्यार्थियों के साथ प्रत्यक्ष उत्पादन का काम करते हुए उन्हें शास्त्रीय ज्ञान भी देंगे। ताता नगर, चितरंजन आदि जो बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र हैं, वे सब विश्वविद्यालय हो जायँगे। गृह-उद्योग, ग्रामोद्योग के माध्यम से नीचे दर्जे में शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी ऐसे केन्द्रों में जायँगे, तो उन्हें पहले ही से विभिन्न विज्ञानों की जानकारी रहेगी। फलस्वरूप आज इंजीनियरिंग कॉलेज में जो विद्यार्थी भरती होते हैं, उनसे ये विद्यार्थी ज्यादा योग्य होंगे। उसी तरह कृषि, बागवानी तथा वनस्पति-शास्त्र में रुचि रखनेवाले लोग प्रकृति की गोद में विचरते रहने के कारण साहित्य, कला तथा कविता का भी विकास कर सकेंगे। जिनकी प्रकृति स्वभावतः साहित्य, कला आदि की ओर झुकी रहती है, वे कुदरती तौर पर ताता नगर तथा चितरंजन की ओर नहीं झुकेंगे। वे बचपन से ही ऐसे उत्पादन का काम चुनेंगे, जिससे उन्हें प्रकृति के साथ एक होकर कला के विकास का मौका मिले।

हमारे प्रकाशन

●

(भूदान-साहित्य)

त्रिवेणी	।।)
भगवान् के दरबार में	=)
साहित्यिकों से	।।)
विनोबा-प्रवचन	।।।)
गीता प्रवचन	१)
भूदान-यज्ञ (नवजीवन)	१।)
विनोबा के साथ	१)
मानवीय क्रांति	।)
क्रांति का अगला कदम	।)
साम्ययोग की राहपर	।)
शासन-मुक्त समाज की ओर	।=)
युग की महान् चुनौती	।)
ग्रामराज	।-)
संपत्तिदान-यज्ञ	।)
व्यवहार-शुद्धि	।=)
सर्वोदय का इतिहास-शास्त्र	।)
श्रमदान	।)
पावन प्रसंग	।=)
भूदान-आरोहण	।।)
भूदान-दीपिका	=)
साम्ययोग का रेखाचित्र	=)
संत विनोबा और भूदान-यज्ञ	।-)
नयी क्रांति के गीत	।)
धरती के गीत	=)
विनोबा-चित्रावली	।।।)
Sarvodaya & World Peace	0-2
Revobutionary Bhoodan ycjna	0-4
Vinoba & His Misson	3-0

(ग्राम-जीवन-साहित्य)

हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण	१।।)
ग्रामसेवा के दस कार्यक्रम	१।)
गाँव-आंदोलन क्यों?	३।।)
स्त्रियाँ और ग्रामोद्योग	।)
नवभारत	४)
ग्राम-स्वालम्बन की ओर	।)
ग्राम-सेवा की योजना	=)

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी

गाँव का गोकुल

[मूल मराठी का हिन्दी रूपान्तर]

अप्पा पटवर्धन

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
वर्धा (म० प्र०)

पहली बार : २०,०००
सितंबर, १९५५
मूल्य : चार आना

मुद्रक :
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस,
बनारस

समर्पण

यह पुस्तिका मैं अपनी दिवंगत माता की पवित्र स्मृति को
अत्यंत भक्तिभाव से समर्पित करता हूँ। इस पुस्तिका
के विचार मुझे जितने गांधी-विनोबा से मिले हैं,
उससे भी अधिक मेरी माता से ही मिले हैं।
आज वह जीवित होती, तो भूदान-यज्ञ-
आंदोलन से उसे संतोष होता और मैं
उसमें भाग ले रहा हूँ, यह देखकर
वह मेरी पीठ थपथपाती।

गोपुरी
ता० १७-१०-'५४

—अप्पा पटवर्धन

अनुक्रम

गाँव का गोकुल

भूदान-यज्ञ का उद्भव और विकास : १ :

विनोबा आज के युग के प्रति-ज्ञानेश्वर[1] ही हैं। जैसे ज्ञानेश्वर के निवृत्ति और सोपान, दोनों भाई उन्हींके समान बुद्धिमान् एवं वैराग्यशील थे, वैसे ही विनोबा के दोनों भाई, श्री बाळकोबा और श्री शिवाजी भी बुद्धिमान्, विद्वान्, चुस्त ब्रह्मचारी एवं समाज-सेवा के लिए सर्वस्व अर्पण करनेवाले सेवक हैं। सारे संसार के इतिहास में ऐसा तीसरा उदाहरण शायद ही हो, जहाँ तीनों भाई परमार्थनिष्ठ रहे हैं।

बचपन में ही विनोबा ने देश-सेवा का तथा ब्रह्मचर्य का दृढ़ संकल्प किया। संत-वाङ्मय में उनकी विशेष रुचि थी। तुकाराम, रामदास, ज्ञानेश्वर आदि के ग्रंथ उन्होंने बचपन में ही कंठ कर लिये। सन् १९१४ में लोकमान्य तिलक का 'गीता-रहस्य' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। विनोबा ने उसका लगातार चौदह बार पारायण किया और इंटरमीडियेट की परीक्षा के लिए बम्बई जाने के बदले वेदांत के अध्ययन के लिए काशी की राह पकड़ी। वहाँ से १९१६ में वे गांधीजी के सत्याग्रह-आश्रम में दाखिल हुए।

---

१ ज्ञानेश्वर—महाराष्ट्र के ब्रह्मनिष्ठ कवि, दार्शनिक और संत-शिरोमणि। तेरहवीं शताब्दी में इनके कारण महाराष्ट्र का पुनरुत्थान हुआ। तब से आज तक महाराष्ट्र के देहातों में जब भी सामूहिक भजन होता है, तब 'ज्ञानेश्वर माउली' (माउली = माता)—'ज्ञानराज माउली' का नामघोष होता ही है।

बीच में ठीक एक वर्ष के लिए वे वाई के पंडित श्री नारायण शास्त्री मराठे के पास उपनिषदों के अध्ययन के लिए गये थे। उस एक वर्ष की अवधि को छोड़कर वे या तो साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में या १९२१ में अपने स्वयं स्थापित किये हुए वर्धा-आश्रम में अखंड साधना करते रहे। १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह-आंदोलन का श्रीगणेश करते हुए गांधीजी ने जब उन्हींको प्रथम सत्याग्रही के तौर पर चुना, तभी पहली बार बाहर की दुनिया ने विनोबा का नाम सुना। इसके बाद के चार साल उन्होंने जेल में व्यतीत किये। उस समय उन्होंने भारत की सारी भाषाओं का और लिपियों का अपना अध्ययन पूरा किया। कुरान का अध्ययन करने के लिए अरबी भाषा सीख ली। फारसी तथा अंग्रेजी भाषाएँ उन्हें अवगत हैं और संस्कृत का सारा धर्म-वाङ्मय तो उन्होंने आत्मसात् ही कर लिया है। भगवद्गीता पर उनकी अपार भक्ति है और उस ग्रंथ का उनका विशेष अध्ययन है। गीता का उनका समश्लोकी मराठी अनुवाद 'गीताई' अप्रतिम है। उनके 'मधुकर', 'गीता-प्रवचन', 'स्थितप्रज्ञदर्शन' आदि ग्रंथ लाखों निष्ठावान् पाठकों के जीवन में परिवर्तन कर रहे हैं।

हमने गांधीजी के युग में जन्म लिया और उनके नेतृत्व में काम करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ। इससे हमारा जन्म सार्थक हुआ। उसी प्रकार उनके बाद विनोबा-जैसे लोकोत्तर सत्पुरुष के नेतृत्व में भूदान-यज्ञ जैसे परम पवित्र आंदोलन में भाग लेने का सुयोग हमें प्राप्त हुआ। यह भी हमारा परम सौभाग्य है।

भूदान-यज्ञ

अप्रैल, १९५१ में हैदराबाद (दक्षिण) के समीप शिवराम-पल्ली गाँव में सर्वोदय समाज का सम्मेलन हुआ। उसमें भाग

लेने के लिए विनोबा वर्धा से हैदराबाद पैदल गये। सम्मेलन समाप्त होने के बाद तेलंगाने में जमींदारों और किसानों के बीच जो विग्रह की अग्नि सुलग रही थी, उसका उपयुक्त हल निकालने के उद्देश्य से विनोबा ने तेलंगाने की पदयात्रा प्रारंभ की। उस यात्रा में तारीख १८-४-'५१ को पोचमपल्ली गाँव में, विनोबा की प्रार्थना-सभा में वहाँ के हरिजनों ने विनोबाजी के सामने अपनी निराधार स्थिति रखी और प्रार्थना की कि यदि विनोबा उन्हें सरकार से पर्याप्त भूमि दिला देंगे, तो वे लोग बिना किसीको छेड़े या सताये, मेहनत-मजदूरी करके सुख-संतोष से अपना गुजारा कर लेंगे। उनकी वह माँग विनोबा को उचित मालूम हुई और उन्होंने वहाँ की सभा में उपस्थित जमींदारों से वहीं प्रार्थना की कि वे अपने इन गरीब भाइयों के लिए थोड़ी-थोड़ी जमीन दें। १६ हरिजन कुटुम्बों के लिए, प्रति कुटुम्ब पाँच एकड़ के हिसाब से, अस्सी एकड़ जमीन की आवश्यकता थी। श्रोताओं में से एक तरुण सज्जन श्री रामचन्द्र रेड्डी खड़े हुए और उन्होंने घोषणा की कि मैं अपनी जमीन में से सौ एकड़ अच्छी जमीन हरिजनों को अर्पित करता हूँ।

विनोबा ने माना कि मुझसे परमेश्वर प्रसन्न हुए, इसका यह चिह्न है। सज्जनों का हृदय ही परमेश्वर का निवास-स्थान है। प्रत्येक मनुष्य मूलतः सज्जन ही है। उसके हृदय में परमेश्वर का ही निवास होता है। वह सोता हो, तो भी सच्ची भक्ति की पुकार से वह जागता है और प्रकट होता है, इसका यहाँ उन्हें अनुभव हुआ। उस दिन से विनोबा जहाँ गये, वहाँ उन्होंने जमीन-मालिकों से भूमि-हीनों के लिए भूमि माँगी और प्रत्येक स्थान पर सज्जन भू-स्वामियों ने उन्हें जमीन दी भी। इस प्रकार उस समय तेलंगाना में बारह हजार एकड़ भूमि प्राप्त हुई।

तेलंगाना की यात्रा समाप्त कर विनोबा पैदल ही वर्धा लौटे।

थोड़े ही दिनों बाद उन्हें जवाहरलालजी का निमंत्रण, दिल्ली आकर मिलने के लिए, आया। जहाँ तक हो सके, विनोबा सिक्के का उपयोग करना टालते हैं। क्योंकि, पैसे से ही समाज में कई प्रकार के अनर्थ हो रहे हैं। वास्तव में पैसा सम्पत्ति नहीं है। वह तो केवल संपत्ति-दर्शक मुद्रा है, एक रुक्का है। किंतु आज के व्यवहार में फोटो ने मनुष्य को और चिट्ठी ने लेखक को पदच्युत कर उसकी जगह हड़प ली है। इसलिए व्यवहार से इस छलिया पैसे को निकाल बाहर करने पर विनोबा जोर देते रहते हैं। रेल, मोटर, विमान आदि का प्रवास बिना पैसे के हो नहीं सकता। इसके अतिरिक्त पैदल चलनेवाला स्वतंत्र होता है, अपने मन का राजा होता है। पैदल चलने से और भी कई बातें सिद्ध होती हैं। इसलिए विनोबा यथासंभव पैदल ही चलते हैं। आवश्यकता होने पर तो बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी का उपयोग कर लेते हैं। दिल्ली भी वे पैदल ही गये। रास्ते में भूदान का प्रचार जारी ही था। तपश्चर्या, विद्वत्ता, चिंतन, प्रतिभा तथा चारित्र्य के कारण विनोबा की वाणी में ऐसी शक्ति आ गयी है कि जिन-जिनके कानों में उनकी अमृततुल्य वाणी पहुँचती है, वे उनके भक्त बन जाते हैं। विनोबा को दिल्ली के रास्ते में भी काफी भूदान मिला। वहाँ से वे कार्यकर्ताओं के आग्रह से उत्तर प्रदेश में गये। वहाँ उन्हें चार-पाँच लाख एकड़ जमीन मिली और भूदान-यज्ञ-आंदोलन का यश चारों ओर फैलने लगा। अप्रैल, १९५२ में बनारस के समीप सेवापुरी में सर्वोदय समाज का सम्मेलन तथा सर्व-सेवा-संघ की सभा हुई। उसमें सर्व-सेवा-संघ ने आगामी दो वर्षों में सारे भारत में पचीस लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का संकल्प किया। सर्व-सेवा-संघ के प्रधानमंत्री श्री शंकरराव देव ने इस आंदोलन के लिए अपने-आपको समर्पित कर दिया और कई प्रदेशों में पद-यात्राएँ कीं। विनोबा ने यह स्पष्ट कर दिया कि ये पचीस लाख एकड़ तो

केवल पहली किस्त होंगे। १९५७ तक कुल पाँच करोड़ एकड़ जमीन दान में प्राप्त कर भूमिहीनों में बाँटनी है। इसी निश्चय से विनोबा काम कर रहे हैं।

गाँव का गोकुल

उत्तर प्रदेश की यात्रा पूरी कर विनोबा ने बिहार की पुण्यभूमि में प्रवेश किया। बिहार बुद्ध भगवान् की भूमि है। वहाँ विनोबा ने अपना यह निश्चय घोषित किया कि जब तक बिहार की भूमि-समस्या का पूरी तरह समाधान नहीं होगा अर्थात् जब तक वहाँ बत्तीस लाख एकड़ जमीन नहीं मिलेगी, तब तक वे बिहार छोड़कर नहीं जायँगे। उनका वह महान् संकल्प भी बहुत अंशों में पूरा हो गया है। दो वर्षों में पचीस लाख एकड़ से अधिक जमीन मिल गयी। बिहार में ५ अक्तूबर, १९५४ तक २२ लाख, १७ हजार एकड़ जमीन मिली है। शेष भूमि भी अब अवश्य मिलेगी, इस विश्वास से प्राप्त भूमि के बँटवारे की ओर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। उत्तर प्रदेश, बिहार एवं उड़ीसा में विनोबा को कई पूरे-के-पूरे गाँव दान में मिले हैं। जहाँ जमीन बड़े पैमाने पर वितरित होती है, वहाँ भूमि-दाताओं तथा भूतपूर्व भूमि-हीनों के बीच सद्-भावनाओं और नयी आशाओं की उमंग आती है और गाँव में नवजीवन का संचार होने लगता है। गाँव 'गोकुल' बन जाता है। विनोबा की इच्छा है कि भारत का प्रत्येक गाँव इस प्रकार गोकुल बने। हम सबकी भी इच्छा यही हो सकती है। कौन नहीं चाहता कि हमारा अपना गाँव अदालत के फैसलों से नहीं, बल्कि गाँव-वालों के पारस्परिक प्रेम, ऐक्य तथा संतोष से अपना जीवन सम्पन्न करे और वह गोकुल बने।

गाँव का गोकुल बनाने की सामर्थ्य भूदान-यज्ञ में ....

सबै भूमि गोपाल की

दूसरे प्रकार की सम्पत्ति के लोभों की अपेक्षा भूमि का लोभ सबसे अधिक बलवान है। पाव (¼) कट्ठा जमीन के लिए लोग हाईकोर्ट तक लड़ते हैं। और आप लोग कहते हैं कि जमीन-मालिक अपने पूर्वजों की कमायी हुई, पुश्तों से उनके खानदान के कब्जे में रही हुई जमीन शांति से और प्रेम से भूमिहीनों को दे दें। यह कैसे होगा ?

कैसे होगा, यह क्या पूछते हैं ? हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से हो रहा है। पिता जिस प्रकार अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय और प्रेम से प्रतिपालित कन्या बड़े प्रेम तथा भक्तिभाव से बड़े समारोह के साथ वर को सौंप देता है और ऊपर से कुछ अलंकारादि देकर अपने-आपको कृतार्थ मानता है, ठीक उसी प्रकार जमींदार और गरीब छोटे जमीन-मालिक भी भूमिहीनों को, अपनी आज तक की असामियों (कौलदार) और मजदूरों को भूमि अर्पित करने में तथा बैल, हल और जुआ आदि देने में अपने को धन्य मानते हैं।

सब ऐसा ही करें और धन्य हों। जो प्रेम से नहीं देंगे, उन्हें देने के लिए कल कानून बाध्य करेगा। कानून के रास्ते में रुकावटें आवें, तो शायद बलवा भी हो। उसमें सबकी हानि होगी। किंतु भूमि का पुनर्वितरण किसी हालत में भी टल नहीं सकता।

बलवा होगा कहना डराना-धमकाना नहीं है। वह तो एक संवेदनापूर्ण पूर्व-सूचना है।

किंतु यदि लोग भूदान-यज्ञ का पवित्र संदेश समझने की कोशिश करेंगे, तो वह उन्हें जरूर जँचेगा और यदि बहुत लोग उस तत्त्व का आचरण करेंगे, तो उससे सबका कल्याण ही होगा।

मुझे यह विश्वास है कि लोग मानेंगे और प्रेम से तथा शांति से भूमि-वितरण होगा, कानून भी यथासमय होगा, हो भी रहा है और विरोध करने का दुःसाहस भी कोई नहीं करेगा।

लेकिन उसके लिए भूदान-यज्ञ के पीछे जो सद्विचार है, उसे लोगों को भलीभाँति समझा देना चाहिए। उनकी शंकाओं का, कठिनाइयों का तथा आशंकाओं का निवारण करना चाहिए। इस पुस्तिका का यही उद्देश्य है। विनोबा का तो सारा जोर विचार-प्रचार पर ही है। लिहाज-मुहब्बत के लिए भय से या दबाव से कोई एक चप्पा भर जमीन न दे। समझ में आने पर, बात दिमाग में खप जाने पर और जी में भाने पर लोग अपने-आप देंगे और दूसरों से दिलवायेंगे। किसीके मना करने पर भी वे नहीं मानेंगे। जो अनिवार्य प्रेरणा हमें इस विचार का प्रचार करने के लिए प्रवृत्त कर रही है, वही प्रेरणा उनसे भूमि दिलाये बिना कैसे रहेगी?

न्याय का नया तत्त्व

सामाजिक न्याय समय के अनुसार बदलता रहता है। "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है", राष्ट्रों-राष्ट्रों के बीच न्याय का यह नया तत्त्व लोकमान्य तिलक ने दुनिया के सामने रखा और उसीकी परिपूर्ति के रूप में महात्मा गांधीजी ने "भारत छोड़ो" की महत्त्वपूर्ण घोषणा की। परिणाम यह हुआ कि कुल पाँच साल में ही अंग्रेज भारत छोड़कर चले गये। उनके पश्चात् छह सौ राजा-महाराजाओं ने अपनी राजगद्दियाँ शीघ्र ही छोड़ दीं। साम्राज्य गये, राज्य गये, जागीरें गयीं, मनसबदारी गयी, इनामदारी जा रही है। इसमें कोई अन्याय नहीं हुआ; बल्कि अन्याय का निराकरण ही हुआ। इंग्लैण्ड के राजा को, पुर्तगाल के राजा ने बम्बई द्वीप दहेज में दिया था। पूना के दूसरे

बाजीराव ने महाराष्ट्र का राज्य एल्फिन्स्टन साहब के सिपुर्द किया था, किन्तु उसी पूना में स्वराज्य की एवं उसी बम्बई में "भारत छोड़ो" की ललकार उठी न! फरासीसियों से भी हमने भारत पर से अपने स्वामित्व का अधिकार छोड़ने को कहा और उन्होंने हमारी बात मान भी ली। पोर्चुगीज नहीं मान रहे हैं, इसलिए हम उन्हें उद्दण्ड कहते हैं और क्या यह भी नहीं कहते कि जमाना उन्हें हमारी बात मानने को बाध्य करेगा?

फिर वही न्याय 'सर्वे नंबरों के राज्यों' के लिए भी लागू हुए बिना कैसे रहेगा? जमीन-मालिक राजा ही तो हुआ। लैंड माने भूमि और लॉर्ड माने पति! असामी उनकी रैयत या प्रजा हुई! सब तरफ के राज्य समाप्त हो गये, फिर भला ये छिटपुट राज्य कैसे ठहर सकते हैं? ब्रह्मदेश ब्रह्मी लोगों का है। थिबा राजा अंग्रेजों की शरण गया या कैद हुआ। इतने से ही ब्रह्मदेश पर अंग्रेजों को राज्य करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। एल्फिन्स्टन को महाराष्ट्र दे देने का अधिकार ही बाजीराव को नहीं था। स्वराज्य तो हर देश के लोगों का अविभाज्य अधिकार है। इस अधिकार का न तो कोई दान कर सकता है और न अपहरण। यदि कोई ले लेता है, तो वह चोरी का माल लेगा। उसी न्याय से मैं जिसे जोतता हूँ, वह जमीन मेरी है, उसका लगान माँगने का किसी और को क्या अधिकार है? तो कहते हैं कि मेरे दादा ने उसके दादा को कर्ज-अदायी में जमीन की बिक्री का दस्तावेज लिख दिया था। किंतु भूमि तो ईश्वर की देन है। मनुष्य उसे कमाके फसल उपजावे, यह ईश्वर की या प्रकृति की कह लीजिये, योजना है। मेरे दादा को उसे बेचने का अधिकार नहीं था, उसके दादा को खरीदने का नहीं था। यदि पहले कभी रहा हो, तो भी वह अब रद्द हो जाना चाहिए।

जिस प्रकार स्वराज्य सारे राष्ट्रों का अविभाज्य अधिकार है,

उसी प्रकार परिश्रम से जीविका कमाने का प्रत्येक नागरिक को मूलभूत नैसर्गिक अधिकार है। उसका मुख्य साधन भूमि है। परमेश्वर ने पहले भूमि का निर्माण किया और बाद में मनुष्य का निर्माण किया है। भूमि का यह जन्मसिद्ध अधिकार कोई किसीको बेच नहीं सकता और न उसे कोई प्राप्त कर सकता है।

पुनर्वितरण

इसलिए जब भूमि का पुनर्वितरण होगा, और हरएक को उसके हिस्से की जमीन मिलेगी, तभी लोकतंत्र की परिपूर्ति होगी। लोकशाही के तत्त्व के आधार पर हमने स्वराज्य माँगा और उसी बुनियाद पर वह हमें मिला। जिस तत्त्व के अनुसार साम्राज्य नष्ट हुए और राज्य स्वतंत्र हुए, उसी तत्त्व के अनुसार अब जमींदारी मिटकर जोतनेवाले काश्तकार स्वतंत्र होने चाहिए। जमीन की ठेकेदारी बंद होनी चाहिए। लोकशाही में सभी राजा हैं अर्थात् सभी लोग जमीन के मालिक हैं।

स्वामित्व का मूल

भूमि की मालकियत का आरंभ मूलतः दो प्रकार से हुआ : जमीन कमाने के कारण या हड़प लेने के कारण। यह स्वाभाविक और उचित भी था कि जो मनुष्य जिस जमीन पर बस गया, जहाँ उसने अपना पसीना टपकाकर झाड़-झंखाड़, काँटे-कंकड़ निकालकर जमीन साफ की, गढ़े पाटे, जमीन समतल की, खेतों की मेड़ें बनायीं, समतल भूमि में पेड़ लगाये, बावड़ी खोदी और मोट लगायी, वह जमीन उसकी समझी जाय। प्रारंभ में किसीने भूमि ब्रह्मदेव से तो नहीं खरीदी थी। हरएक को केवल परिश्रम से ही भूमि का स्वामित्व प्राप्त हुआ।

शुरू में जिस तरह जोतनेवाले को और परिश्रम करनेवाले को जमीन की मालकियत मिली, उसी तरह आज के जोतनेवाले

को वह क्या न मिले ? शुरू का जोतनेवाला यदि कुछ मालदार हो जाने से, दूसरे किसी अधिक लाभदायी रोजगार में लग जाने से खेती करना छोड़ दे, तो उसकी मालकियत भी क्यों न नष्ट होनी चाहिए ?

खेती, जमीन की चाकरी है और फसल है उसका वेतन। जो चाकरी करता है, उसीको पूरा वेतन मिलता है। उसे अपने वेतन का कुछ हिस्सा पहले के नौकर को देना नहीं पड़ता।

परंतु मौजूदा काश्तकार को यानी भूमि के वर्तमान चाकर को, अलबत्ता जमीन के मालिक को यानी पुराने चाकर को वेतन यानी फसल का कुछ हिस्सा देना चाहिए, ऐसा रिवाज पड़ गया है। डिप्टी कलेक्टर की जगह प्राप्त करने के लिए अगर कोई तहसीलदार की जगह छोड़ दे, तो नया तहसीलदार पुराने तहसीलदार को कुछ लगान नहीं देता। कुछ प्राथमिक अध्यापक अधिक कमाई की आशा से मास्टरी छोड़कर रसोइये बन जाते हैं; तब उनका स्थान जिन बेकारों को मिलता है, वे उन रसोइयों को उस अध्यापक की जगह का किराया नहीं देते। बेकार रहने पर भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति इतना बुद्धू नहीं बनेगा। फिर मूलतः जो किसान है, वह अगर अधिक कमाई की आशा से खेती छोड़ वकालत करने लगता है, तो उसकी जगह पर आनेवाला काश्तकार वकील साहब को बटाई क्यों दे ? क्या इसलिए कि वह भोला-भाला है ?

लगान का समर्थन और उसकी मर्यादा

नहीं, यह केवल भोलापन ही नहीं है। सबसे पहले के किसान ने प्रारंभ में बंजर भूमि में अपने खून का अर्थात् परिश्रम की खाद देकर उसे कमाया, उपजाऊ बनाया। उसमें आम लगाये, अमरूद लगाये, उन्हें सींचा, सँभाला और दीर्घकाल तक उनकी सेवा-चाकरी की, तब कहीं बीस-पचीस वर्ष के बाद उसे उन के

फल चखने को मिले। अब जब वह दूसरे के हवाले जमीन करके चला जाने लगा, तो दूसरा मनुष्य बिना परिश्रम के मिले हुए बने-बनाये आम-अमरूद का हिस्सा मूल किसान को दे, यह उचित ही है। यही 'लगान' कहलायगा। जैसा आम-अमरूद आदि फल-वृक्षों का लगान, वैसा ही धान की खेती का भी। किंतु भूमि का यह लगान लेना जैसे मुनासिब साबित होता है, वैसे ही कितनी मुद्दत तक वह वसूल किया जाय, इसकी भी कुछ मर्यादा होती है। दस-बीस बरस की मेहनत से जमीन उपजाऊ बनायी, इसलिए अगर लगान लेना उचित है, तो आगामी दस-बीस साल तक उसका अनुपात उत्तरोत्तर कम होता जाना चाहिए। यावच्चन्द्रदिवाकरौ लेते रहना उपयुक्त नहीं हो सकता।

उदाहरणार्थ, छोटेलाल ने एक होटल खोला और उसकी साख जमायी। अब उसी जगह पर वही धंधा चलाने के लिए प्यारेलाल ने उसे लिया, तो इस साख के लिए (अंग्रेजी में जिसे 'गुडविल' कहते हैं) प्यारेलाल, छोटेलाल को वार्षिक कुछ रकम दे, यह उचित है और ऐसा रिवाज भी है। लेकिन यह व्यवस्था कुछ बरसों तक ही रहेगी। बाद की साख तो प्यारेलाल की कार-गुजारी और सिफत पर निर्भर करेगी।

भूमि का लगान भी साख की तरह कुछ मर्यादित समय तक लेना ही शोभा देगा। छोटेलाल प्यारेलाल से लंबे समय तक या बड़ी रकम माँग नहीं सकता। यदि वह माँगता है, तो प्यारेलाल कहेगा कि मुझे तेरी साख की कोई आवश्यकता नहीं है। पुश्त-दर-पुश्त तुझे हिस्सा देते रहने की अपेक्षा मैं अपनी हिम्मत पर तेरे ही सामने होटल चलाऊँगा और अपना सिक्का जमाऊँगा।

किंतु जैसे होटल नया खोला जा सकता है, वैसे भूमि नयी बनाने की गुंजाइश अब नहीं रही। सब जमीनों पर कब्जा हो चुका है। जो जितनी जमीन हथिया सका, उसने उतनी हथिया

ली है और अब नये आनेवालों के सिर फोड़ने के लिए यह 'बलिराजा' सोंटा लेकर तैयार है। जो नया आया है, वह बेचारा गरीब (बे-घरबार का) है, उसकी इस पुराने घाघ मालिक के सामने एक न चली। उसे तो पीढ़ियों तक शिकमी किसान के नाते असामी बनकर ही मेहनत-मशक्कत करते रहना होगा।

छीना-झपटी

भूमि का स्वामित्व मूल में जैसे मेहनत-मशक्कत से प्राप्त हुआ, वैसे ही वह जोर-जबरदस्ती से हड़पकर प्राप्त की गयी है। जमीन की मालकियत के बारे में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सिलसिला बराबर चलता आया है। यूरोपियनों ने अफ्रीका, अमेरिका आदि भिन्न-भिन्न प्रदेशों पर अपने-अपने राष्ट्र के निशान फहराये। उस समय से वे देश उनके मूल निवासियों सहित उन राष्ट्रों की मालकियत बन गये। अब एशिया के लोग वहाँ खेती करने जाने की सोचेंगे और वैसा प्रयत्न करेंगे, तो उन्हें वहाँ के सत्ताधारी लोगों की तोपों का शिकार होना पड़ेगा।

जिस प्रकार बड़े-बड़ों की जोर-जबरदस्ती चल रही है, उसी प्रकार मानना होगा कि जमीन के पट्टेदारों (खातादारों) की हुकूमत भी चाहे वह कानून से भले ही कायम की गयी हो, कम या अधिक मात्रा में जबरदस्ती पर ही आधारित है। रेलगाड़ी के प्लैटफॉर्म पर आकर ठहरते ही जैसे कुछ मुठमर्द मुसाफिर अच्छी जगह रोक लेते हैं, वैसे ही जिसके लिए संभव हुआ, उसने अच्छी और उपजाऊ भूमि हड़प ली। बाद में आनेवालों को या तो निकृष्ट भूमि से संतुष्ट रहना पड़ा या फिर दूसरों के असामी बनकर उनकी मेहरबानी पर जीना पड़ा। जमीन-मालिक ही कानून बनानेवाले भी थे। (हिंदुस्तान में भी स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व बड़े-बड़े पट्टेदारों को ही मत-दान का अधिकार था।) स्पष्ट है

कि वे अपनी सुविधा के ही कानून बनाते थे। बलिष्ठों ने जमीन आपस में बाँट ली और दुर्बलों को मेहनतकश काश्तकार बनाकर बिना श्रम से मिलनेवाले लगान पर वे ऐश-आराम करने लगे।

खरीदार

लेकिन कुछ जमींदार कहेंगे कि हमने न तो जमीन पर जबरदस्ती कब्जा किया और न सिर्फ वह हमें मेहनत पर मुफ्त मिली है। हमने नकद कीमत देकर जमीन खरीदी है।

पर आपने वह खरीदी किससे ? या तो जुल्मी मालिक से ली होगी या जोतनेवाले मालिक से। अर्थात् बेचनेवाले को जितना और जैसा अधिकार था, उतना ही अधिकार आपको प्राप्त हुआ। चोरी का सोना खरीदने पर चोर का उस पर जितना अधिकार होता है, उतना ही खरीदार का होता है। यानी चोरी का पता जब तक नहीं लगता, तभी तक उस पर खरीदार की मालकियत रहती है। बात खुलते ही सोना जब्त होता है और खरीदार भी अपराधी करार दिया जाता है। उसी प्रकार आपने यह जबरदस्ती का अधिकार जबरदस्त कीमत देकर हासिल किया है। अब ईश्वर ही आपकी रक्षा करे।

जोतनेवाले परिश्रमी मालिक से आपने जमीन खरीदी हो, तो भी उसे सिर्फ अपनी साख यानी जमीन में की हुई तरक्की ही बेचने का अधिकार था। सब भूमि का असली मालिक ईश्वर ही है। उसके हस्ताक्षर आपके बिक्री-पत्र पर नहीं हैं। अर्थात् आपने जोतनेवाले मालिक को "पगड़ी"[१] दी, कीमत नहीं। दोनों

---

१ बंबई की 'चालों' में रहनेवाले किरायेदार अपनी जगह जब दूसरे किरायेदार को देते हैं, तो उस नये किरायेदार से नजराने के तौर पर जो रकम लेते हैं, वह "पगड़ी" कहलाती है।

अवस्थाओं में भूमि के न्याय्य वितरण में रुकावट डालने का अधिकार आपको नहीं है।

मालकियत नहीं, इनाम

यही बात दूसरी तरह से समझानी हो, तो कहना होगा कि भूमि मानव-समाज को ईश्वर का दिया हुआ इनाम है। अर्थात् आज के पट्टेदार केवल इनामदार हैं। इनामी हक खरीदा या बेचा नहीं जा सकता। जिसे इनाम मिला हो, वही उस हक का उपभोग कर सकता है। आज जो भूमि-हीन कृषि-मजदूर या असामी समझे जाते हैं, वे भी असल में इनामदारों के हिस्सेदार ही हैं। उनकी असहाय और अज्ञान दशा में जब वे नाबालिग और असहाय थे, तब उनका अधिकार दूसरों ने हड़प लिया था। अब वे बालिग और समर्थ हो गये हैं, इसलिए उनका वह अधिकार अब उन्हें लौटा देना है।

मर्यादित स्वामित्व

इसका अर्थ यह होता है कि भविष्य में भूमि का संपूर्ण स्वामी कोई भी नहीं रहेगा। भूमि मनुष्य के स्वामित्व की वस्तु नहीं है। भूमि-हीनों को जो भूमि मिलेगी, वह भी स्वामित्व के अधिकार से नहीं मिलेगी, बल्कि योग्यता के अधिकार से मिलेगी। जब तक वे उस भूमि को अच्छी तरह से कमायेंगे और जब तक उनके पास जीविका का और कोई अधिक लाभदायी साधन नहीं होगा, तभी तक उनके पास भूमि रहेगी। वे उसे बेच नहीं सकेंगे या ठेके पर किसी और को देकर वे खुद दूसरे किसी रोजगार के लिए जा नहीं सकेंगे।

इसीका अर्थ है "सबै भूमि गोपाल की"—सारी जमीन ईश्वर की है। अर्थात् गाँव की, समाज की यानी सबकी। सबके

सुभीते की दृष्टि से या तो उसका वितरण हो या उसकी सामु-दायिक जोत हो। उस पर कोई अपना निजी अधिकार नहीं रख सकेगा। पैसे सुरक्षित रखने का आज तक जमीन एक निरापद साधन था। अब वह उस रूप में नहीं रह सकती।

मालकियत बनाम लियाकत

साम्राज्यशाही या राजशाही को पीछे छोड़कर अब हम लोकशाही के रास्ते पर चल रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि अब मालकियत की जगह लियाकत लेगी। मालकियत विरासत में मिलती है लेकिन लियाकत हरएक को अपने प्रयत्न से प्राप्त करनी पड़ती है। आज तक राजा का पुत्र राजा हुआ, दीवान का बेटा दीवान हुआ, कोतवाल का लड़का कोतवाल और चपरासी का लड़का चपरासी हुआ। क्योंकि लोगों की यह धारणा रही कि योग्यता भी रक्त के साथ विरासत में मिलती है। ऐसी अन्याय की परम्परा चलती आयी। योग्यता भी खानदान से निर्धारित की जाती थी और अयोग्यता भी खानदान से ही निर्धारित होती थी। "यद्यपि ब्राह्मण हो भ्रष्ट, तथापि तीनों लोकों में श्रेष्ठ"—ऐसी भोली धारणा ब्राह्मणेतरों की भी थी; बल्कि यह कल्पना थी कि शूद्र संस्कृत उच्चारण कर ही नहीं सकते। (उन्हें वेदाधिकार नहीं है, इसके यही माने हो सकते हैं; क्योंकि वेदों का अर्थ तो करने की जरूरत किसीको भी नहीं थी!) किंतु अब ये सब कल्पनाएँ भ्रमपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं। अब आनु-वंशिक परंपरा के स्वामित्व की कल्पना का जीवन के हर क्षेत्र में से निराकरण हो गया है। पहले देशमुख का लड़का ही देशमुख हो सकता था, लेकिन अब कलेक्टर के लड़के को क्लर्क का काम भी स्वीकार करना पड़ता है और चपरासी का लड़का उसके ऊपर का हाकिम या कलेक्टर बनकर आता है। आज लोकशाही अर्थात्

योग्यता के अनुसार अधिकार का तत्त्व सर्वत्र चरितार्थ हो रहा है। केवल सर्व नंबर के राज्य अभी वंश-परंपरागत अधिकार पर चल रहे हैं। अर्थात् अब उनके दिन भी लद गये हैं।

द्रौपदी की कहानी

मेरे इस विवेचन पर कोई यह आपत्ति करेगा कि "जिन्होंने अपने परिश्रम से कमाया, पैसा लगाकर या जरूरत होने पर दूसरों से ऋण लेकर भी हाल में ही जमीन खरीदी, उन जमीन-मालिकों के साथ इसमें विश्वासघात होता है, वे किराये के लिए मकान बनाते, शेयर खरीदते या कम-से-कम बैंकों में पैसा जमा करते, तो उन्हें निर्बाध रूप से आमदनी होती रहती और वे अपनी पूँजी अपनी मर्जी के मुताबिक काम में ला सकते थे। परंतु आपके इस भूदान-यज्ञ के कारण और सभी तरह से मुसीबत बढ़ानेवाले कानून की बदौलत सिर्फ जमींदार-वर्ग ही पिस रहा है। आज कानून बना है कि मालिक को सिर्फ छठा हिस्सा ही ठेके के रूप में मिलेगा। इसी तरह के दूसरे कानून भी बनते चले जाते हैं। इसलिए कोई जमीन बेचना चाहे, तो खरीदार की भी हिम्मत नहीं होती।

ऊपर की आपत्ति में जितना तथ्यांश है, उतना हमें भी मंजूर है और इस नयी नीति के कारण जिन लोगों को मुसीबत का सामना करना पड़ता है, उनके लिए हमें सहानुभूति भी है। किंतु हरएक सुधार एक प्रकार की क्रांति ही होता है और क्रांति के चक्कर में कुछ व्यक्ति या वर्ग पिसते हैं। ऐसे लोगों को हरजाना या मुआवजा देने के लिए नहीं; बल्कि उनको हतवीर्य होने से बचाने के लिए, उनकी कुछ सहायता अथवा मार्ग-दर्शन समाज या सरकार अवश्य करे। हम व्यक्तिगत रूप से यह स्वीकार करते हैं कि सुधारों का जो लोग प्रतिपादन करते हैं, उन्हें उन सुधारों के कारण

कुछ लोगों पर आनेवाली विपत्तियों के निराकरण का प्रयत्न भी करना चाहिए। आपद्ग्रस्तों को भी चाहिए कि वे अपने संकीर्ण स्वार्थ के कारण सुधारों के विरोध का पाप न करें। उदाहरणार्थ, शराब-बंदी के कारण शराबवालों का व्यवसाय खतम हो गया और वे बेकार हो गये। किंतु शराब-बंदी का जो आंदोलन हुआ, वह उन्हें हानि पहुँचाने के लिए नहीं किया गया; बल्कि लोक-कल्याण की कामना से किया गया। अतएव उन्हें चाहिए कि वे इस शुभ कार्य का विरोध न करें। साथ ही साथ सरकार तथा समाज को भी चाहिए कि अन्य उपयुक्त व्यवसायों को करने में शराब के व्यापारियों की सहायता करे। भारत को स्वराज्य मिला, देशी राज्य विलीन हुए और गोवा-मुक्ति का आंदोलन जारी है। इन सबके कारण क्या कम लोगों पर मुसीबतें आयी होंगी या आनेवाली होंगी, परंतु सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए यह आवश्यक था और है कि उन सभी स्वार्थों का निराकरण हो, जो अन्याय्य सिद्ध हो चुके हैं। उसी प्रकार भूदान-यज्ञ की बदौलत अगर कोई मुसीबत में पड़ता है, तो उसे भी विवेक से काम लेना चाहिए।

भूमि निजी स्वामित्व की वस्तु नहीं है। क्रय-विक्रय की वस्तु नहीं है। यह विचार आज नया-सा भले ही प्रतीत हो, किंतु इससे पहले भी ऐसे ही कई नये-नये विचारों को अपनाकर मानव-समाज ने सुधार की या क्रांति की ओर (दोनों एक ही हैं) कदम बढ़ाते हुए प्रगति की है।

उदाहरणार्थ, स्त्री भी किसी समय स्वामित्व की या सौदे की वस्तु या सम्पत्ति मानी जाती थी; लेकिन अब वह वैसी नहीं मानी जाती। हजरत मुहम्मद पैगम्बर के पूर्व अरब लोगों में ऐसी प्रथा थी कि पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र को उसके पिता की संपत्ति के साथ उसकी सौतेली माताएँ भी, पत्नियों के नाते, विरासत में

मिलती थीं। हमारे यहाँ भी यह प्रथा थी कि विधवा भौजाई से देवर विवाह करता था। सुग्रीव ने बालि का वध करने के बाद उसके राज्य के साथ उसकी पत्नी अर्थात् अपनी भौजाई पर भी कब्जा कर लिया। पांडवों ने तो द्रौपदी की बाजी लगा दी और उसे हार गये। तब द्रौपदी अपने वस्त्राभूषणों सहित दुःशासन के कब्जे में गयी। वह उस मालकियत के हक के आधार पर भरी सभा में द्रौपदी का अपमान करने लगा। पांडव महाशूर थे। किन्तु इकरार से उनके हाथ बँधे हुए थे। कौरवों को इकरार के कानून का दृढ़ आधार था। प्रचलित कानून के आगे द्रौपदी विवश थी। ऐसे संकट के समय उसने ईश्वरीय कानून का आवाहन किया। भगवान् श्रीकृष्ण दौड़कर आये और उन्होंने जुआड़ियों के आपसी इकरार को तोड़कर द्रौपदी को उसके पतियों के सिपुर्द कर दिया।

उसी प्रकार यह भूमि माता है। किसान उसके औरस पुत्र हैं। इन पुत्रों ने शायद पेट के लिए, शायद व्यसनों के लिए या जूए के लिए भी, किये हुए कर्ज के कारण तथा ब्याज में उसे साहूकार के हाथ बेच दिया होगा। साहूकार की उस पर कानूनी मालकियत कायम हो गयी है। किंतु वह अपनी मुक्ति के लिए ईश्वर का आवाहन कर रही है।

और वह प्रभु कहीं दूर से, वैकुण्ठ से गरुडारूढ़ होकर नहीं आनेवाला है। सज्जन का हृदय ही प्रभु का सिंहासन है। मनुष्य मात्र ही सज्जन है। साहूकारों के हृदय में भी प्रभु निद्रित है। उस प्रभु को जगाने के लिए ही हम यह प्रभाती गा रहे हैं। हमारी भक्ति वास्तविक होगी तो प्रभु दौड़कर आवेंगे और भूमि-माता को उसके बिछुड़े हुए लालों के साथ मिला देंगे।

हिमालय में पंगवाल नाम की एक छोटी आदिवासी जाति है। वहाँ स्त्री-पुरुषों का अनुपात यह है कि हर तेरह पुरुषों की

संख्या के लिए स्त्रियों की संख्या बारह है। इसके अलावा एक पुरुष के कई स्त्रियों के साथ विवाह होने की प्रथा प्रचलित है। परिणाम यह होता है कि आधे पुरुषों के विवाह होते हैं और बाकी पुरुषों को जबरन ब्रह्मचारी रहना पड़ता है। इसलिए अनाचार और अनर्थ पैदा होना अनिवार्य ही है। उस जाति के नेताओं को अब इस पद्धति की अवांछनीयता का भान होने लगा है।

भूमि का विषम विभाजन भी इसी प्रकार अनर्थावह है। तेलंगाना में उस विषमता को दूर करने के लिए उतने ही अनर्थकारक उपाय से काम लिया जा रहा था। परंतु भारत का यह सद्भाग्य है कि ठीक समय पर विनोबा का उदय हुआ और वे उन प्रयत्नों को कल्याणकारी मार्ग पर मोड़ सके।

गुलामी का आख्यान

जैसे स्त्री एक समय विक्रय की वस्तु थी, वैसे ही पुराने जमाने में माँ-बाप अपने बच्चे भी बेचते थे। गुलामी की प्रथा का आरंभ इसी तरह हुआ। एक गरीब के संतानें हैं, पर उन्हें खिलाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। ऐसी अवस्था में उससे अपने बच्चों के कष्ट देखे नहीं जाते। वह सोचता है कि एकाध बच्चा किसीको बेच क्यों न दिया जाय? किसी बाप को अपना बच्चा बेचने का शौक थोड़े ही होता है, किन्तु क्या करे? घर में बच्चे की शोचनीय हालत देखते रहने की अपेक्षा यदि किसी समझ-बूझवाले लड़के को बेच दिया जाय तो वह रोटी से लग जायगा और उसकी जो कीमत आयेगी, उससे घर के अन्य बच्चों को भी कुछ समय तक जिलाया जा सकेगा। इस तरह हिसाब करने पर गरीब-नासमझ माँ-बाप अपनी संतान साहूकारों के हाथ बेच डालते थे और यह सौदा दोनों पक्षों के लिए लाभदायी होता था। बाप को पैसे मिले—

बिका हुआ लड़का रोटी से लगा। देह पर कपड़ा, कंबल, पनही, बिस्तर, ओढ़ना, कभी कोई बीमार हुआ तो दवा,—किसी चीज की कमी नहीं रही। साहूकार को भी थोड़ी कीमत में स्थायी और हुक्मी, एक ही नहीं, बल्कि हर पीढ़ी में एक के पाँच, पाँच के पचीस—इस प्रकार बढ़ती संख्या में नौकर मिलते गये। अतएव मालिक नौकरों को भलीभाँति खिला-पिलाकर हृष्ट-पुष्ट करते थे (हम बैलों को करते हैं, उससे भी अधिक चिन्ता से)। वे उसका ब्याह भी कर देते। घर में गुलामों की संख्या यदि अधिक हो जाती, तो उनमें से आवश्यकता के अनुसार रखकर शेष को बेच डालते थे। इस तरह कमाई भी हो जाती। प्रायः सारे मालिक गुलामों से प्रेम का व्यवहार करते थे। और गुलाम भी अपने स्वामी के प्रति कृतज्ञ रहते और ईमानदारी से काम करते थे।

गुलामी की यह प्रथा सदियों तक बड़े मजे में चलती रही, बढ़ती गयी और फलती गयी। गुलामों का क्रय-विक्रय बड़े पैमाने पर होता था। क्रय-विक्रय करनेवाले दलाल भी हुआ करते थे। उनका व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय रूप में चलता था।

किंतु बाद में यह प्रथा क्षीण होती गयी। अपने एकाध-दो गुलामों से मालिक दया का सलूक कर सकता था, लेकिन पेशेवर दलालों का काम इस तरह दया के व्यवहार से नहीं चल सकता था। और गुलाम भी अब पहले की तरह नहीं रहे थे। उनके भी सींग निकलने लगे। बाप के यहाँ किस तरह भूखों मरना पड़ता था और मालिक के यहाँ आने पर भरपेट खाने के लिए किस तरह मिलने लगा, यह सारी पुरानी बात शुरू के गुलामों के नाती-पोते भूल गये। वे हिसाब करने लगे कि मेरे दादा को मालिक के दादा ने नब्बे साल पहले चालीस रुपये में खरीदा। शुरू में एक, बाद में पाँच और अब तो हम पंद्रह नौकर दिन-रात इस मालिक के घर में काम कर रहे हैं। खा-पीकर दो आना हर

रोज की मजदूरी मानी जाय तो भी क्या नब्बे वर्ष में उसके चालीस रुपये अदा नहीं हुए? हम मुफ्त में इनका काम क्यों करें? इस तरह वे काम से बचने में हीले-हवाले करने लगे। नतीजा यह हुआ कि साहूकार के लिए गुलामों से काम लेना फायदेमंद नहीं रह गया। गुलामों से तो रोजी लेकर काम करनेवाले आजाद मजदूर ही अच्छे, ऐसा मानने की नौबत आयी। 'ये खायेंगे प्रतिदिन रुपये का, काम करेंगे बारह आने का और उनकी देख-रेख तथा व्यवस्था-खर्च होगा तेरह आने का। इससे यही समझना बेहतर होगा कि इनके लिए दी हुई कीमत एकबारगी फजूल गयी। ये भाग जायें तो भी अच्छा होगा।' पर वे न तो भागते थे और न काम ही करते थे! जल-मार्ग से जहाजों द्वारा दूसरे देशों में जब उनका निर्यात होता था, उस समय कुछ गुलाम अपने प्राणों की परवाह न करते हुए समुद्र में कूद पड़ते थे। हाथ-पाँव में वजनदार बेड़ियाँ होने के कारण वे सीधे समुद्र की तह में ही पहुँच जाते थे। उन्हें बाहर निकालना भी असंभव हो जाता था। इस प्रकार बेचारे दलाल का नाहक नुकसान होता था। इसलिए उसको भी इस व्यापार के लिए कोई उत्साह नहीं रह गया।

इधर सहृदय मालिकों से और विशेषकर हमारे जैसे कंगाल समाज-सुधारकों से गुलामों की यह पराधीनता देखी नहीं जाती थी। घर में गुलामों की संख्या बढ़ने पर मालिक उनमें से दो तगड़े भाइयों को हफ्ते के बाजार में बिक्री के लिए भेज देते। भिन्न-भिन्न देशों के दो ग्राहक दोनों भाइयों को खरीदकर अपने-अपने घर ले जाते। दूसरे शब्दों में हम जिस तरह बैलों को बेच देते हैं, उसी तरह का यह सौदा भी होता था। किंतु बैल एक-दूसरे का नाता नहीं पहचानते। उनकी माँ भी बछड़े का दूध पीना बंद होते ही उसे भूल जाती है। आदमी की स्थिति वैसी नहीं है। उसे कौटु-

म्बिक प्रेम का ज्ञान तथा बोध रहता है। बाजार में बिकनेवाले गुलाम भाई और उनकी माँ एक-दूसरे के गले से लिपटकर 'अब हम इस जन्म में एक-दूसरे को फिर से देख भी नहीं सकेंगे' इस विचार से फूट-फूटकर विलाप करते थे। उनका वह विलाप सुनकर आसपास के लोगों का भी जी भर आता था। वे मन में निश्चय करते कि गुलामी की यह पापी प्रथा नष्ट होनी ही चाहिए।

इस प्रकार गुलामी की प्रथा के दिन लद गये। मालिक को अब न तो वह आर्थिक दृष्टि से लाभकारी प्रतीत होती थी और न पारमार्थिक दृष्टि से मन का समाधान करती थी। स्वयं गुलामों के लिए उनकी गुलामी शरीर-सुख की दृष्टि से कष्टदायक ही थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नियमित काम, पेट भर अन्न, तन भर कपड़ा मिलता था, कोई कमी नहीं थी, कोई फिक्र नहीं थी। अमेरिका में जब कानूनन गुलामी बंद हुई और मालिकों ने अपने गुलामों को बरी (डिसमिस) किया, तब कई गुलाम तो रोये भी। सारी उम्र से जो कभी अपनी जिम्मेवारी पर रहे ही नहीं थे, उन्हें अपनी स्वतंत्रता से बहुत चिंता हुई। कहाँ रहें, क्या खायें? सारी बातों की कठिनाई! अपनी गोशाला में सारी उम्र रहनेवाले बैल से यदि हम एक दिन कहें, 'अरे नंदीराज, आज तक हमने तेरे कंधे पर जूआ रखकर, तुमसे गुलाम की तरह काम लिया, पर आज हमें उसके लिए पश्चात्ताप होता है। आज २६ जनवरी है, स्वातंत्र्य-दिवस है, आज से हम तुझे पूरी तरह आजाद करते हैं। जहाँ तेरा जी चाहे घूमना और चरता रह। हमारा तुझ पर किसी प्रकार का बंधन नहीं है। आवश्यकता होगी तब हम तुझे हल या गाड़ी खींचने के लिए रोजी देकर बुला लेंगे। तुझे लाभदायक मालूम हो तो आ जाना, नहीं तो जहाँ मर्जी हो वहाँ जाना।' तब बेचारा वह बैल कहाँ जायगा? दिन भर इधर-उधर वक्त काटकर शाम को वापस खूँटे

पर आ पहुँचेगा। वैसी ही स्थिति उन गुलामों की हुई। अर्थात् उनकी जो मुक्ति हुई वह उनके शरीर-सुख के लिए नहीं, भूत-दया के लिए भी नहीं; अपितु मानवता के तकाजे के कारण हुई। मुक्ति गुलामों की नहीं, मालिकों की ही हुई।

ठेके पर जीनेवाले जमीन-मालिकों को मैं यही समझा देना चाहता हूँ कि इस भूदान-यज्ञ के द्वारा आपसे कुछ छीनने का हमारा इरादा नहीं है। भूदान-यज्ञ आपसे कुछ लेने नहीं, बल्कि आपको कुछ देने के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। वह आपको चक्कर में डालने के लिए नहीं है, बल्कि आपकी उलझनें सुलझाने के लिए है।

जमाना तेजी से बदल रहा है। समय के साथ मनुष्य भी बदल रहे हैं। किसान पहले के नहीं रहे, मालिक भी पहले के नहीं रहे, दुनिया भी पहले की नहीं रही। पहले के जमाने में जो हो सका, उपयुक्त माना गया, मुबारिक हुआ, वह अब नये जमाने में निबाहा नहीं जा सकेगा, नहीं चलेगा और उपयुक्त तो हर्गिज नहीं होगा।

गुलामी खतम हुई और उसकी जगह काश्तकारी आयी। काश्तकारों में गुलामी की जोखिम तो पूरी-की-पूरी है; किंतु सुख कुछ भी नहीं है। जैसे बड़ा भाई छोटे भाई को अलग कर देता है, उसी तरह धूर्त मालिकों ने गुलामों को अलग कर दिया। किंतु उन्हें गुजारे के लायक भूमि भी नहीं दी। इस उलटफेर में मालिकों ने अपना ही उल्लू सीधा किया। काश्तकारों को एक-एक साल के लिए जमीन ठेके से दी। पहले गुलामों की गुजर-बसर की चिंता मालिक को ही करनी पड़ती थी। अब काश्तकार को कितनी बचत होती है, उसमें वह अपनी गुजर-बसर कर सकता है या नहीं, इसकी जिम्मेवारी मालिक पर नहीं रही। खेती में फायदा हो या न हो, फसल आये या न आये, मालिक के लगान को-कोई खतरा

नहीं। काश्तकार को गुलामी के सारे खतरे उठाने पड़ते हैं, लेकिन सुख कुछ भी नहीं मिलता। गुलाम को स्वतंत्रता तो मिली, किंतु वह स्वतंत्रता जीने की नहीं, वरन् स्वतंत्रता से मरने की।

हरएक मालिक बड़ी अनुकम्पा से कहा करता है, 'मैं अपने असामियों पर कई प्रकार से दया करता हूँ, चाहे जितनी रिआयत और छूट देने के लिए हमेशा तैयार रहता हूँ।'

किंतु असामी अब पहले जैसे नहीं रहे। पहले वे ही हमसे पूछने आते थे, 'मालिक, लगान लेने कब आते हैं? उसे लेकर हमें शीघ्र मुक्त कीजिये। नहीं तो लगान देने के लिए रखा हुआ अनाज घरवाले ही खा जायँगे।' लेकिन अब लगान की वसूली करने जाते हैं, तो ये दर्शन देने को भी तैयार नहीं होते। चार-चार दिन सारे गाँव में घूम-घूमकर भी हमें खाली हाथ लौटना पड़ता है।

यह सब स्वाभाविक ही है। पहले असामी जमीन-मालिक का अन्न खाते थे, पर अब मालिक ही असामियों का अन्न खाते हैं। यह बात इन दयालु मालिकों के ध्यान में नहीं आती। मालिक कहता है, 'मैं दयालु हूँ।' असामी कहता है, 'यह जोंक है। बाल-बच्चों ने और स्त्री ने धूप, बारिश और जाड़े में मेहनत कर धान पैदा किया, उनके मुँह का कौर निकालकर मैं इसका घर क्यों भरूँ? मेरे दादा ने बैल खरीदने के लिए इस साहूकार से चालीस रुपये लिये, उसके ब्याज की रकम बढ़ती गयी और उसके हिसाब में इसने मेरा यह सोने के समान सुंदर खेत लेकर मुझे अपना असामी बनाया। उसके उपरांत गत चालीस वर्षों से लगान के रूप में मैंने उसे कम-से-कम चार हजार रुपये तो दिये ही होंगे। अब मुझ पर उसका कुछ देना नहीं आता। इस सबका परिणाम यह है कि मालिक के पल्ले नाज तो पड़ता ही नहीं, लेकिन थकान और गालियाँ अवश्य उसे भरपूर मिलती हैं।

आज कितने ही परिवार केवल जमीन की मालकियत के कारण मिट्टी में मिल रहे हैं। उनसे पूछिये कि 'आपका व्यवसाय क्या है?' तो कहेंगे, 'पट्टेदारी', 'लगान वसूली'। कागज-पत्र, मिसलें, नकलें, बेलिफ पटवारी—इन सबकी सरबराई, अदालतों के चक्कर, साहूकारों के तकाजे, बिरादरी के झगड़े आदि की बदौलत बेचारों का दम निकला जा रहा है। और यह सब सहें किसलिए? पड़ोसी का वैर प्राप्त करने के लिए। जमीन-जायदाद है, इसलिए लड़कों को शिक्षा भी नहीं दी और काम करने को नौकर-चाकर हैं, इसलिए चिराग की बत्ती तेज करने का अभ्यास भी नहीं रहा। बड़प्पन निबाहने के लिए ऋण हो गया और जमीन आदि सब रेहन रखनी पड़ी। ऐसी अवस्था लगान पर जीवन बितानेवाले बहुसंख्य जमीन-मालिकों की हो गयी है। गुलामी की प्रथा के कारण रोम की संस्कृति लुप्त हो गयी। वही अवस्था प्रत्येक परोपजीवी वर्ग की हुए बिना कैसे रहेगी? इस नियति से मालिक-वर्ग को बचाने के लिए भूदान-यज्ञ है।

निःशूद्र पृथ्वी

यह सच है कि मानव-जाति के भिन्न-भिन्न वंशों और घरानों में बुद्धि, भावना तथा कर्तृत्व का विकास भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ। कम या अधिक विकास की अवस्था के अनुरूप मालिक और गुलाम, जमींदार और असामी, मुकद्दम और मजदूर, राजा और प्रजा आदि संबंध का होना उचित ही था। किंतु आज का युग समानता का, बंधुता का और सहयोग का है। अब किसी भी प्रकार की विषमता सही नहीं जा सकती। हमारे ये कनिष्ठ बंधु अब बालिग हो गये हैं और सम्मिलित सम्पत्ति का अपना हिस्सा माँग रहे हैं। ऊपर के वर्गों को चाहिए कि वे संतोषपूर्वक उन्हें उनका भाग दे दें। अब कनिष्ठों के लिए कनिष्ठता जितनी असह्य

होगी, उसकी अपेक्षा स्वयं वरिष्ठों के लिए वरिष्ठता कहीं अधिक असह्य होगी। राजाओं को ही राजत्व से और ब्राह्मणों को वर्ण-गुरुत्व से घृणा होने लगी है।

मेरी अपनी तो यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि पृथ्वी निःशूद्र हो जानी चाहिए। शूद्र का अर्थ है, दास। पर अब तो हम दासों का मुँह भी नहीं देखना चाहते। तेली, माली, अछूत और कुर्मी तो हमारे सगे भाई हैं। वे अपने पल्ले में हीनता बाँध लेने को तैयार हों, तो भी मैं उन्हें उसे नहीं बाँधने दूँगा। क्योंकि मैं अपने बदन से उच्चता को भी चिपकने देना नहीं चाहता। उच्चता भी एक प्रकार का कलंक ही है। यह अछूत है, ऐसा मालूम होते ही अगर उसके प्रति कोई तुच्छता दिखाने लगे, तो उस अछूत को गुस्सा आयेगा। इसी तरह मैं ब्राह्मण वंश में पैदा हुआ हूँ, इसलिए मेरा कोई आदर करने लगे, तो वह भी मुझे अपना अपमान ही प्रतीत होता है। क्योंकि उसका अर्थ यह होता है कि मेरा व्यक्तिगत मूल्य कुछ भी नहीं है। शूद्र से मतलब है, हुक्मबरदार।

आज का समानता का युग हाकिम और हुक्मबरदारी या फिरकावारी हर्गिज गवारा नहीं कर सकता।

मनुष्य मात्र में पारमार्थिक आकर्षण होता ही है। परमार्थ के लिए यह आकर्षण लगानदार को लगानदार और मजदूर को मजदूर रहने देने के लिए राजी नहीं है। हमारी गोपुरी में लोग मजदूरी का काम माँगने आते हैं। मैंने यह निश्चय किया है कि उनसे कहूँ कि तुम हमारी साझेदारी में काम करो या फिर तुम्हें अलग जमीन देता हूँ। स्वतंत्रता से उसे जोतो और जो उसकी उपज हो उसे तुम हमें लगान दिये बगैर खाओ। हमें मजदूर नहीं चाहिए।

तात्पर्य यह कि पारमार्थिक दृष्टि से मालिक-मजदूर का

यह द्वन्द्व मिटा देना चाहिए। आज ऐसा समय आया है कि मालिकों का स्वार्थ भी उसीमें है। 'मालिक-मजदूर' का कर्मधारय समास[1] हुए बिना अब गुजारा नहीं है। आज काश्तकारों से लगान लेना और मजदूरों से काम लेना मुश्किल और घाटे का सौदा हो गया है और हो रहा है। बंधुता तथा सहयोग ही उसका इलाज है। मालिक चाहता है काम और मजदूर चाहता है दाम। फिर दोनों में कशमकश शुरू होती है। अब मालिक को ही मजदूर बनना चाहिए और मजदूर को मालिक बनाना चाहिए। दोनों को समान सतह पर आ जाना चाहिए। फिर दोनों मिलकर शराकत में काम करें या अलहदा-अलहदा काम करें, यह सवाल सुविधा तथा अपनी-अपनी रुचि का होगा।

सूदखोरी

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, जमीन की मालकियत का एक रूप है, जबरदस्ती का कब्जा। निरन्तर युद्ध के तथा अशांति के पुराने जमाने में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के न्याय का ही प्रभाव था। विजेता अपने सरदारों को बड़ी-बड़ी जागीरें इनाम में देते थे। कुछ लोगों को देशमुख, देशपांडे, देसाई, इनामदार, मनसबदार वगैरह बनाते थे। ये अधिकारी राजसत्ता के और अपने बाहुबल के भरोसे अपने-अपने क्षेत्र की प्रजा पर

१ 'मालिक-मजदूर'='मालिक और मजदूर', यह हुआ 'द्वंद्व समास'। 'जो मालिक वही मजदूर', यह हुआ 'कर्मधारय समास'। 'माँ-बाप', यह है 'द्वंद्व समास'। 'माँ-बाप, सरकार', यह है 'कर्मधारय'। द्वन्द्व का अर्थ झगड़ा भी है। कर्मधारय अर्थात् काम सम्पन्न करनेवाला, काम को अंजाम देनेवाला।

धाक जमाते थे, कर वसूल करते थे तथा बेगार लेते थे। भूमि के स्वामित्व के इतिहास का यह अध्याय निर्विवाद है। किन्तु इसके सिवा दूसरी एक वैध और सभ्यता की प्रणाली से भी किसानों की जमीन साहूकारों तथा धनवानों के कब्जे में गयी। वह है साहूकारी और सूदखोरी की प्रणाली। उसके पीछे भी थोड़ी-बहुत मुठमर्दी न रही हो, ऐसी बात नहीं है। परन्तु उद्योग, मितव्ययता और संयम आदि सद्गुण भी लोभ के जाल में फँसने पर किस प्रकार अनर्थकारक होते हैं, इसका स्पष्ट उदाहरण यह सूदखोरी की साहूकारी है।

शुरू में भूमि जोतनेवाले की ही थी। पर उसमें भी जो प्रथम आये, उन्होंने अच्छी और पर्याप्त भूमि पर कब्जा कर लिया। जो बाद में आये, उनके हिस्से में निकृष्ट तथा अपर्याप्त जमीन आयी। हरएक अपनी-अपनी जमीन का मालिक था। और किसीको किसीसे कोई लेना-देना नहीं था। किन्तु निकृष्ट जमीनवाले किसानों को सावन-भादों में अन्न की कमी पड़ती थी। तब उन्हें दूसरे खुशहाल किसानों से मदद की याचना करनी पड़ती थी। इससे दूसरों की मुसीबत से फायदा उठाने की लोभी वृत्ति के लिए मौका मिला। अर्थात् इससे शोषक साहूकारी पैदा हुई।

साहूकारी के पोषक एवं शोषक, उपकारक तथा अपकारक, धर्म्य एवं अधर्म्य, बट्टेखाते की और ब्याजखोरी की, इस प्रकार की दोनों पद्धतियाँ संसार में चल रही हैं। 'धर्म्य साहूकारी' वह है, जो पड़ोसी की अड़चन के समय दौड़कर उसकी सहायता करती है और कर्जदार को विकट मुसीबत से उबारने में अपने को कृतार्थ मानती है। किन्तु यह साहूकारी बट्टेखाते की साहूकारी होती है। ऐसी उपकारक साहूकारी भी संसार में सदा से सर्वत्र चलती आयी है। किन्तु उसे संगठित व्यवसाय का रूप कभी प्राप्त नहीं होता। वह साहूकारी कभी अदालत के दरवाजे पर कदम

नहीं रखती। इस साहूकारी में ब्याज नहीं होता। बल्कि मूलधन में ही कुछ छूट देने की रीति है।

यह उचित भी है। मेरी जरूरत पूरी होने पर बचा हुआ अनाज अगर मेरा पड़ोसी उधार न ले जाता, तो उसे मेरे घर में चूहे ही तो खाते या वह सड़ जाता। अर्थात् साल के अन्त में यदि वह मुझे एक मन के बदले सैंतीस सेर नया अनाज लौटाता है, तो उचित ही होगा।

परन्तु शोषक साहूकारी तो सवाया लेती है। नतीजा यह होता है कि जिस किसान को पिछले साल में एक मन का घाटा आया, उसे फसल काटते ही उस अपर्याप्त फसल में से भी सवा मन अनाज निकालकर देना पड़ता है। फलतः आगामी वर्ष में उसे सवा दो मन का घाटा आता है, और साढ़े बाईस सेर ब्याज में देने पड़ते हैं। तीसरे साल घाटा तीन मन साढ़े बत्तीस सेर और ब्याज अड़तीस सेर दस छटाक। इस प्रकार कर्जदार की गृहस्थी उत्तरोत्तर गिरती जाती है और अन्त में साहूकार उसकी भूमि ही मोल ले लेता है और प्रथम जो ब्याज लेता था, उसकी जगह अब लगान लेने लगता है। जिसका निर्वाह सारी खेत की पूरी उपज में नहीं होता था, उसका निर्वाह अब लगान देने के उपरान्त बची हुई उपज में किस तरह होगा? अर्थात् उसे बैल बेचकर बटाईदार से कृषि-मजदूर बनना पड़ता है और पुराने जमाने में तो उसे एक के बाद एक अपने लड़के भी बेचने पड़ते थे। इस प्रकार गरीबों की यह गृहस्थी बे-पेंदे की होती है। उधर साहूकार भी स्वयं खेती करना छोड़ देता है और लगान वसूली का और मजदूरों से खेती करवाने का काम करता है। किन्तु थोड़े ही समय में वह गाँव के नीरस जीवन से ऊबकर शहर का रास्ता पकड़ता है। वहाँ उसे वकालत में भी अच्छी-खासी आमदनी होती है। गाँव से ब्याज और लगान तो मिलता ही रहता है और यह भी आय हुई, तो

लड़के को बैरिस्टर होने के लिए इङ्गलैंड भेजना भी संभव हो जाता है। लड़का बैरिस्टर होकर आता है, हाईकोर्ट की सनद लेता है और अब गाँव में ब्याज तथा लगान वसूल करने का काम किसी कारिंदे को सौंप देता है या देहात की अपनी वह जायदाद नजदीक के छोटे शहर के किसी वकील के हाथ, पेन्शनर के हाथ या अफ्रीका से पैसे कमाकर लौटे हुए किसी व्यक्ति के हाथ बेचकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार किसानों की जमीनें वैधानिक पद्धति से साहूकारों या धनवानों के कब्जे में जाती रहती हैं। ब्याजखोरी का अर्थ है, जो संकट में पड़े उसे और गहराई में ढकेल देना, जो पिछड़ गया हो उसके पैरों में भारी पत्थर बाँध देना।

ऐसी बात नहीं है कि धर्म्य साहूकारी हरएक गरजमंद को कर्ज देगी ही। वह तो उचित कारणों के लिए ही कर्ज देगी। शराबखोरी, जूआखोरी या आलस में जीवन बिताने के लिए या शादी-ब्याह के लिए भी कर्ज माँगनेवाले को कर्ज देने से इनकार करना, उसके साथ उपकार करना ही है। आकस्मिक संकट-निवारण के लिए या उत्पादन-कार्य के लिए जैसे कुँआ खोदने, मोट लगाने या बैल खरीदने के लिए ही ऋण देना उचित है। प्रतिवर्ष सावन में खाने के अनाज के लिए ऋण देना उचित नहीं है। सदा की कर्जदारी पर जड़-मूल का इलाज ही करना चाहिए। भूमिदान तथा ग्रामोद्योग संपूर्ण न होने पर भी महत्त्वपूर्ण तथा शर्तिया उपचार तो हैं ही।

शोषक साहूकारी यानी सूदखोरी का निषेध तो सभी धर्मों ने किया है। इस्लाम ने तो विशेष रूप से किया है। कहा जाता है कि उपनिषदों में भी "शमलं कुसीदम्" अर्थात् "ब्याज पाप है" ऐसा वचन है। ईसाई धर्म ने भी ब्याज का निषेध ही किया है, इसीलिए यूरोप में साहूकारी के लिए यहूदी लोग मशहूर हैं।

सामान्य मनुष्य को उद्योगशीलता तथा मितव्ययता की प्रेरणा मिलने के लिए धन-संग्रह की छूट रहना इष्ट ही है, तथापि वह धन-

संग्रह अपनी मर्यादा का उल्लंघन करे, तो वह उद्योगशीलता तथा मितव्ययता के लिए घातक भी होता है। संपत्ति का बहुत संचय होने से आलस, विलास, अलाली तथा व्यसन बढ़ते हैं। गरीबी अर्थात् अन्न-वस्त्रादि की उचित आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन भी पास में न होना तो दुर्दैव ही है। किन्तु इतनी संपत्ति का संचय होना कि उद्योग करने की आवश्यकता ही न रहे, यह और भी अधिक दुर्दैव है। बहुत कष्ट उठाकर दरिद्रता दूर करके सुखी जीवन बितानेवाले पिता के पुत्र में पिता की उद्यम-निष्ठा और कर्तृत्व बिरले ही पाया जाता है। अतएव पुत्र को उत्तराधिकार में संपत्ति देना उसको विपत्ति में ढकेलना ही है। जो पिता अपने पुत्र के लिए निर्जीव संपत्ति का नहीं, प्रत्युत विद्या, चारित्र्य, पुरुषार्थ इत्यादि जीवित संपत्ति का उत्तराधिकार रखेगा, वही उसका सच्चा हितैषी है, उसीका पुत्र पर यथार्थ प्रेम होता है। हम जिसे प्रेम कहते हैं, वह वास्तव में केवल मोह होता है। ऐसा दुष्ट प्रेम, चाहे अनजान में ही क्यों न हो, लड़के का घात करता है।

अपनी पूर्व-पुण्याई पर आज या पूर्वजों के पुण्य पर इस जन्म में सुख भोगना या बड़प्पन बघारना कम-से-कम आज तो एक तरह से अपनी अयोग्यता प्रकट करने के बराबर है। बूढ़े भी अपनी वर्तमान भलमनसाहत पर जियें, यह उत्तम पक्ष है। युवावस्था में किये पुरुषार्थ पर जीना मध्यम पक्ष है एवं पूर्वजों के कर्तृत्व पर जीना अधम पक्ष है। ताजा अन्न खाना उत्तम पक्ष है। सबेरे या दोपहर का दूसरी जून खाना मध्यम पक्ष है। लेकिन कल-परसों का बासी अन्न खाना तो दैन्य ही है।

लगान या ब्याज की आमदनी बासी अन्न ही है। वह पथ्यकर नहीं है, मारक ही है। स्वहित तत्पर धर्म-निष्ठ मनुष्य सूदखोरी की शोषक साहूकारी हरगिज नहीं करेगा। मौका आने पर नुकसान की पोषक साहूकारी करेगा। और ब्याज के व्यवसाय पर मिली हुई भूमि जिनकी है, उनको देकर छुट्टी पायेगा।••

प्रश्न, शंका, आक्षेप

भूमि ही क्यों ? ब्याज तथा लगान जब एक ही कोटि के हैं, एवं भूमि के स्वामित्व के अतिरिक्त निजी स्वामित्व के दूसरे भी नाना प्रकार हैं, तो फिर आपका रुख और मोर्चा केवल भूमि की तरफ ही क्यों है ? "जो जोते उसकी जमीन" यह अगर आपका नारा है, तो जो रहेगा उसका घर एवं जो चरायेगा उसकी गाय क्यों न हो ? सम्पत्ति के संचय पर ही बन्धन क्यों न हो ?

उत्तर--सम्पत्ति के संचय पर बन्धन आज भी है। एवं शनैः शनैः और भी लगते जायँगे। लगान-नियंत्रण की भाँति किराया-नियंत्रण कानून भी है। "सबै भूमि गोपाल की" की भाँति "संपति सब रघुपति कै आही" यह भी विनोबा कह ही रहे हैं। भूदान-यज्ञ के कदम पर कदम रखता हुआ संपत्तिदान-यज्ञ भी प्रारंभ हो ही गया है। फिर भी भूमि के समान वितरण का विशेष महत्त्व है। क्योंकि :

(१) भूमि ईश्वर-निर्मित है। मनुष्य को वह सहज में ही मिली है। अन्य संपत्ति जैसे मकान, गहने, बर्तन, सामान आदि मनुष्य ने अपने परिश्रम से बनाये हैं।

(२) भूमि मर्यादित है। संपत्ति के अन्य प्रकारों में माँग के अनुसार पूर्ति बढ़ायी जा सकती है, पर अब लावारिसी यानी जिस पर कोई अपना अधिकार नहीं बतलाता, ऐसी जमीन नहीं रह गयी है। जो जमीन है उसीका वितरण करना चाहिए।

(३) जमीन प्रतिष्ठा का साधन है। जमीन की मालकियत की जो प्रतिष्ठा है, वैसी प्रतिष्ठा पैसे की मालकियत की नहीं है।

(४) भूमि बाँटी जा सकती है। अन्य संपत्ति छिपायी जा सकती है। लेकिन भूमि उस प्रकार छिपायी नहीं जा सकती।

(५) संपत्ति के अन्य प्रकारों को चोर, आग, पानी, दीमक आदि से या बाजार भाव की तेजी-मंदी का भय है। भूमि के लिए उस तरह का भय बहुत कम है।

(६) भूमि के प्रति मनुष्य को अत्यधिक प्रेम है। मनुष्य जान देगा, लेकिन जमीन नहीं देगा। भूमि को हम 'माता' कहते हैं। उसकी गोद उसके सब बच्चों को मिलनी चाहिए।

(७) कृषि सर्वश्रेष्ठ व्यवसाय है। अन्य व्यवसाय एकांगी हैं एवं उनसे मन उकता भी जाता है; पर जैसे भोजन करनेवाला भात से नहीं ऊबता वैसे ही खेती करनेवाला खेती से कभी उकताता नहीं है। यह श्रेष्ठ व्यवसाय भी सबके हिस्से में आना चाहिए।

कौन कितना भूदान दे ? एक एकड़ धान-खेती तथा चार एकड़ सूखी जमीन पाँच-छह मनुष्य के कुटुम्ब के लिए पर्याप्त समझनी चाहिए। उदाहरणार्थ, हमारे रत्नागिरी जिले में साढ़े सत्रह लाख एकड़ आबादी की जमीन है। कुल क्षेत्रफल लगभग तीस लाख एकड़ है। फिर भी पहाड़, पत्थर बाद देने पर अच्छी-बुरी खेती के योग्य भूमि लगभग तेरह लाख एकड़ होगी, ऐसा अनुमान है। अर्थात् पाँच-छह व्यक्तियों के कुटुम्ब को पाँच एकड़ जमीन देकर हम इस तेरह लाख एकड़ जमीन में अधिक-से-अधिक चौदह लाख लोगों का प्रबन्ध कर सकते हैं। अर्थात् भूमि का समान वितरण करना हो, तो इससे अधिक भूमि किसीके हिस्से में नहीं आ सकती। उससे अधिक भूमि जिनके पास है, उन्हें चाहिए कि वे अपनी भूमि का छठा भाग भूदान में दें। जिनके पास भरपूर जमीन है या जिनके पास निर्वाह के अन्य साधन हैं वे उस अनुपात में अधिक हिस्सा दें, यही उन्हें शोभा देगा। तथापि भूमि-वितरण के तत्त्व को स्वीकार कर तथा उस कार्यक्रम में भाग लेने के पहले कदम के रूप में यदि वे छठा हिस्सा देंगे, तो भी धन्यवाद के पात्र होंगे।

जिनके पास अपर्याप्त भूमि है, वे प्रतीक रूप थोड़ा-सा दान नैवेद्य की भावना से दें, तो भी पर्याप्त है। क्योंकि भूदान-यज्ञ में उन्हें ही अधिक भूमि मिलनी चाहिए। अर्थात् अपर्याप्त भूमि रखनेवाले भू-स्वामी भी खेती छोड़कर अन्य व्यवसाय करते होंगे, उन्हें तो अपनी सारी भूमि दे देनी चाहिए। भूमि रोककर न रखें। जमीन की काश्त कोई भी करे, पर वह निर्बाध रूप से करे, यही उचित, सुविधाजनक तथा लाभदायी है।

दूसरी एक दृष्टि से मैं कहता हूँ कि जिनके पास अपर्याप्त वा नाममात्र की जमीन है, वे अल्पदान देने की अपेक्षा सर्वदान, स्वामित्व-विसर्जन करें। उसका कारण बतलाता हूँ।

स्वामित्व-विसर्जन—मालकियत पर जीनेवाले और लायकी पर जीनेवाले, इस प्रकार नागरिकों के दो वर्ग हैं। मालकियत की बदौलत लियाकत पनप नहीं पाती। लोकशाही की परिपूर्णता एवं न्याय का राज्य कायम करने की दृष्टि से वंशसिद्ध स्वामित्व जैसी कोई चीज नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य पूर्वजों के नहीं, अपने निजी पुरुषार्थ के भरोसे जिये तथा समाज में उचित पद प्राप्त करे, यही न्याय-संगत है। अर्थात् मालिकी के कारण जिनकी लियाकत कुचली जा रही है उन सब लोगों को मालिकी नष्ट करने के लिए प्रतिज्ञापूर्वक आगे बढ़ना चाहिए।

थोड़ी-थोड़ी जमीन के मालिक अपनी उस मालकियत के भरोसे नहीं जीते, बल्कि वे अपनी लियाकत और सिफत के भरोसे जीते हैं। स्वामित्व के नष्ट होने से उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा, अपितु उनकी योग्यता के लिए अधिक अवसर मिलेगा। स्वामित्व उनके लिए साधक नहीं, बाधक ही है। अतएव उनकी अक्लमंदी इसीमें है कि वे उसे पूर्ण रूप से फेंक दें।

तोते को पकड़ने की बहेलियों की एक हिकमत यह है कि वे तार में एक नली पिरोकर उस नली के पास कुछ खाद्य वस्तु रख

देते हैं। खाने के लोभ में तोता नली पर पाँव रखता है। तोते के नली पर बैठते ही नली फिसलती है और गोल घूमती है, तब तोता मजबूती से नली पर औंधा टँगा रहता है। घबराया हुआ तोता समझता है कि पाँव में दृढ़ पकड़ी हुई नली ही उसका एकमेव आधार है। वास्तव में उसी कारण वह आसानी से बहेलिये के हाथ में आता है। वह नली उसका बन्धन होती है पर वह उसे अपना एकमात्र आधार समझता है।

इसी तरह अल्पभूमि के एवं अल्पबुद्धि के स्वामी कहते हैं, "हमें इसीका आधार है। वह भी छोड़ देने को आप कहते हैं ?" हाँ, क्योंकि वह क्षणमात्र ही छूटता है। यह नीचे से ऊपर कूदने जैसा है। नीचे के आधार का त्याग किये बिना ऊपर छलाँग कैसे मारेंगे ?

कार्ल मार्क्स के मार्मिक उद्‌गार यहाँ ठीक-ठीक लागू होते हैं। वे कहते हैं :

"संसार भर के किसानो, मजदूरो, उठो, जागो और क्रान्ति का स्वागत करो! इस उथल-पुथल में तुम्हारा क्या जायगा ? तुम्हारे हाथ-पैर की बेड़ियाँ ही तो कटेंगी ? बदले में तुम्हें मिलेगा—पृथ्वी का राज्य।

नासमझ हरिजन भी पारस्परिक उच्च-नीच भेदों को बहुत मानते हैं। ढेड़ मांग को और मांग मेहतर को अस्पृश्य समझते हैं। उतनी ही उनकी प्रतिष्ठा है, अतएव उस चुटकी भर प्रतिष्ठा को वे प्राणों की तरह सहेज-सहेजकर सँजोते हैं। उन्हें भी हम समझाते हैं और कहते हैं कि अपनी यह छिटपुट प्रतिष्ठा छोड़ दो, तो मानवता की सार्वभौम प्रतिष्ठा का तुम्हें लाभ मिलेगा।

ठीक वही न्याय अपर्याप्त जमीन के मालिकों के लिए लागू होता है। किन्तु यहाँ परिस्थिति कुछ मिली-जुली है। भूमि के विषय में अकिंचन (Have nots) वर्ग में शुमार किये जानेवाले

व्यापार-व्यवसाय में सम्पन्न (Haves) भी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त "मैं न बदलूँ पर जगत बदले" ऐसी वृथा आशा भी मनुष्य मन में रखता है।

सारांश अपर्याप्त भूमि के मालिकों का हित अर्थात् दूर दृष्टि का लाभ ही नहीं किन्तु स्वार्थ या तात्कालिक लाभ भी सारी भूमि का स्वामित्व छोड़ देने में है। वह भूमि कहीं जायगी नहीं, प्रत्युत योग्यता के अधिकार से उन्हींके पास रहेगी एवं अपनी पूर्ति में उसके हिस्से में कदाचित् अधिक भूमि भी लायेगी। जिनका जीवन स्वामित्व के अधिकार पर निर्भर है, उनके लिए ही वास्तव में अपनी बड़ी मालकियत छोड़ना कठिन है। पर छोटे मालिकों ने—और वे बहुसंख्य हैं—अपनी मालकियत के हक अगर छोड़ दिये, तो उसका सामुदायिक परिणाम प्रचंड होगा। और उनकी थोड़ी-थोड़ी जमीन का जोड़ भी बड़े-बड़े जमींदारों से प्राप्त भूमि से अधिक होगा। बड़े जमींदार उनके उदाहरण से प्रभावित होंगे और उन्हें भूमि देनी पड़ेगी। भूदान-यज्ञ के पक्ष में एक प्रचंड अहिंसक सेना तैयार होगी एवं प्रतिकूल शक्तियाँ अपने-आप आत्मसमर्पण करेंगी। थोड़ी-थोड़ी जमीन के मालिक जमीन का दान देने से पहले कुछ जमीन दान में दे दें, यह वांछनीय है।

छोटे टुकड़ों से उत्पादन घटेगा—उत्पादन घटने का कोई कारण नहीं, प्रत्युत अनुभव तो यह है कि आत्मीयता के कारण मिट्टी में सोना उगाया जा सकता है। आज भूमि को लेकर बहुत झगड़े-टंटे और रुकावटें पैदा हो रही हैं, उनका निराकरण होगा। परती जमीनें जोती जायँगी। चीन-जापान में भी छोटे-छोटे दो-दो तीन-तीन एकड़ के टुकड़े हैं और वे लोग हल का उपयोग भी नहीं करते। केवल कुदाली-फावड़ा हाथ से चलाकर खेती करते हैं और तिगुनी-चौगुनी फसल प्राप्त करते हैं।

छोटे-छोटे एवं गरीब मालिकों के लिए ट्रैक्टर, इंजन-पंप जैसे

यान्त्रिक साधनों से काम लेना फायदेमंद नहीं होगा। परन्तु यह कठिनाई सहयोग से दूर हो सकती है। कठिनाइयों के कारण सहयोग की आवश्यकता अधिक प्रतीत होगी, एवं सहयोग ठीक-ठीक और मन लगाकर होगा। आज जो सहयोगी सोसाइटियाँ चल रही हैं, उनमें सहयोग का केवल स्वांग होता है। महकमे के मुलाजिमों को भी यह आँवले की गठरी बाँधते-बाँधते नाक में दम हो रहा है।

सहयोग ठीक से नहीं होता, इसलिए कल्याणकारी पूँजीवाद की एकतंत्री (सर्वाधिकारी) सत्ता से काम लिया जाना उचित होगा, ऐसा कई लोग मानते हैं। पहले अकबर जैसे नेक बादशाहों को इसी कारण साम्राज्य-विस्तार करना था कि देश में सुव्यवस्था हो एवं पारस्परिक युद्ध तथा अनबन न रहे। आज भी रूस, अमेरिका जैसे बलिष्ठ राष्ट्रों को सारी पृथ्वी का 'प्रबन्ध' करने का महान् लोभ हो रहा है, उसी नमूने का यह प्रयत्न भी है। जिस प्रकार उसमें हित करने की लालसा सच्ची लेकिन भोली हो सकती है, उसी प्रकार वह दांभिक भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त वह वर्तमान युग के अनुकूल नहीं है। साम्राज्यशाही में भी कई लाभ थे। पर वर्तमान युग में हलकी तानाशाही की बनिस्बत भारी-भरकम लोकशाही ही हितकर साबित हुई है। इस प्रकार एकच्छत्र स्वामित्व की अपेक्षा अलग-अलग स्वतंत्र काश्तकारी ही श्रेयस्कर सिद्ध होती है। एकतंत्री व्यवस्था में उत्पादन घटेगा ही, परन्तु यह मान भी लिया जाय कि उत्पादन बढ़ेगा, तो भी उससे बहुत बड़ी हानि है। क्योंकि उससे मानवता कुण्ठित हो जायगी। मानवता को छीन करके उत्पादन बढ़ाने से क्या लाभ ?

भूमि का वितरण करने से उत्पादन तो बढ़ेगा ही, परन्तु वितरण का प्रमुख उद्देश्य उत्पादन बढ़ाना नहीं है; बल्कि सामाजिक न्याय की स्थापना करना है। सामाजिक न्याय की स्थापना से

सामाजिक सामंजस्य एवं समृद्धि बढ़ने लगेगी, यह निश्चित है। तथापि न्याय-स्थापना को ही सबसे अधिक महत्त्व देना चाहिए एवं वैसा प्रसंग आ ही जाय और मेल-जोल में थोड़ी तात्कालिक बाधा भी आ जाय, तो उसे सहन करके भी न्याय-स्थापना तुरंत करनी चाहिए। हमने अंग्रेजों से जो स्वराज्य माँगा, वह उत्पादन-वृद्धि के लिए नहीं, अपितु मानवता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए ही माँगा था।

तब कम्युनिस्टों में और आपमें क्या फर्क रहा? यों उनमें और हममें विशेष फर्क नहीं है। और किसीसे अपना भिन्नत्व बताने में हमें कोई माधुर्य भी प्रतीत नहीं होता। वे भी हमारी तरह समता के पक्षपाती हैं। पर वे जो कार्य बलप्रयोग से करना चाहते हैं, वह हम समझा-बुझाकर और अपने तथा अपने स्वजनों के उदाहरण के द्वारा करना चाहते हैं। और हमें यह दृढ़ विश्वास भी है कि हम यह कर सकेंगे। मनुष्य की मूलभूत सज्जनता पर हमारा विश्वास है और उनका भी अविश्वास ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तथापि जमीन-मालिक स्वयं अपने आप अपने पड़ोसियों को जमीन देगा, इसके विषय में वे निराश हो गये हैं, वैसे हम नहीं हुए हैं। हममें से कल तक कोई निराश ही नहीं होगा, ऐसा हम विश्वास नहीं दिला सकते। परन्तु भू-स्वामी यदि तत्परता दिखायेंगे, तो हमारे कम्युनिस्टों से मिलने के बदले वे ही हमसे आकर मिलेंगे। कम्युनिस्टों को गांधीवादी बनाना या गांधीवादियों को कम्युनिस्ट बनाना मालिकों के हाथ में है।

फिर यह शान्तिपाठ किसलिए? "पीड़ित भूमिहीनों का उत्पीड़न बनाये रखने में ही आप अपने शान्तिपाठ से सहायता दे रहे हैं। जमींदारी-प्रथा अत्याचारी है, यह मान्य करने पर भी

आप शान्ति-पालन के लिए क्यों अड़ जाते हैं? जमींदारों द्वारा लगानदारों का पीढ़ियों से जो हिंस्र शोषण हुआ, उसे आप सह सकते हैं, पर लगानदारों द्वारा किया गया थोड़ा-सा भी प्रतिकार आप बर्दाश्त नहीं कर सकते, यह कहाँ का न्याय है?" ऐसी आपत्ति भी कई लोग उठाते हैं।

परन्तु बलवे का हम जो विरोध करते हैं, उसमें तात्त्विक या नैतिक दृष्टि भी है और व्यावहारिक हिसाब भी।

जमींदारी और जमीन की ठीकेदारी अन्याय्य है, यह तो ठीक है; फिर भी जमींदार नहीं मानते, अतएव उन्हें मार-पीटकर भूमि छोड़ने के लिए बाध्य करें, यह नैतिक दृष्टि से उचित नहीं होगा। कल तक लगानदार स्वयं अपनी खुशी से या चुपचाप उन्हें लगान देते आये हैं। अतएव मालिक लगानजीवी बन गये। जैसे मनुष्यमात्र को परमार्थ का आकर्षण है, वैसे ही स्वार्थ का भी आकर्षण होता है। यह स्वार्थ चलने दिया जाय, तो उसकी आदत पड़ जाती है। वह आदत एक रात में बदलना उसे मुश्किल मालूम होता है। अब लगानदारों की स्वार्थी आकांक्षाएँ झट से जाग्रत होती हैं, उतनी ही शीघ्रता से मालिकों की पारमार्थिक जाग्रति नहीं होती। इसलिए क्या उनकी मरम्मत करना उचित होगा? क्या सब्र करना उचित नहीं होगा?

भला, जो लगानदार उन्हें पीटेंगे, क्या वे अपने आपस के अन्याय पहले दूर करने के लिए तैयार हैं? अपने शिकमी-असामियों से ड्योढ़ा-दुगुना लगान लेनेवाले लगानदार अपने ऊपर के मालिकों पर दाँत-ओठ पीसने लगें, तो क्या वह उन्हें शोभा देगा? परन्तु सर्वत्र यही स्थिति पायी जाती है।

सारांश यह कि अत्याचार और शोषण का ठेका मालिकों ने ही लिया हो, ऐसा नहीं है। प्रायः हम सब जहाँ बन सके, वहाँ शोषण करते ही हैं। और दूसरी तरफ से अन्य लोग हमारा

शोषण करते रहते हैं। शोषक और शोषित, दोनों एक ही देह में डेरा जमाये हुए हैं। शेर और बकरी एक ही पिंजड़े में रहते हैं। पिंजड़ा जला दें तो वह बाघ-बकरी नष्ट होंगे; पर बाघ का हिंस्र-वंश और बकरी का अजा-वंश, दोनों तो जीवित ही रहेंगे। हम सब लोग बाघ-बकरी, दोनों हैं। हम सबको परस्पर सहायता से अपना हिंस्रपन तथा बकरीपन, उद्दंडता एवं दब्बूपन नष्ट करने हैं। यह आत्मशुद्धि से एवं समझाने से ही होगा। मारपीट से अकेले-दुकेले बाघ-बकरी मरेंगे, पर वंश अबाधित ही रहेगा।

हममें और उनमें फर्क-समता के विषय में हम और कम्युनिस्ट एक हैं। पर यह कदाचित् चौराहे पर की भेंट भी हो सकती है। उनका एवं हमारा निकलने का और पहुँचने का आदि और अन्त, दोनों स्थान भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् मार्ग भी आमूलाग्र भिन्न हैं।

प्रेम और वात्सल्य से मनुष्य साम्यवाद की ओर आता है और तैश, द्वेष एवं मत्सर से भी आता है। जहाँ प्रेम में से साम्यवाद की ओर आनेवाला रास्ता मानवीय प्रकर्ष के शिखर पर जाता है, वहाँ मत्सर में से साम्यवाद की ओर जानेवाला रास्ता मानवीय विध्वंस की खाई में जाकर खो जाता है।

हमें समता चाहिए, पर यह हमारा अन्तिम उद्देश्य नहीं है। समता मानवता के उत्कर्ष का साधन है, इसलिए वह हमारा इष्ट है। उद्दंडता और दीनता, दोनों मानवता के लिए समान रूप से बाधक हैं। जैसे हमें लाचारी और दीनता से नफरत है, उसी प्रकार उद्दंडता से भी है। भूमि का वितरण समानता का स्पष्ट लक्षण है। हमारा प्रयत्न यह है कि यह वितरण मानवता के लिए अर्थात् सज्जनता के लिए पोषक उपायों से ही हो।

इसके विपरीत विद्रोह, दंगा-फसाद से मानवता ही नष्ट होती है। सूखी लकड़ियों के साथ-साथ, बल्कि यों कहिये कि

सूखी लकड़ियों के बदले गीली लकड़ियाँ जलती हैं। जिस तेल में बड़े तले गये हों, वह तेल बैंगन पर छलकता है। निष्पाप बालकों की हत्या होती है। स्त्रियों की विडम्वना होती है। निरुपद्रवी वृद्ध व्यक्ति अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। इस प्रकार अत्याचारी का विनाश भले ही होता हो, परन्तु पीड़ितों का दुःख-निवारण दरकिनार रह जाता है; बल्कि पीड़ा दसगुनी बढ़ जाती है।

व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय, तो पाया जाता है कि जो शोषक-वर्ग होता है, वही सत्ताधीश और शस्त्रों-अस्त्रों से सुसज्ज होता है। शोषितों को अगर मन से नहीं, तो परिस्थितिवश लाचार होकर निःशस्त्र ही रहना पड़ता है। शस्त्रों की लड़ाई में उनकी हार होगी, यह निश्चित है। निर्बल धनहीनों का बलिष्ठ धनिकों के साथ शस्त्रबल से सामना करने की कोशिश करना तो गरुड का पानी में उतरकर घड़ियाल से जूझने के समान है। सत्य-अहिंसा के दोनों पंखों के आधार पर उच्च स्तर से नैतिक संग्राम करने में ही उनकी कुशल है।

जमीन मुफ्त में क्यों बाँटते हो ?

प्रश्न—भूमिहीनों को मुफ्त भूमि देकर क्या हम उन्हें निठल्ले नहीं बना रहे हैं ? क्या उसमें उनका भी अहित ही नहीं होगा ? और क्या इसमें उनके स्वाभिमान को ठेस नहीं लगती ?

उत्तर—प्रारम्भ में सभी को मुफ्त में भूमि मिली थी। हवा, पानी तथा प्रकाश आज भी सबको मुफ्त में मिल रहे हैं और इनकी मदद के बिना खेत में उपज भी नहीं होती।

प्रश्न—फिर भी न सिर्फ ऊसर और ऊबड़-खाबड़ जमीन ही, बल्कि मेहनत से कमायी हुई जमीन भी मुफ्त में क्यों दी जाय ?

उत्तर—परन्तु उसे कमाया किसने ? जमीन-मालिक ने,

लगानदार ने या मजदूर ने ? उसे सुधारने का श्रेय पूरा न सही, तो भी बहुत अंशों में लगानदारों या मजदूरों का ही है।

प्रश्न—परन्तु फलाने मजदूरों की मेहनत से कमायी गयी जमीन दूसरे ही किसी मजदूर को मुफ्त में क्यों मिले ?

उत्तर—जिन भूमिहीनों को भूदान-यज्ञ में भूमि मिलेगी, वे प्रायः कई पीढ़ियों से या वर्षों से लगानदार या श्रमिक के नाते परिश्रम करनेवाले लोग ही होंगे; अर्थात् उन्होंने उम्मीदवारी की है। वे भूमि के अधिकारी ही हैं। आज तक उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखा गया था। अंग्रेजों ने हमसे स्वराज्य छीन लिया था, वह उन्होंने हमें मुफ्त में ही लौटा दिया, उसी तरह भूमिहीनों को भूमि देनी है। यह भूमि-वितरण निर्वासितों को पुनर्वास देने जैसा है।

खेती : एक नौकरी—किन्तु इससे भी अधिक महत्त्व का मुद्दा यह है कि इस भूमि-वितरण का स्वरूप ही अनोखा है। भूमि मानो एक तिजोरी है और वह एक से छीनकर दूसरे को दी जानेवाली है, यह धारणा ही जड़-मूल से बदलनी चाहिए। भूमि कोई मीरास (विरासत) नहीं है, वह एक कारफरमाई है। भूमिहीनों को हम स्वामित्व नहीं देते। वह उस भूमि को बेचकर मुफ्त के पैसे नहीं कमा सकता। जैसे अदालत में क्लर्क की या पाठशाला में अध्यापक की नियुक्ति की जाती है, वैसे ही भूमि जोतने की योग्यता रखनेवाले भूमिहीन की उस भूमि पर नियुक्ति करनी है। अध्यापकों को तख्ता (ब्लैकबोर्ड), नकशे, चित्रपट आदि साधन देते हैं, उसी प्रकार किसान को हल-बखर, खाद, बीज आदि देना है और वह ठीक ढंग से काम नहीं करता है, ऐसा मालूम होते ही उसके अधिकार से जमीन निकाल भी लेनी है। उसमें भूमिहीनों के स्वाभिमान को चोट आने जैसी

कोई बात नहीं है। भूमि को स्वीकार कर उसे जोतना देश के प्रति उसका कर्तव्य है।

लगान बढ़ भी सकता है—ऊपर के प्रश्नों के पीछे एक और भावना छिपी हुई है। वह यह कि भूमि की उपज खेत में किये हुए परिश्रम के मुआवजे से अधिक होती है। उसमें सृष्टि की देन भी सम्मिलित है। उदाहरणार्थ 'हापुस' आम का वृक्ष एक ही मौसम में सैकड़ों रुपये भी दे जाता है, पर धनी का परिश्रम फल का दशांश भी नहीं होता। प्रत्येक खेत फलता हुआ वृक्ष है, दुधारू गाय है।

भूमि की इस देन पर अधिकार किसका? अकेले किसान का? नहीं; बल्कि सारे समाज का अर्थात् सरकार का। जमीन पर सरकार महसूल लेती है, वह इसी कारण। जमीन का महसूल जमीन की बगैर मेहनत मिली हुई देन के बराबर होना चाहिए। भूदान-यज्ञ से भूमि की जो नयी व्यवस्था करनी है, उसमें इस सरकारी महसूल का पुनर्निर्धारण करना होगा।

आज खेती के खर्च में खाद, बीज, परिश्रम, सार-सँभाल आदि के साथ-साथ खेती की कीमत की रकम का ब्याज भी लगाया जाता है। हमारी योजना में शुद्ध उत्पादन याने बिना श्रम का उत्पादन आज की अपेक्षा अधिक होगा। अर्थात् उपजाऊ भूमि पर या बाजार के लिए पैदा की गयी फसलों पर महसूल बढ़ेगा एवं निकृष्ट भूमि पर से बिलकुल माफ भी होगा। परती भूमि के सुधार के लिए सरकार किसानों को सहायता भी देगी। महसूल का पुनर्निर्धारण करते हुए राज्य-शासन के मार्ग में आनेवाली अर्थात् सार्वजनिक व्यवस्था की कठिनाइयों को ध्यान में रखना होगा। तथापि आम तौर पर प्रत्येक भूमि के एवं उपज

के स्वरूप के अनुसार खेती से कम-ज्यादा मात्रा में अनायास मिलनेवाली उपज अकेले जोतनेवाले को मिलने की अपेक्षा सारे समाज को मिले, ऐसी व्यवस्था करना ही उचित होगा।

उचित लगान भी लिया जायगा--कमायी हुई जमीन पर कुछ अवधि तक उतरते-घटते (Diminishing) अनुपात में लगान वसूल करना उचित है, यह हमने इसके पूर्व देख लिया है। अर्थात् ऐसी कुछ जमीनें अगर भूदान-यज्ञ में वितरित हुईं, तो उनका कुछ वर्षों तक लगान वसूल कर उसे किसी सार्वजनिक कार्य में लगाना उचित है। ऐसे अवसर अपवादात्मक ही होंगे।

क्या यह पक्षपात नहीं है ?

प्रश्न—आपको केवल लगानदारों एवं मजदूरों की इतनी अनुकम्पा आती है, पर मध्यमवर्गीय जमीन-मालिकों की विपत्तियाँ अनगिनत हैं। नये-नये कानूनों के कारण लगान की आय शून्य तक आ गयी है और उधर हमारे लड़के परीक्षाएँ पास करें, तो भी उन्हें नौकरियाँ नहीं मिलतीं। उन्हें खेती में ही लगाने की सोचें, तो हमारी अपनी मालकियत की जमीन जोतनेवालों से वापस नहीं ली जा सकती। कानूनी रुकावटों में से कोई रास्ता खोज भी लें, तो भी आप लोगों का खुलेआम प्रचार जारी है कि जान जाने पर भी जोतनेवाला बेदखल न हो। जमीन बेचने जायँ, तो ग्राहक नदारद है। इस प्रकार चारों ओर से घेरकर हमें मारा जा रहा है, क्या यह अन्याय नहीं है ?

उत्तर—लगानदार एवं मजदूर ही हमारे हैं, ऐसी बात नहीं है। सफेदपोश लोग हमारे अधिक निकट के हैं। हम उन्हींमें से हैं। उनकी दिक्कतें हमारी दिक्कतें हैं। उसमें से हमें कोई न्याय-संगत मार्ग एक-दूसरे की सहायता से खोजना चाहिए।

हर व्यक्ति को ऐसा काम मिलना चाहिए, जिसे वह कर सके और जो समाज के लिए भी पोषक हो। उस काम से उसकी अन्न-वस्त्रादि उचित आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए। परन्तु इसीलिए आज जिसके पास जो काम है, उससे उसे छीनकर दूसरे नये आदमी को देना फजूल है।

आज जो लोग खेती में लगे हैं, उन्हें वहाँ से हटा देना मुनासिब नहीं है। आपके लड़कों के लिए ऐसा कोई काम खोजना होगा, जिसे वे कर सकें। जैसे शिक्षक का काम है, मुंशीगिरी है या कोई कला-कुशलता का हलके परिश्रम का काम है। आप कहते हैं कि वे खेती करेंगे। मजदूरों की मार्फत खेती कराने का और खुद सिर्फ देखभाल करने का अगर उनका इरादा हो, तो आगे आनेवाले जमाने में वह चीज होनेवाली नहीं है और न वह उन्हें शोभा ही देगी। अगर उन्हें सच्चे दिल से मज-दूरी का पेशा स्वीकार करना हो, तो वह सराहनीय बात है। वे उम्मीदवारी करते-करते याने अभ्यास करते-करते मजदूर-पेशा बनें, तो उन्हें भी दूसरे भूमिहीनों के साथ बल्कि उनसे भी पहले जमीन और कृषि के साधन मिलने चाहिए; क्योंकि ये बुद्धिमान कृषक अधिक कार्य-कुशल और दूसरों के लिए मार्गदर्शक साबित होंगे। परन्तु इसके लिए वर्तमान किसानों को बेदखल करना चाहे कानूनन जायज हो, तो भी न्यायसंगत नहीं होगा। वे बेचारे क्या करें ? आपके लड़कों के पास शिक्षण है, उनके पास वह भी नहीं है। कचहरियों की भाँति कारखाने भी भर गये हैं, अतएव कारखानों में मजदूरों के नाते भी उन्हें काम दिलाना असंभव है। इसलिए लगानदारों को बेदखल करने से, उन्हें भूमिभ्रष्ट करने से हमारा विरोध है।

लगानदारों के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हो, तो वे उन जमीनों को औरों के लिए छोड़ दें, ऐसी प्रार्थना हम उनसे

करते हैं। उसी प्रकार यदि वे लोग जमीन अच्छी तरह से कमाते न हों, तो उनसे जमीनें छीन लेने की तजवीज कानून में भी होनी चाहिए।

अस्तु, आज तक श्रमजीवी-वर्ग का शोषण हुआ और अवहेलना भी हुई। अब इस अन्याय-निराकरण के लिए मुफ्तखोर-वर्गों को चाहिए कि वे अपना रहन-सहन बदलने की पूरी-पूरी कोशिश करें। उसी प्रकार वे कानूनी अधिकारों का घमंड छोड़कर लगानदार तथा मजदूरों से आदर, नम्रता तथा ऋजुता से पेश आयें, तो सज्जन असामी भी अपने मालिकों की उपेक्षा कदापि नहीं होने देगा।

आज भू-स्वामियों का वर्ग एक प्रकार से लगानदारों की पीठ पर सवार होकर भव-सागर पार कर रहा है। हम उनसे कहते हैं, "आप भी पानी में उतरिये, कुछ हाथ-पैर चलाइये, तो आप भी तैरना सीख जायँगे और उसमें आपको मजा भी आवेगा।" इसमें हमारा मनसा आपको डुबाने का नहीं है; बल्कि दोनों वर्गों को सुख के साथ तैरना सिखाने का है।

हमारे रत्नागिरी जिले में बड़े जमींदार नहीं हैं, यह सही है। फिर भी, छोटे जमीन-मालिकों से लगान पर ही ली हुई भूमि का लगान दिया जा सके, ऐसी योग्यता की भूमि भी इधर बहुत कम है। अपनी जमीन जोतनेवाले किसानों के लिए घर-गृहस्थी चलना जहाँ मुश्किल हो गया है, वहाँ दूसरों को लगान देनेवाले असामियों का गुजर-बसर कैसे चले? इधर लगान की दर षष्ठांश तक उतारने से भी काम नहीं चलेगा। लगान का नष्टांश ही होना चाहिए।

इसमें एक को मारकर दूसरे को पुष्ट करने का हेतु नहीं है। आज तक श्रमजीवी-वर्ग चूसा गया और सफेदपोश मध्यम-वर्ग पंगु बन गया। अब दोनों वर्गों को चाहिए कि वे अपनी-

अपनी शक्ति के अनुरूप उद्योग करें और दोनों सुख से जियें। एक पंगुता त्याग करे, दूसरा अनाड़ीपन और गैरजिम्मेवारी को पीछे छोड़ दे"। यह जीवन का विकास है, विनाश नहीं। इसमें हानि किसीकी भी नहीं है। सबका लाभ ही है।

सुशिक्षितों की बेकारी दूर करने का एक उपाय यह है कि वे श्रममय जीवन अपनायें। उसी प्रकार दूसरा उपाय है, केन्द्रित उद्योगों पर अर्थात् कारखानों पर नियंत्रण लगाकर विकेन्द्रित उद्योगों को याने स्वतन्त्र ग्रामोद्योगों को सुरक्षित एवं संघटित किया जाय। अतएव भूदान-यज्ञ के साथ ही हम खादी, ग्रामोद्योगी चावल, आटा, तेल, गुड़, शक्कर तथा अहिंसक देहाती चर्मोद्योग का भी प्रचार करते हैं और उनके संरक्षण के लिए यांत्रिक उद्योगों का बहिष्कार भी करते हैं।

देने में परम आनन्द

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यहाँ तक का मेरा विवेचन कुछ तीखे शब्दों में, कुछ डराने-धमकाने की तरह का हुआ, निषेधात्मक हुआ। उसमें मेरा हेतु यही था कि मेरे मुद्दे ठीक से ध्यान में आ जायँ। किसी एक या अन्य व्यक्ति को या वर्ग को लक्ष्य करके मैंने यह नहीं कहा है। हेतु इतना ही था कि हम सभी के जीवन में जो महाभारत निरन्तर मच रहा है, उसके दुर्योधन, दुःशासन आदि की ठीक-ठीक परख करा दी जाय। क्योंकि जब तक यह परख नहीं होगी, तब तक उन्हें परास्त करने का रास्ता भी नहीं मिलेगा। फिर भी यदि मेरा सन्तुलन न रह सका हो और कुछ न्यूनाधिक लिखा गया हो, तो सहृदय पाठक नाराज न हों और उसका भावार्थ ही ग्रहण करें।

क्योंकि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य के हृदय में सत्प्रवृत्तियों की अपेक्षा दसगुनी अधिक दुष्प्रवृत्तियाँ जोर

पकड़ रही हों, पाँच पाण्डवों के विरोध में सौ कौरव खड़े हों, तो भी उनमें सर्वश्रेष्ठ विभूति धर्मराज ही हैं। और चाहे जितना घोर रणक्रन्दन, चाहे धर्मराज को कुछ समय वनवास और अज्ञातवास में बिताना पड़े, तो भी अन्तिम विजय उन्हींकी होनेवाली है।

मनुष्य स्वार्थी है, यह सर्वमान्य है; पर उससे कहीं अधिक वह परमार्थी है, क्योंकि वह जितने अंश में मलिन देह है, उससे कहीं अधिक निर्मल, मंगलमय आत्मा है। व्यवहार में निरन्तर उपयोग से उसका लोटा मैला हो गया हो, उसमें दाग पड़ गये हों, तो भी वह मूलतः स्वच्छ, चमकदार धातु का ही बना हुआ है। साफ राख से जरा माँजने की देर है, वह फिर से चमकने लगेगा। विनोबाजी को अपनी वैराग्य-वह्नि की स्वच्छ राख से और भक्ति-जल से मनुष्यों के मन-कलश शीघ्रता से चमकाते हुए हम प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं न?

मनुष्य को दूसरे की चीज लेने में, दूसरे को लूटने में आनन्द आता है, यह बात गलत नहीं है। रेलगाड़ी में अन्य किसीका खोया हुआ छेदवाला पैसा ही यदि मुझे मिल गया, तो उतने से मुझे कितना आनन्द होता है। जिसका पैसा खो गया होगा, उसके विषय की रहनेवाली सहानुभूति उस आनन्द की लहर में बिल्कुल डूब जाती है, यह भी गलत नहीं है। फिर भी दूसरे की सहायता के लिए दौड़ जाने में, दूसरों के लिए प्राण देने में भी मनुष्य को परम आनन्द होता है, यह भी सत्य है। क्योंकि जिसे हम 'दूसरा' कहते हैं वह 'दूजा' नहीं है, वह हम खुद ही हैं। इसका धुँधला एवं अस्पष्ट ज्ञान तो प्रत्येक मनुष्य को सहज ही होता है। उसके लिए विशेष योग-साधना की आवश्यकता नहीं है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

सर्वभूतों में आत्मा भरा हुआ है एवं भूतमात्र आत्मा में है। योगयुक्त मनुष्य को सर्वत्र यही दर्शन होता है।

—गीता, अ० ६, श्लो० २९

उद्दंडता में जितना आनन्द है उससे सौगुना अधिक आनन्द नम्रता में है ('लहानपण देगा देवा' = 'नम्र कर दे मुझे प्रभो'—संत तुकाराम) विजय में जितना आनन्द है उससे भी निराला आनन्द शरण जाने में और परास्त होने में है।

दास का मूल्य है। पर हजार दास एक दोस्त के पासंग में भी आ सकते हैं क्या? जीने में आनंद है पर मरने में परम आनंद है। केले का पेड़ हमें मधुर केले देता है और स्वयं मर जाता है। माता बालकों की परवरिश के लिए स्वयं घुलती है।

जिनसे हमने शूद्र समझकर काम कराया, जिन्हें तिरस्कृत किया, दास बनाया, वे हमारे सगे भाई ही हैं। यह पहचान हो जाने पर वह कुनबी, वह ढेड़ दूर-दूर रहे, यह बात मुझसे सही नहीं जाती।

मनुष्य संगति के लिए तरसता है। संगति समानशील की ही हो सकती है। राजा के चारों ओर सौ खुशामदी टट्टू हों, तो भी वह अकेलेपन का ही अनुभव करता है। पहले हमारे यहाँ की रियासतों के राजा लोग अपनी राजधानियाँ छोड़कर दूर-दूर का प्रवास करते थे। राजधानी में उनका मन ही नहीं लगता था, क्योंकि राजधानी में उनको अपनी बराबरी का कोई साथी नहीं मिलता था, जो उनसे हँसी-मजाक करता, उनसे बहस करता। प्रसंगवश उन्हें एकाध चाँटा भी जड़ देता। सभी चापलूस, सभी ठकुर-सुहाती करनेवाले। विदेश में उन्हें राजा

के नाते कोई नहीं पहचानता था। इसलिए वहाँ उन्हें संगति मिल जाती थी।

कोई संगी-साथी चाहिए, इसीलिए तो राजा लोग अपने प्रजाजनों में से कुछ लोगों को पदवियाँ, खिताब, जागीरें और वस्त्र आदि से विभूषित करके उन्हें अपने 'बराबरी के (पीअर्स)' बनाते थे।

इस आंतरिक प्रेरणा के नाम पर मालिकों से हम अनुरोध-पूर्वक विनय करते हैं, उनके, अपने तथा समाज के कल्याण एवं उन्नति के लिए निवेदन करते हैं कि भूमि की मालकियत छोड़ दीजिये, सिर्फ लियाकत बतलाइये।

यह उपकार नहीं है, सख्ती भी नहीं है, यह उत्सव है, प्रेमालिंगन है।

यह उत्सव जिसे नहीं भाता, उस अभागे से हम यह भी कहते हैं कि अगर प्रेम के लिए नहीं, तो स्वार्थ के लिए भी, तुझे यही करना होगा।

प्रामाणिकता जीवन में स्वयंप्रेरणा से तो आनी ही चाहिए। किन्तु आज तो स्वार्थ और सुरक्षितता के लिए उसकी आव-श्यकता है।

कई लोगों को भूदान-यज्ञ क्रान्तिकारक कार्यक्रम के रूप में आकर्षक प्रतीत होता है। पर मुझे तो उसमें नया कुछ भी दिखायी नहीं देता। आज तक सारे सज्जन, सत्पुरुष, तत्त्ववेत्ता जिस परिपाटी का आचरण करते आये, जिसे सिखाते आये, सब सज्जनों के जीवन में जो रम गयी है उसी रीति-भाँति का यह अगला एवं अटल कदम है।

हमारा नवभारत

हमें जो नवभारत, नवमहाराष्ट्र, नवकोंकण, नव-रत्नागिरी बनाना है, उसका जो चित्र हमारे सामने है, उसमें इतने कार-

खाने, इतने लोहमार्ग, इतने बाँध, इतने भांडार दिखाकर हमारा समाधान नहीं होगा। हमें उस चित्र के बीच में मनुष्य चाहिए। उसके अनेकानेक हाथों में ये कारखाने आदि सब आयुध-आभूषण के रूप में ही शोभा देंगे।

हमारे रत्नागिरी जिले में अमुक लाख आमों की कलमें लगानी हैं। जिले के एक-एक आम के पेड़ को 'हापुस' आम के पेड़ में बदल देना हमारा अंतिम ध्येय नहीं है। इन आमों को चखनेवाले मनुष्य होंगे, तभी उन आमों का उपयोग है। आज इस जिले में साढ़े सत्रह लाख लोग हैं। परंतु वे सारे बीजू आमों की तरह के हैं, क्योंकि 'हापुस' आदमी दूसरे मुल्कों के लिए रवाना हो जाते हैं। अन्य प्रदेशों को हम 'हापुस' आम, 'हापुस' मनुष्य अवश्य भेजते रहें, लेकिन गाँवों में जो मनुष्य रहते हैं, वे सब जब तक 'हापुस' की तरह मधुर, काजू की तरह स्निग्ध, अमचूर की तरह सौम्य और चम्पे की तरह सुगन्धित नहीं बनेंगे तब तक हमें सन्तोष नहीं है। यहाँ कोई अनाड़ी, कायर, मुहताज न रहे। कोई गुंडा और उन्मत्त भी न हो। कोई ठंड से ठिठुरने-वाला न हो। और न किसी पर यह सख्ती हो कि दम घुट रहा हो, तो भी शिष्टाचार के लिए वह जाकिट पर कोट भी पहने। मेरा यह आग्रह है कि मैं स्वयं जैसा बनना चाहता हूँ, जैसा रहना चाहता हूँ, उसी तरह से मेरे सारे भाई-बहन रहें। तेली, माली, कुनबी, चमार, महार आदि सब अपनी फटी और सड़ी-गली गुदड़ियाँ जलाकर (जी नहीं, भूल हुई) कंपोस्ट खाद में डाल दें और दरी, चादर, कंबल आदि के बिस्तर सजायें। आये दिन मुझे एकाएक किसीके घर रहना पड़े, तो वहाँ मेरे मन के अनुकूल बिछौना, ओढ़ना मिलना चाहिए और सोने से पहले संतुलित भोजन तो चाहिए ही। मेरा एक भी घर कुंद और गंदा न रहने पावे।

ऐसा ही भारत हमें बनाना है। अतएव हममें कोई शूद्र न रहे। कोई असामी न रहे। और कोई कारबंद या फरमाबरदार मजदूर न रहे। कोई आलसी—अलाल, मिजाजी टट्टू भी न रहे।

सिर्फ मुझे यह सब नहीं चाहिए और आपको उसका शौक है, ऐसा थोड़े ही है।

तो यह भूदान-यज्ञ आपकी इन शुभ कामनाओं को सफल करने के लिए ही अवतरित हुआ है, उसका स्वागत कीजिये।

सम्पत्तिदान, श्रमदान, जीवनदान

जिस प्रकार भूमिवान भूमि दें, उसी प्रकार संपत्तिवान संपत्ति दें। हम सभी संपत्तिवान हैं। हमें चाहिए कि अपनी संपत्ति का छठा या कम-ज्यादा किन्तु निश्चित भाग समाज को लौटाने के कर्तव्य को हम मान लें। इसे 'संपत्तिदान' कहते हैं। "संपति सब रघुपति कै आही" संसार की सारी संपत्ति के एकमात्र स्वामी प्रभु हैं। मुझे जो संपत्ति मिली या मिल रही है, वह मेरी कार्यकुशलता या क्रियाशक्ति से नहीं मिली है। आज तक सारी मानव-जाति की कमायी हुई संपत्ति और साधन मुझे अनायास विरासत में मिल गये। दुनिया के प्रचलित व्यवहार में एक व्यक्ति को भरपूर संपत्ति मिलती है और दूसरे का दिवाला निकलता है। इसके मूल में अक्सर अकल्पित संयोग ही होते हैं। यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि मुझे जो संपत्ति मिली वह मेरी अपनी क्रियाशक्ति से मिली, तो भी वह क्रियाशक्ति तो मुझे प्रभु-कृपा से ही मिली। किसी व्यक्ति को जन्म से ही मधुर कंठ एवं गायन-कला प्राप्त होती है। और हमारे पूर्वजों ने ग्रामोफोन, रेडियो का बहुत विकास किया, इसलिए उन साधनों की सहायता से कोई गायिका किसी एक ही गाने के रिकार्ड बनवाकर, उसकी लाखों

प्रतियाँ बेचकर लाखों रुपये कमा सकती है। परंतु प्रभु ने उसे जो मधुर कंठ दिया वह इसलिए नहीं दिया कि पंद्रह मिनट की कारगुजारी पर उम्र भर दूसरों से मेहनत कराकर वह चैन की बंसी बजाती रहे। ईश्वर कुछ लोगों को विशेष बुद्धि, शक्ति देता है, परन्तु वह इसलिए नहीं देता कि वे दूसरों पर प्रभुत्व चलावें; प्रत्युत इसलिए देता है कि वह शक्ति दूसरों के भी काम आये। ईश्वर और समाज से इस प्रकार जो संपत्ति प्राप्त होती है उसमें से अपनी आवश्यकता भर स्वयं भोगकर शेष समाज को लौटा देना ही मनुष्य का कर्तव्य है। जन्मसिद्ध भेद एवं सामाजिक व्यवहार के संयोगों से पदा होनेवाली विषमता का निराकरण अतिरिक्त संपत्ति के दान से जहाँ-का-तहाँ होते रहना और जिस क्षण का उसी क्षण होते रहना, समाज-स्वास्थ्य की दृष्टि से आवश्यक है।

मनुष्य समाजावलंबी प्राणी है। समाज के आश्रय से और समाज के साथ व्यवहार करने से ही मनुष्य को संपत्ति प्राप्त होती है अतएव जिसके पास जो हो—भूमि, धन, बुद्धि, कम-से-कम शरीरबल—जो भी हो, उसे वह समाज के लिए उत्सर्ग करके मुक्त हो जाय। इसीसे जीवन कृतार्थ होता है।

परंतु लोभ भी मनुष्य ने अपनी छठी के दूध के साथ पीया है। भूमि, संपत्ति इत्यादि किसीको कितनी भी प्राप्त हुई हो, तो भी उसे वह पर्याप्त नहीं प्रतीत होती। वह और भी अधिक चाहता है। तब अधिक जमीन या अधिक संपत्ति से क्या समझा जाय? इसका अर्थ यह कि जब तक दूसरे के पास मुझसे कम है तब तक मेरे पास अधिक ही है। जिस प्रकार पानी अपनी सतह तुरत सँभाल लेता है उसी प्रकार भूमि और संपत्ति समान सतह पर होनी चाहिए। राशनिंग के जमाने में जिस प्रकार अनाज, गुड़, शक्कर, मिट्टी का तेल इत्यादि के संचय पर कब्जा

करके सरकार उनका समान वितरण करती थी; राशन की मात्रा पर्याप्त है या नहीं, यह नहीं देखती थी; अथवा यह भी नहीं कहती थी कि जिन्हें पर्याप्त मात्रा में दे सकेंगे, उन्हींको शक्कर देंगे, दूसरों को कतई नहीं, उसी प्रकार आज भूमि एवं संपत्ति का राशनिंग होना चाहिए। भाई-भाई की जमीन का बँटवारा इसी तरह होता है। फिर यदि हम यथार्थ बन्धु-भाव कायम करना चाहते हैं, तो अपर्याप्त जमीन का भी विभाजन करना क्या आवश्यक नहीं है? कुछ लोग तो सन्तुलित भोजन करते रहें और दूसरे सब उनका मुँह ताकते रहें, इसकी अपेक्षा क्या अपने साथियों सहित आधा पेट भोजन करके उठने में हमें अधिक सन्तोष का अनुभव नहीं होता?

यही मानव-धर्म है। और "धर्मात् अर्थश्च कामश्च" धर्म-पालन करने से संपत्ति और सुख अनायास सिद्ध होते हैं।

इस मानव-धर्म के पालन से समाज में सन्तोष, भाईचारा और सहयोग का साम्राज्य होगा और उत्साह का संचार होगा। उसमें से अनायास समृद्धि भी निष्पन्न होगी।

शान्तिः पुष्टिः तुष्टिः चास्तु !

परिशिष्ट

नये समाज का निर्माण

[विनोबा]

ग्रामदान समुद्र के समान है। जिस तरह समुद्र में सब नदियाँ लीन हो जाती हैं, वैसे हरएक की मालकियत ग्रामदान में लीन हो जाती है। इस काम के लिए जब छोटे-छोटे गाँवों के लोग भी तैयार हो रहे हैं, तो उसका मतलब यह है कि काल का एक प्रवाह बह रहा है, जो सबको स्पर्श कर रहा है। परस्पर-सहयोग का महत्त्व जितना इस आंदोलन के समय लोगों के ध्यान में आ रहा है, उतना इसके पहले कभी नहीं आया था, क्योंकि व्यक्तिगत मालकियत समाज में लीन कर देने से बढ़कर और परस्पर सहयोग क्या हो सकता है ? इसलिए इस आंदोलन के जरिये न सिर्फ भूमि के मसले के लिए राह खुल जाती है, बल्कि सब तरह की सामूहिक साधना की भी तैयारी हो जाती है। और वह एक ऐसे ढङ्ग से होती है कि उसमें समूह के साथ व्यक्ति का कोई विरोध नहीं पैदा होता, बल्कि सारे व्यक्ति अपनी इच्छा से अपने स्वार्थ को समूह में विलीन कर देते हैं। इसलिए 'समूह-विरुद्ध-व्यक्तिगत' का जो झगड़ा पाश्चात्य समाज-शास्त्रज्ञों ने और नीति-शास्त्रज्ञों ने पैदा किया था, वह इसमें रहता ही नहीं। ये लोग जो ग्रामदान दे रहे हैं, वे एक नया नीतिशास्त्र और नया समाजशास्त्र रच रहे हैं, ये लोग स्वार्थ और परमार्थ का भी भेद मिटा रहे हैं। जैसे व्यक्ति और समाज के हित में विरोध नहीं है, वैसे ही स्वार्थ और परमार्थ के बीच कोई विरोध नहीं है।

त्रिविध क्रांति

इस तरह इस आंदोलन में जो शक्तियाँ निर्माण हो रही हैं, वे इतनी व्यापक हैं कि उनके लिए हम चाहे जितनी कोशिश करते हों, वह कम ही मालूम होगी। इस आंदोलन में काम करनेवाला व्यक्ति देश-सेवा का दावा कर सकता है, परमार्थ का दावा कर सकता है और समाज-सेवा का दावा तो कर ही सकता है। "समाज-सेवा" शब्द का प्रयोग मैंने मामूली अर्थ में नहीं किया है। वैसे समाज-सेवा तो देश-सेवा में आ जाती है। लेकिन हम कहना चाहते हैं कि समाज-रचना बदलनेवाली क्रांति की ही बात ग्रामदान के काम में आती है। इस तरह देश का आर्थिक जीवन उन्नत करना, सामाजिक रचना में क्रांति लाना और पारमार्थिक उन्नति करना, ये सारे कार्य ग्रामदान के जरिये देहात-देहात में चल रहे हैं।

आमूलाग्र परिवर्तन

अक्सर हम गाँव-गाँव के लोगों के पास जाकर पूछते हैं कि आपकी क्या राय है? तो वे कहते हैं कि शिक्षा और पानी का इन्तजाम होना चाहिए। लेकिन एक दफा हमने ग्रामदान में मिले हुए एक गाँव के लोगों को वही सवाल पूछा, तो उन्होंने जवाब दिया कि अब हम एक हो गये हैं, इसलिए हमें कोई कमी ही नहीं रहेगी, हम एक-दूसरे को मदद करेंगे, तो सब चीजें हासिल कर सकेंगे। यह जवाब सुनकर मैं चकित रह गया। मुझे लगा कि अब इन लोगों को समझाने के लिए मेरे पास अधिक कुछ शेष नहीं रहा है। इन छोटे-छोटे गाँवों को बाहर से कोई मदद नहीं मिलती है, इसलिए भी वे समझ लेते हैं कि गाँव एक बनता है, तो अन्दर से एक ताकत बनती है। इन सब गाँवों को यह अनुभव होता है कि उनकी शक्ति अन्दर से बढ़नी

चाहिए। अपनी शक्ति बढ़ाने की इच्छा अन्दर से जाग जाती है, तो मनुष्य की आत्मा एकदम सावधान हो जाती है और भूदान-यज्ञ का संदेशा सुनकर लोगों को यह लग रहा है कि यह एक ऐसा साधन है कि जिससे हम परावलम्बी नहीं रहेंगे, अपने बल से काम करेंगे। इसलिए वे लोग अत्यन्त उत्साह से यहाँ आते हैं और हमारा संदेशा प्रेम से सुनते हैं। हम उनको यह भी सुनाते हैं कि इस तरह से आप अपने गाँव को सर्वोदय की दृष्टि से संगठित करेंगे, तो आपको बाहर से भी मदद मिल सकती है। लेकिन इस बारे में हम बहुत एहतियात से काम करते हैं। हम उन्हें यह भास नहीं होने देते हैं कि उनके अन्दर जो शक्ति है, उससे बढ़कर कोई दूसरी शक्ति उन्हें मदद करने-वाली है। यह शास्त्र का वचन है कि जो खुद को मदद करते हैं, उन्हें भगवान् मदद करता है। लेकिन ये लोग अपनी अन्दर की ताकत बढ़ायेंगे, तो उसके साथ उन्हें कुछ बाहर की मदद भी मिलनी चाहिए, वह मिलेगी भी; लेकिन जो लोग सिर्फ बाहर की ताकत पर विश्वास रखते हैं, उनकी अन्दर की ताकत तो बढ़ती ही नहीं, लेकिन बाहर की ताकत भी जितनी चाहिए, उतनी मिलती नहीं।

जातिसंस्था का मूल

हम इन गाँववालों को समझाते हैं कि आप लोग 'मैं-मेरा' और 'तू-तेरा' छोड़ दें तथा 'हम और हमारा' कहना शुरू करें। जाति का मतलब इतना ही है कि कोई बढ़ई का काम करता था, तो उसका लड़का भी बढ़ई का काम आसानी से सीखता था और उसे तालीम के लिए किसी स्कूल में जाने की जरूरत नहीं पड़ती थी। लेकिन आज तो गाँव-गाँव के सब धंधे टूट ही गये हैं, इसलिए उसके साथ जातियाँ

भी टूट गयी हैं। धंधे टूटने के बाद भी अगर कोई जाति का नाम लेता है, तो वह एक प्रकार से बेकार ही है। इसके आगे लोगों को हम धंधा देना चाहते हैं, परन्तु जातियाँ नहीं बनाना चाहते, क्योंकि हम चाहते हैं कि हरएक को खेती में कुछ-न-कुछ समय देना ही चाहिए और फिर बचे हुए समय में हर कोई अपना-अपना धंधा कर सकता है। कोई बुनकर दिन भर बुनता ही रहेगा, तो उसके शरीर का गठन अच्छा नहीं रहेगा और उसका आरोग्य भी ठीक नहीं रहेगा। आरोग्य के लिए हर एक को खेत में काम करना चाहिए। फिर बचे हुए समय में कोई बुनाई का काम करेगा, तो कोई बढ़ई का काम करेगा, तो कोई शिक्षक का काम करेगा। मैं तो चाहूँगा कि स्त्रियाँ भी खेती में काम करें और बचे हुए समय में घर का काम करें। हर एक को खुली हवा मिलनी चाहिए। मनुष्य कुदरत के साथ एकरूप होगा, तो वह एक प्रकार से परमेश्वर की उपासना होगी।

जातियाँ नहीं, वृत्तियाँ

इसके आगे जाति का विचार ही छोड़ना होगा। अब जातियाँ नहीं रहेंगी, वृत्तियाँ रहेंगी। हमारी वृत्ति ग्राम-सेवा की होनी चाहिए। किसी में एक शक्ति है, तो किसी में दूसरी। परन्तु अपनी सब शक्तियाँ हमें ग्राम-सेवा में अर्पण करनी हैं। जो जूता बनायेगा, वह यह नहीं कहेगा कि मैं चमार हूँ; बल्कि वह कहेगा कि मैं ग्राम-सेवक हूँ। बढ़ई यह नहीं कहेगा कि मेरी जाति बढ़ई की है; बल्कि वह कहेगा कि मैं ग्राम-सेवक हूँ। शिक्षक यह नहीं कहेगा कि मेरी जाति शिक्षक की है, बल्कि यह कहेगा कि मैं ग्राम-सेवक हूँ। हर कोई कहेगा कि मेरी वृत्ति या तो बढ़ई की है या बुनकर की है, या शिक्षक की है। ये सारी वृत्तियाँ हैं, जातियाँ नहीं हैं। सब मिलकर खेती करेंगे, तो सब जातियाँ

किसान के साथ एकरूप होंगी और हरएक मनुष्य किसान होगा। कोई बढ़ई-किसान, कोई बुनकर-किसान, कोई गुरुजी-किसान, कोई मंत्री-किसान, कोई न्यायाधीश-किसान। इस तरह हरएक किसान होगा और उसके साथ-साथ उसकी अलग-अलग वृत्ति होगी। इस तरह का ग्रामराज्य हमें बनाना है।

भिन्न-भिन्न आदिवासियों की जमातें सूर्य, वरुण, भू-माता आदि देवताओं को मानती हैं। ये सारे प्राचीन आर्य ऋषियों के वंशज हैं। ऋषि भी इन्हीं देवताओं का नाम लेते थे। उसके बाद नये-नये देवता निकले। भुवनेश्वर वगैरह सब अर्वाचीन हैं। अपने देश के मूल देवता भूमि-माता, सूर्य, वरुण आदि हैं। जिसकी सेवा कर सकते हैं, उसकी सेवा करना और जिसकी सेवा नहीं कर सकते हैं, उसकी पूजा करना, यही हमारा रिवाज है। ये लोग भूमि-माता की सेवा करते हैं और सूर्य की पूजा करते हैं। ये खुले बदन सूर्य-प्रकाश में घूमते हैं, तो हम समझते हैं कि ये सूर्य की उपासना करते हैं। जो लोग बाहर से यहाँ पर सेवा करने के लिए आयेंगे, उनको भी इनके जैसे खुले बदन घूमने की आदत डालनी चाहिए। वे यह न समझें कि हम इन्हें कुछ सिखाने के लिए आये हैं, बल्कि वे यह समझें कि हम इनसे कुछ सीखने के लिए आये हैं।

भूमि-सेवा का मौलिक धर्म

जो भूमि-सेवा का मूलधर्म है, जिसके साथ ये लोग चिपके हुए हैं, वह धर्म यह सारे हिन्दुस्तान को देना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि हिन्दुस्तान का प्रोफेसर, न्यायाधीश और मंत्री भी खेती में काम करे और बाकी बचे हुए समय में अपनी-अपनी वृत्ति कायम रखे। गाँव के लोग ऐसा ही करते थे। गाँव में झगड़ा होता था, तो गाँव का कोई मनुष्य फैसला देता था, याने

वह न्यायाधीश का काम करता था; परन्तु वह बेकार नहीं रहता था, खेती भी करता था और साथ-साथ दूसरा काम करता था। इसी तरह देश का हरएक मनुष्य अपनी-अपनी वृत्ति अलग-अलग होने पर भी भूमि-सेवा करेगा, यह महान् विचार, जीवन का एक मूलभूत विचार हम इस क्षेत्र में निर्माण करना चाहते हैं और अपने कार्यकर्ताओं को यह सिखाना चाहते हैं। हमारे जो कार्यकर्ता यहाँ काम करेंगे, वे यहाँ के लोगों के साथ कुछ खेती भी जरूर करेंगे।

यह काम सर्वांगीण क्रांति का काम है, सारे समाज को बदलने का काम है। इसलिए हमें हिंदुस्तान के हर गाँव में बार-बार जाना पड़ेगा। पाँच लाख गाँवों में कम-से-कम बीस दफा यात्रा करनी होगी। उसके बाद आप देखेंगे कि देश का क्या रूप आता है।

(पेनकम, उत्कल, १६-९-'५५)

गाँव-गाँव में स्वराज्य

•

लेखक :

विनोबा

•

प्रकाशक :

अ० वा० सहस्रबुद्धे,

मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ

वर्धा (म० प्र०)

•

पहली बार : २०,०००

नवंबर, १९५५

मूल्य : दो आना

•

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, काशी

गाँव-गाँव में स्वराज्य

: १ :

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद गाँव के लोगों की हालत सुधरेगी, ऐसी आशा लोगों ने रखी थी। ऐसी आशा रखने में उनकी कोई गलती नहीं थी। अगर स्वराज्य में जनता की हालत न सुधरती हो, तो उस स्वराज्य की कीमत भी क्या है ? इसलिए गाँव की हालत सुधरेगी, यह आशा रखना ठीक ही था।

आप अपने बादशाह

लेकिन लोग समझे नहीं हैं कि स्वराज्य के बाद हमारी हालत सुधारना हमारे ही हाथ में है। वे समझे हैं कि जैसे पहले मुसलमानों का या अंग्रेजों का राज्य था, वैसे अब कांग्रेस का राज्य आ गया है। लेकिन मुसलमानों के और अंग्रेजों के राज्य में या और भी किसी राजा के राज्य में आपके वोट किसी-ने माँगे नहीं थे। वे राज्य तो पुराने हो गये। वे राजाओं के राज्य थे, सुलतानों के राज्य थे। लेकिन अभी जो हमारा स्वराज्य है, वह लोगों का राज्य है। यहाँ पर जो राज्य चलाते हैं, वे लोगों के चुने हुए नौकर हैं। आप सब लोगों को सत्ता

दी गयी है कि अपना राज्य आप जैसा चलाना चाहते हैं, वैसा चलाइये और अपना राज्य चलाने के लिए आपको कौन से नौकर रखने हैं, यह आप ही तय कीजिये। इस तरह आपसे वोट माँगा गया और आपने वोट दिया, तो पाँच साल के लिए आपने नौकर कायम किये। जैसे किसान साल भर के लिए नौकर रखता है और साल के आखिर में अगर उसने अच्छा काम किया, तो उसे फिर से रखता है, और अगर उसने अच्छा काम न किया तो दूसरा नौकर रखता है, उसी तरह आपने पाँच साल के लिए नौकरों को चुना है। उनका काम अच्छा चलता है, ऐसा आपको लगेगा तो आप उनको दुबारा चुनेंगे; नहीं तो दूसरों को चुनेंगे।

इसका मतलब यह है कि यहाँ पर आप जो सब लोग बैठे हैं, वे सबके सब बादशाह हैं, स्वामी हैं। लेकिन आपमें से हर व्यक्ति अलग-अलग स्वामी नहीं है, आप सब मिलकर स्वामी हैं। इस तरह आप स्वामी तो बन गये, लेकिन फिर भी अपने पास सत्ता है, इसका आपको भान नहीं है, क्योंकि एक नाटक-सा हुआ। आपकी राय पूछी गयी और आपने राय दी। मान लीजिये कि किसी घर में चार-पाँच साल के मूरख और बेवकूफ लड़के हैं। अगर उनसे पूछा जायगा कि घर का कारोबार कैसे चलाना चाहिए या उनसे वोट माँगे जायेंगे तो वे क्या वोट देंगे ? वे तो यही कहेंगे कि आप यह क्या नाटक कर रहे हैं। आप हमारे माँ-बाप हैं,

आप ही हमारी चिंता कीजिये। वैसे ही लोगों ने कांग्रेस-वालों से कहा कि आप बड़े हैं, आपने हमारी सेवा की है, आप हमारे माँ-बाप हैं। आप ही राज्य चलाइये। उधर तो वे कहते हैं कि हम आपके नौकर होना चाहते हैं और अगर आप हमें नौकरी पर रखेंगे, तो हम नौकरी करना चाहते हैं। लेकिन इधर ये लोग कहते हैं कि आप ही हमारे माँ-बाप हैं, इसलिए आप हमारी चिंता कीजिये।

सत्ता किसीके देने से मिलती नहीं है। सत्ता या अधि-कार तो अंदर से प्राप्त होना चाहिए। वैसे हिन्दुस्तान के लोग मूरख नहीं हैं, बल्कि काफी समझदार हैं। अभी जो चुनाव हुआ था, वह भी कितने सुन्दर ढंग से हुआ था। लोगों को लगता था कि यहाँ पर न मालूम क्या-क्या होगा, कितनी लड़ाइयाँ होंगी, लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। बाहर के देशवालों को आश्चर्य लगा कि हिन्दुस्तान के लोग अपढ़ हैं, फिर भी यहाँ पर इतने सुन्दर ढंग से चुनाव कैसे हो सका। इसका कारण यह है कि हिंदुस्तान के लोग दस हजार साल के अनुभवी हैं। ये अपढ़ जरूर हैं, लेकिन अनुभवी हैं, इसलिए ज्ञानी हैं। इसीलिए यहाँ के चुनाव बड़े अच्छे ढंग से हुए।

हिंदुस्तान के लोग यद्यपि समझदार हैं, फिर भी वर्षों से उनको गुलामी की आदत पड़ गयी है और वे सोचते हैं कि सरकार माँ-बाप की तरह हमारी चिंता करेगी। इसलिए अब जब कि इन लोगों के हाथ में सत्ता आयी है, तब उनको

यह अनुभव होना चाहिए कि वास्तव में हमारे हाथ में सत्ता आयी है। क्या माता को माता का अधिकार कोई देता है? माता तो अपने में मातृत्व का अनुभव करती है। क्या शेर को किसीने जंगल का राजा बनाया है? वह तो खुद अपना अधिकार महसूस करता है। उसी तरह स्वराज्य की शक्ति का लोगों को अंदर से भान होना चाहिए। वह कैसे होगा? क्या गाँव-गाँव के लोग दिल्ली का राज्य चलायेंगे? गाँव-गाँव के लोग तो गाँव-गाँव का राज्य चलायेंगे। तो फिर उनको राज्य चलाने का अनुभव हो जायगा।

सेवा की सत्ता

इस जमाने में जो राज्य होता है, वह राज्य नहीं बल्कि प्राज्य होता है। वह लोगों का होता है। पहले के जमाने में जो लोगों को दबाता था, वही राजा होता था। कहा जाता है कि जंगल का राजा शेर होता है। इसके माने यह हैं कि जो जंगल के प्राणियों को खा जाता है, वह राजा होता है। संस्कृत में जानवरों के राजा को या सिंह याने शेर को 'मृगराज' कहते हैं। उस राजा के दर्शन होते ही सारे मृग थर-थर काँपते हैं। इस प्रकार की राज्य-सत्ता अब नहीं चलेगी। अब तो राज्य-सत्ता सेवा की सत्ता होगी। माता को घर में क्या अधिकार होता है? बच्चे को भूख लगी है तो उसे दूध पिलाना, यह माता का पहला अधिकार

है। बच्चे को सुलाकर फिर सोना, यह नंबर दो का अधिकार है, बच्चा बीमार पड़ा तो रात को जागना, यह नंबर तीन का अधिकार है और घर में खाने की चीजें कम हैं, तो पहले बच्चे को खिलाना और खिलाने के बाद कुछ नहीं बचा तो खुद फाका करना, यह नंबर चार का अधिकार है। आज का हमारा **मातृराज** है न ? तो उसके नमूने हमें गाँव-गाँव में दिखाने होंगे।

गाँव-गाँव में जो बुद्धिमान, संपत्तिमान और समझदार लोग होंगे, वे गाँव के माता-पिता बन जायँ और गाँव की सेवा करके गाँव का राज्य चलायें। जो बुद्धिमान पिता होते हैं, वे अपने लड़कों के लिए यही इच्छा करते हैं कि हमारे लड़के हमसे ज्यादा बुद्धिमान बनें। पिता को तो तब खुशी होती है, जब उसका लड़का उससे आगे बढ़ जाता है, गुरु को तब खुशी होती है, जब उसका शिष्य दुनिया में उसका विस्मरण कराता है। लोग गुरु का नाम भूल जाते हैं और शिष्य को ही याद करते हैं, तो गुरु को खुशी होती है। गुरु को लगता है कि मैंने अपने शिष्य को ज्ञान दिया और फिर भी मेरा नाम दुनिया में कायम रहा, तो मैंने ज्ञान ही क्या दिया ? मेरा नाम मिट जाना चाहिए और शिष्य का नाम चलना चाहिए, तभी मैं सच्चा गुरु हूँ। इसलिए गाँव के जो बुद्धिमान लोग होंगे, वे इस तरह से काम करेंगे कि सब लोग उनसे ज्यादा बुद्धिमान बनें। तो फिर ग्रामराज्य का रामराज्य बनेगा।

अपना गाँव एक राष्ट्र

स्वराज्य के माने हैं, सारे देश का राज्य। जब दूसरे देश की सत्ता अपने देश पर नहीं रहती है, तो स्वराज्य हो जाता है। लेकिन जब हरएक गाँव में स्वराज्य हो जाता है, तो उसको रामराज्य कहा जाता है। गाँव के सब लोग बुद्धिमान बने हैं, किसी पर सत्ता चलाने की जरूरत नहीं पड़ती है, तब उसका नाम है 'रामराज्य'। जब गाँव के झगड़े शहर की अदालत में जाते हैं और शहर के लोग उनका फैसला करते हैं, तो उसका नाम है गुलामी, दास्य या पारतंत्र्य। गाँव के झगड़े गाँव में ही मिटाने का नाम है, स्वातंत्र्य या स्वराज्य। और गाँव में झगड़े ही नहीं होते हैं, इसका नाम है रामराज्य। हमें पहले ग्रामराज्य बनाना होगा और फिर रामराज्य। देश का स्वराज्य तो हो गया है, अब हमें ग्रामराज्य बनाना है। इसीलिए हम गाँव-गाँव जाकर लोगों को समझाते हैं कि तुम्हारे गाँव का भला किसमें है। इस पर तुम खुद सोचो। अपने गाँव को एक राष्ट्र समझो। जैसे आज आप भारतमाता की जय बोलते हैं, उसी तरह अपने गाँव की जय बोलनी चाहिए।

हरएक ग्राम की जय होती है, तो देश की जय होगी। जब अपना हरएक अवयव काम करेगा, तब सारा शरीर काम करेगा। आँख, कान, पाँव, हाथ, दाँत अच्छा काम करेंगे, तो सारा शरीर अच्छा काम करेगा। अगर इनमें से एक भी कम काम करता है, तो देह का काम अच्छा नहीं होगा। आँख

काम नहीं करती है और बाकी सारा शरीर काम करता है, तो उसका नाम है अंधा। कान काम नहीं करते हैं और बाकी सारा शरीर काम करता है, तो उसका नाम है बहरा। उसी तरह सारे गाँव अपना काम अच्छी तरह से चलायेंगे, गाँव-गाँव में स्वराज्य बनेगा, तो अपना स्वराज्य अच्छा बनेगा। हमें हरएक गाँव में राज्य चलाना होगा। एक देश में राज्य के जितने विभाग होते हैं और जितने काम होते हैं, उतने सारे गाँव में होंगे। वहाँ पर आरोग्य-विभाग होता है, तो गाँव में भी आरोग्य-विभाग होना चाहिए, वहाँ पर उद्योग-विभाग, कृषि-विभाग, तालीम-विभाग, न्याय-विभाग होते हैं, तो गाँव में भी उतने सारे विभाग होने चाहिए। वहाँ पर परराष्ट्र के साथ संबंध आता है, तो ग्राम में भी परग्राम के साथ संबंध आयेगा।

गाँव-गाँव में विश्वविद्यालय

ग्राम-ग्राम म विद्यापीठ होना चाहिए। ग्रामे-ग्रामे विश्व-विद्यापीठम्। यह है सच्चा ग्रामराज्य। किसीने हमसे कहा कि प्राथमिक शाला हर गाँव में होनी चाहिए, हाई-स्कूल बड़े गाँव में होने चाहिए, और विसाखापत्तन जैसे शहर में कॉलेज होना चाहिए तो मैंने उनसे कहा कि अगर ईश्वर की ऐसी योजना होती तो गाँव में दस साल की उम्र तक के ही लोग रहते। फिर उसके बाद पंद्रह-बीस साल तक की उम्र के लोग गाँव में रहते और उस उम्र से अधिक उम्रवाले

लोग विसाखापत्तन जैसे शहर में रहते। लेकिन जब जन्म से लेकर मरण तक का सारा व्यवहार गाँव में ही चलता है, तो पूरी विद्या गाँव में क्यों नहीं चलनी चाहिए? ये लोग ऐसे दरिद्र हैं कि एक-एक प्रांत में एक-एक यूनिवर्सिटी स्थापित करने की योजना करते हैं; लेकिन मेरी योजना के अनुसार हर गाँव में यूनिवर्सिटी होगी। सोचने की बात है कि क्या गाँव को टुकड़ा रखेंगे? चार साल तक की शिक्षा याने एक टुकड़ा गाँव में रहेगा। फिर गाँववाले आगे की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें गाँव छोड़कर जाना पड़ेगा। इसके कोई मानी नहीं हैं। मेरे ग्राम में मुझे पूरी तालीम मिलनी चाहिए। यह मेरा ग्राम टुकड़ा नहीं है, वह तो पूर्ण है। "पूर्णमदः पूर्णमिदम्"—पूर्ण है वह, पूर्ण है यह। ये लोग कहते हैं कि यह भी टुकड़ा है और वह भी टुकड़ा है और यह सब मिलकर पूर्ण है। हमारी योजना में इस तरह टुकड़े-टुकड़े मिलकर पूर्ण बनाने की बात नहीं है। हम चाहते हैं कि हर गाँव में राज्य के सब विभागों के साथ एक परिपूर्ण राज्य होना चाहिए।

इस तरह हर छोटे-छोटे गाँव में राज्य होगा, तो हर गाँव में राज्यकार धुरंधरों का समूह होगा। गाँव-गाँव में अनुभवी लोग होंगे। दिल्लीवालों को राज्य चलाने में कभी मुश्किल मालूम हुई, तो वे सोचेंगे कि दो-चार गाँवों में चला जाय और वहाँ के लोग किस प्रकार से राज्य चलाते हैं, यह देखा जाय। क्योंकि राज्यशास्त्र-विद्या-पारंगत लोग गाँव-गाँव में रहते

हैं। इसलिए गाँव-गाँव में विद्यापीठ होना चाहिए। आज तो लोग कहते हैं कि गाँव में राज्यशास्त्र के ज्ञाता कोई नहीं हैं, जिले में भी राज्यशास्त्र के ज्ञाता नहीं हैं। सारे आंध्र प्रदेश में राज्यशास्त्र के ज्ञाता दो-तीन ही होंगे। जब स्वराज्य चलाना चाहते हो, तो राज्यशास्त्र के ज्ञाता इतने कम होने से कैसे काम चलेगा? इसलिए गाँव-गाँव में ऐसे ज्ञाता होने चाहिए। आज हालत ऐसी है कि पंडित नेहरू ने एक दफा कहा था कि हमें जरा प्रधानमंत्री पद से छुट्टी दीजिये, तो सभी लोग घबड़ा गये और उनसे कहने लगे कि आपके बिना हमारा काम कैसे चलेगा? यह कोई स्वराज्य नहीं है। असली स्वराज्य तो वह है जब पंडित नेहरू मक्त होने की इच्छा प्रकट करते हैं, तो लोग उनसे कहें कि जी हाँ, जरूर मुक्त हो जाइये। आपने आज तक बड़ी सेवा की है, अब आपको मुक्त होने का हक है।

सत्ता का विकेन्द्रीकरण

हमें इस तरह सब करना है। जो राज्य-सत्ता दिल्ली में इकट्ठी हुई है, उसे गाँव-गाँव में बाँटना है। हम तो परमेश्वर के भक्त हैं, इसलिए हम ईश्वर का ही उदाहरण सामने रखें। ईश्वर ने अगर अपनी सारी अकल वैकुंठ में रखी होती और किसी प्राणी को अकल ही नहीं दी होती, तो दुनिया कैसे चलती? फिर तो जब किसी मनुष्य को अकल की जरूरत पड़ती, तो उसे वैकुंठ में टेलीग्राम भेजकर थोड़ी-सी अकल मँगवानी पड़ती। आज जब आपके मंत्रियों को विमान से

दौड़ना पड़ता है, तो फिर भगवान् को कितना दौड़ना पड़ता ? लेकिन भगवान् ने ऐसी सुंदर योजना की है कि सबको अकल बाँट दी है। मनुष्य को अकल दी है, घोड़े को, गधे, को, साँप को, बिच्छू को, कीड़े को—सबको अकल दी है। किसी एक जगह पर बुद्धि का भंडार नहीं रखा है। इसलिए कहा जाता है कि भगवान् निश्चिंत होकर क्षीरसागर में निद्रा लेते हैं। क्या हमारे मंत्री इस तरह निद्रा ले सकते हैं ? लेकिन भगवान् इस तरह निद्रा लेते हैं कि पता भी नहीं चलता कि वे वहाँ पर हैं! फिर ये हमारे भाई कहते हैं कि वह है ही नहीं, क्योंकि वह अपनी सत्ता नहीं चलाता है। पर वह इतना क्षमाशील है कि निश्चिंत होकर सो जाता है, फिर चाहे कोई उसको माने या न माने। असली स्वराज्य तो वह होगा जब दिल्ली के लोग सोते होंगे। दिल्ली में क्षीर-सागर है और वहाँ पर हमारे प्रधानमंत्री सोये हुए हैं, ऐसा होगा तब हम समझेंगे कि सच्चा स्वराज्य आया है। लेकिन आज तो हम सुनते हैं कि हमारे प्रधानमंत्री अठारह घंटे तक जागते हैं। यह भी कोई स्वराज्य है ?

पहले लंदन में सत्ता थी। वहाँ से पार्सल द्वारा अब वह दिल्ली आयी है। यह तो बड़ी कृपा हुई। लेकिन वह पार्सल दिल्ली में ही अटक गया है, उसे अब गाँव-गाँव में पहुँचाना है। हमें लोगों को स्वराज्य की शिक्षा देनी है। तो, यह सारा काम करना होगा। इसका नाम है—**शासन-विभाजन**। शासन का

आज जो केन्द्रीकरण हुआ है, उसके बदले शासन का विभाजन करना होगा और हर गाँव में शासन या सत्ता बाँटनी होगी। फिर जब गाँव के सबके सब लोग राज्य-शास्त्र के ज्ञाता हो जायँगे और गाँव के सब लोग कभी झगड़ा करेंगे ही नहीं, तो उस हालत में शासन-मुक्ति हो जायगी और रामराज्य आयेगा।

यह सब हमें करना है। इसीलिए भूदान-यज्ञ शुरू हुआ है। हम गाँववालों से कहते हैं कि अपने गाँव की हालत सुधारने के लिए तुम लोगों को कमर कसकर तैयार हो जाना चाहिए। तुम्हारे गाँव में भूमिहीन हैं, तो उन्हें जमीन देनी चाहिए। जमीन कहाँ से दोगे? क्या दूसरे गाँव की जमीन लाओगे? अपने ही गाँव की जमीन का एक हिस्सा उनको देना चाहिए। फिर गाँव-गाँव में उद्योग खड़े करने चाहिए। आपको निश्चय करना होगा कि हम बाहर का कपड़ा नहीं खरीदेंगे, हम अपने गाँव में कपड़ा बनाकर वही पहनेंगे। मैं मानता हूँ कि जो बाहर का कपड़ा पहनते हैं, वे नंगे हैं। अभी मेरे सामने जो लोग बैठे हैं, वे सारे बाहर का कपड़ा पहने हुए हैं, इसलिए यह नंगों की सभा है। अगर इन लोगों को बाहर से कपड़ा नहीं मिलेगा, तो वे फटे हुए कपड़े पहनेंगे, फिर लँगोटी ही पहनेंगे और आखिर में नंगे रहेंगे, क्योंकि उनके पास कपड़ा बनाने की विद्या नहीं है।

यह सब काम सरकारी कानून से नहीं होगा। कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि भूदान का काम बाबा को क्यों करना

पड़ता है, सरकार अपनी जमीन क्यों नहीं बाँटती है? सरकार जमीन बाँटेगी, तो **ग्रामराज्य** नहीं होगा, **दिल्लीराज्य** होगा। लंदन-राज्य के बदले अब दिल्ली-राज्य आया है। लेकिन हम चाहते हैं कि दिल्ली-राज्य के बदले गाँव का राज्य आये। जिस तरह हमारी भूख मिटाने के लिए हमको ही खाना पड़ेगा, दूसरा कोई हमारे लिए नहीं खा सकता, उसी तरह हमारे रामराज्य के लिए हमें ही भूदान करना पड़ेगा, दूसरे नहीं कर सकते। फिर आज लोग जैसे दिल्ली में बैठे-बैठे सोचते हैं कि अपने देश में बाहर से कौन-सी चीजें आनी चाहिए और देश की कौन-सी चीजें बाहर जानी चाहिए, उसी तरह गाँव-गाँव के लोग सोचेंगे कि अपने गाँव में कौन-सी चीजें बाहर से आनी चाहिए और गाँव की कौन-सी चीजें बाहर जानी चाहिए। आज तो जिसकी मर्जी में जो आया, उसके अनुसार वह बाहर की चीजें खरीदता जाता है। लेकिन इसके आगे यह नहीं चलेगा। सारे गाँव-वाले मिलकर चर्चा करेंगे और निर्णय करेंगे। अगर किसीको गुड़ की जरूरत हुई, तो गाँववाले सोचेंगे और तय करेंगे कि इस साल गाँव में गुड़ नहीं बन सकता, इसलिए एक साल के लिए बाहर का गुड़ खरीदना होगा। लेकिन गाँव के लोग बाजार में जाकर गुड़ नहीं खरीदेंगे। गाँव की दूकान से खरीदेंगे। इस तरह गाँव के लोग बाहर का गुड़ गाँव की दूकान से एक साल के लिए खरीदेंगे और फिर गाँव

में गन्ना बोकर अगले साल के लिए गुड़ पैदा करेंगे। और गाँव की दूकान में वही गुड़ रखा जायगा और वही गुड़ खरीदा जायगा।

इस तरह सारा गाँव एक हृदय से सोचेगा। गाँव में पाँच सौ लोग रहेंगे तो गाँव में एक हजार हाथ होंगे, एक हजार पाँव होंगे, पाँच सौ दिमाग होंगे, लेकिन दिल एक होगा। गीता में एकादश अध्याय में विश्व-रूप दर्शन की बात ह। विश्व-रूप दर्शन में हजारों हाथ हैं, हजारों पाँव हैं, कान हैं, आँखें हैं लेकिन उसमें आपको यह नहीं मिलेगा कि हृदय हजारों हैं। विश्व-रूप का हृदय एक ही होगा। उसी तरह गाँव का हृदय एक होगा। पाँच सौ दिमाग होंगे। वे चर्चा करके बात तय करेंगे। यह हमारी सर्वोदय की योजना है।

सर्वोदय कौन करेगा ?

अब आप मुझे बताइये कि यह सर्वोदय का काम आप करेंगे या आपकी राजधानीवाले और दिल्लीवाले करेंगे ? यह ठीक है कि आप लोग अपनी योजना करेंगे, तो उसमें राजधानीवाले और दिल्लीवाले आपको कुछ मदद देंगे। लेकिन योजना तो आपको ही अपने गाँव के लिए करनी होगी। अगर गाँव-गाँव में जाकर बाबा की यह बात आप समझा देंगे, तो बुद्धिमान् किसानों को यह बात समझने की अकल है। फिर आपको एक एकड़-दो एकड़ का दान नहीं मिलेगा। फिर

तो एक-एक गाँव के लोग आपके सामने आकर कहेंगे कि हमने अपने गाँव के भूमिहीनों का मसला हल कर दिया है। अपने गाँव क भूमिहीनों को और कम भूमिवालों को हमने पूरी जमीन दे दी है। फिर इस तरह सब लोगों के दस्तखत के दानपत्र वे आपकी भूदान-समिति के आफिस के पास पहुँचा देंगे। अब गाँव की सारी जमीन गाँव की बना दीजिये। आज आपके गाँव में भूमिहीन कोई नहीं रहा है। अब भूमिमालिक कोई नहीं रहना चाहिए। आप इस पर विचार कीजिये। हम जानते हैं कि एकदम से यह काम नहीं हो सकता। इसलिए अब खादी और ग्रामोद्योग का काम शुरू कीजिये।

पाँच लाख गाँवों में रामराज्य

हम जानते हैं कि यह सब करने में कुछ समय लगेगा। लेकिन ज्यादा समय नहीं लगेगा। एक गाँव में एक साल का समय लगा, तो हिंदुस्तान के पाँच लाख गाँवों में कितना समय लगेगा, इस तरह का त्रैराशिक नहीं किया जा सकता। आपके गाँव में आम पकना शुरू होता है, तो सारे हिंदुस्तान के पाँच लाख गाँवों में आम पकने लग जाते हैं। इसलिए आपक गाँव में ग्रामराज्य बनने में जितना समय लगेगा, उतने समय में सारे हिन्दुस्तान के पाँच लाख गाँवों में रामराज्य बनेगा। यह विचार आप गाँव-गाँव जाकर समझा देंगे तो फिर आज

जैसी लाख-दो लाख एकड़ जमीन हासिल करने की दरिद्र कल्पना आप नहीं करेंगे। फिर तो आप कोटि-कोटि की भाषा में बोलेंगे।

तीन सूत्र

आज मैंने आपके सामने सूत्र रूप में विचार रखा है। पहली बात है **केंद्रीय स्वराज्य**। दूसरी बात है **विभाजित स्वराज्य**। और तीसरी बात है **राज्यमुक्ति** अथवा **रामराज्य**। अब उसको रामराज्य कहना है या **अराज्य**, यह हरएक की अपनी-अपनी मर्जी की बात है। ईश्वर नहीं है, यह भी कह सकते हो और ईश्वर क्षीरसागर में सोया हुआ है, यह भी कह सकते हो। लेकिन ईश्वर पसीना-पसीना होकर काम कर रहा है, यह नहीं कह सकते हो। या ईश्वर नहीं है या वह अकर्ता होकर बैठा है, ईश्वर करता है और सब पर अपनी सत्ता चलाता है, यह बात नहीं होनी चाहिए। यह तत्त्वज्ञान, यह ब्रह्म-विद्या हमें अपने देश में लानी है।

परस्परावलम्बन

हम चाहते हैं कि आप सब लोग उत्साह से भाई-भाई बनकर काम में लग जायँ। कुछ लोग पूछते हैं कि विनोबाजी की योजना परस्परावलंबन की योजना नहीं है, स्वावलंबन की योजना है। इतना तो वे कबूल करते हैं कि विनोबा की योजना परावलंबन की नहीं है, परंतु वे कहते हैं कि परस्परावलंबन चाहिए। वैसे हम भी परस्परावलंबन चाहते हैं।

आज बाबा ने दूध पिया, तो क्या बाबा ने खुद गाय का दूध दुहा था? लोगों ने बाबा के लिए सारा इंतजाम किया था। इस तरह बाबा से जो सेवा बनती है, वह करते जाते हैं और लोग उसके लिए इंतजाम करते हैं। परंतु परस्परावलंबन दो प्रकार का होता है। अंधे और लँगड़े का परस्परावलंबन होता है। अंधा देख नहीं सकता है, परंतु चल सकता है और लँगड़ा देख सकता है, परंतु चल नहीं सकता। इसलिए दोनों परस्परावलंबन या सहयोग करते हैं। लँगड़ा अंध के कंधे पर बैठता है। वह देखने का काम करता है और अंधा चलने का काम करता है। इस तरह क्या आप समाज के कुछ लोगों को अंधा रखना चाहते हैं और कुछ लोगों को लँगड़ा रखना चाहते हैं और फिर दोनों का परस्परावलंबन चाहते हैं? बाबा भी परस्परावलंबन चाहता है। परंतु वह चाहता है कि दोनों आँखवाले हों, दोनों पाँववाले हों और फिर हाथ में हाथ मिलाकर दोनों साथ-साथ चलें। बाबा **समर्थों का परस्परावलंबन** चाहता है। और ये लोग **व्यंग्ययुक्त** या **अक्षम** लोगों का परस्परावलंबन चाहते हैं।

हम जानत हैं कि सारी की सारी चीजें एक गाँव में नहीं बन सकतीं। एक गाँव को दूसरे के साथ और गाँवों को शहरों के साथ सहयोग करना होता है। लेकिन हम यह नहीं चाहते कि गाँवों में शहरों से चावल कूटकर, आटा पिसवाकर और चीनी बनवाकर लायी जाय। हम चाहते हैं कि ये चीजें गाँव में ही

बनें। लेकिन गाँवों में चश्मा, थर्मामीटर, लाउडस्पीकर जैसी चीजों की जरूरत पड़ी, तो वे चीजें शहर से लायी जायँ। आज यह होता है कि शहरवाले गाँववालों के उद्योग खुद करते हैं। गाँव में कच्चा माल होता है और उसका पक्का माल गाँव में ही बन सकता है। लेकिन आज शहरों में यंत्रों के द्वारा पक्का माल बनाया जाता है। और उधर परदेश का जो माल शहरों में आता है, उसे रोकते नहीं। हम चाहते हैं कि गाँव के उद्योग गाँव में चलें और परदेश से जो माल आता है, उसे रोकने के लिए वह माल शहरों में बनाया जाय। अगर गाँव के उद्योग खत्म होंगे, तो न सिर्फ गाँवों पर संकट आयेगा, बल्कि शहरों पर भी संकट आयेगा। फिर गाँव के बेकार लोगों का शहरों पर हमला होगा और ऊपर से परदेशी माल का हमला तो होता ही रहेगा। इस तरह दोनों हमलों के बीच में शहरवाले पिस जायँगे। इसलिए हमारी योजना में गाँव और शहरों के बीच इस तरह का सहयोग होगा कि गाँव-वाले अपने उद्योग गाँव में चलायेंगे और शहरवाले परदेश से आनेवाली चीजें शहर में बनायेंगे। इस तरह प्रत्येक गाँव पूर्ण होगा और पूर्णों का सहयोग होगा। • • •

कोटीपाम (श्रीकाकुलम्)
आंध्र
९-८-'५५

: २ :

हिंदुस्तान में वर्षों से खादी का काम चल रहा है। उसे छत्तीस साल हो गये हैं। पहले से आज तक इस काम से हमारा पूरा परिचय है। इस काम में हमारी जिंदगी के कई वर्ष बीते हैं—कातने में, बुनने में, हर प्रयोग में। ये सब काम हम लोगों ने किये हैं। हमारे बच्चों ने किये हैं और हमारे साथियों ने भी किये हैं। हमारी कोशिश यह रही कि गाँवों में पूरी खादी चले और बाहर से कपड़ा न आये। यह प्रयोग प्रत्येक प्रांत में बीसों गाँवों में हुआ। एक हद तक वह चला और बाद में रुक गया, क्योंकि उस काम के लिए जो बुनियाद चाहिए, वह नहीं थी। अगर देश के लोग इस बात के लिए तैयार हो जाते हैं कि जैसे घर-घर में अनाज पैदा करते हैं, वैसे घर-घर में कपड़ा भी तैयार करें, तभी यह बात हो जायगी।

घर-घर में खादी

आप कहते हैं कि इस गाँव में कुछ परिवार ऐसे हैं, जो खादीधारी नहीं हैं, बाकी बहुत सारे खादीधारी हैं। हमें जो आगे का समाज बनाना है, उसमें एक गाँव का एक पूरा परिवार बनेगा। अभी तक यह काम हम नहीं कर सके थे। हर चीज का एक समय होता है। ईश्वर की योजना भी होती है, लेकिन हमारे प्रयत्न में कभी ढील नहीं रही। आज तक सतत प्रयत्न जारी रहा, लेकिन तीन-चार साल पहले से हम सोच रहे हैं कि जैसे गाँव-गाँव में और घर-घर में खेती

होती है, वैसे खादी गाँव-गाँव में और घर-घर में किस तरह हो। खादी-भंडार में मिलनेवाली खादी से हमारा मतलब नहीं। हमारा मतलब है, अपने गाँव में और अपने घर में बनायी जानेवाली खादी से, जो लोगों में खेती में काम करके बचे हुए समय में बनायी गयी हो। यह सब हो सकता है तब, जब गाँव में स्वराज्य होगा।

सरकार मिलों पर रोक लगाये और लोगों को उत्तेजन दे, तो यह काम हो सकता है। लेकिन, सरकार की पहले हिम्मत नहीं होती थी, क्योंकि वह कहती थी कि लोग इस काम के लिए राजी नहीं हैं, तो यह काम कैसे होगा! जो लोग इसमें विश्वास नहीं करते हैं और सरकार में काम करते हैं, वे इस तरह की दलील देते थे। लेकिन, अब इतने साल के स्वराज्य के अनुभव के बाद देखा गया कि बेकारी की समस्या बढ़ती ही जा रही है, इसलिए सरकार ने समझा कि खादी को उत्तेजन देना होगा। खुशी की बात है कि सरकार इस ओर कदम उठाने जा रही है। यह बहुत बड़ी चीज है। लोग अपने घर में जैसे रोटी बनाते हैं, वैसे अपने घर में खादी बनायें, उसे अपने जीवन का अंग बनायें। यह केवल सरकार की कोशिश से नहीं हो सकता। हर बच्चे का लालन-पालन ठीक होना चाहिए, ऐसा सरकार चाहती है, तो भी माता-पिता के बिना सरकार वह काम नहीं कर सकती। वैसे ही जीवन में एक चीज दाखिल करना, एक निश्चय करना, एक संकल्प करना, यह लोगों का ही काम है। फिर उस संकल्प में सरकार कुछ मदद कर सकती है। करे

तो अच्छा है, और करती भी है। लेकिन मान लीजिये कि सरकार मदद न भी करे, विरोध करे, तो भी लोग जो संकल्प करते हैं, उसकी पूर्ति जनशक्ति से होती ही है।

हमने पहले से आज तक माना है कि लोक-शक्ति को छोड़कर सरकार की ऐसी कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं है। जनता मालिक है, सरकार नौकर है। मालिक से बढ़कर ज्यादा शक्ति नौकर की कैसे होगी? जिन लोगों की यह समझ है कि सरकार की शक्ति बहुत बड़ी है, सरकार ही क्रांतिकारी परिवर्तन कर सकती है, वे लोग मालिक से ज्यादा नौकर को कीमत देते हैं। लेकिन ऐसी चीज नहीं है। आपमें बहुत शक्ति है और वह आपकी आत्मा में पड़ी है।

जनसंख्या का हौवा

समझने की बात है कि हिंदुस्तान की जनसंख्या ज्यादा है, जमीन नाकाफी है, वह बढ़ नहीं सकती है। इसलिए जमीन पर जो काम होगा, उतने से गाँव के लोगों को आश्रय नहीं मिलेगा। दूसरे उद्योग के बिना सहारा नहीं मिलेगा। इस काम में यंत्र-युग कोई मदद नहीं देगा। हाँ, विज्ञान दे सकता है। परंतु विज्ञान एक बात है और यंत्र दूसरी बात है। यंत्र-यग में खेती का काम पहले से बहुत जल्दी हो सकता है, परंतु इस तरह से यंत्र यदि खेती में प्रवेश करेंगे, तो बेकारी की समस्या बढ़ेगी, कम नहीं होगी। इसलिए समझने की जरूरत है कि यंत्र से बेकारी की समस्या हल नहीं होगी।

भगवान् ने हरएक को एक मुँह दिया है, तो साथ-साथ दो हाथ भी दिये हैं, तो भी यह बेकारी की समस्या है। अगर

उसने दो मुँह और एक हाथ दिया होता तो क्या अवस्था होती, यह सोचने लायक बात है। हम हमेशा कहते हैं कि हमारे घर में पाँच मुँह हैं। पर आपके घर में पाँच मुँह हैं, तो दस हाथ भी तो हैं। लेकिन यह बात बड़े-बड़े लोग भी नहीं समझते हैं और कहते हैं कि हिंदुस्तान में जन-संख्या बहुत बढ़ रही है और वह अगर कम नहीं होगी, तो हिंदुस्तान की तरक्की नहीं होगी। इस तरह का विचार पाश्चात्य लोगों ने बहुत फैलाया है। यद्यपि इंग्लैंड में जनसंख्या बहुत है, उससे हिंदुस्तान की जनसंख्या कम है, फिर भी वे लोग समझते हैं कि हिंदुस्तान बहुत दरिद्र देश है और ऐसे दरिद्र देश में जन-संख्या बढ़ना भयानक है। इस तरह हिंदुस्तान की जनसंख्या का एक हौवा बनाया गया है। लोग उसकी चिंता करते हैं, बोलते हैं और चर्चा करते हैं।

अभी हाल की बात है। हमारे साथ हमारी यात्रा में एक अमेरिकन बहन थी। पाँच-सात दिन पहले वह गयी। वह दूसरे देश में किसी कॉलेज की एक प्रोफेसर थी और अमेरिका वापस जा रही थी। हिंदुस्तान में ऐसे लोग आते हैं और आजकल तो फैशन पड़ा है यहाँ आकर भूदान को देखने का। उसने भी पढ़-सुन रखा था। हिंदुस्तान का घोर मसला है जाति-भेद, हिंदुस्तान का घोर मसला है दारिद्र्य, हिंदुस्तान का घोर मसला है, जन-संख्या की वृद्धि। जब बाहर की ऐसी बहनें आती हैं, तो स्वाभाविक ही लड़के-बच्चे उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे होते हैं। उसने हमसे सवाल पूछा कि मैं आपके साथ घूम रही हूँ

तो देखती हूँ कि यहाँ बहुत बच्चे हैं। हिंदुस्तान की जन-संख्या इतनी बढ़ती रही तो कैसे होगा ? हमने सोचा कि यह गलतफहमी उसके मन में रह जायगी और न मालूम अमेरिका में जाकर वह क्या सुनायेगी !

हम जिन-जिन गाँवों में जाते हैं, वहाँ की लिखित जानकारी हमारे पास रहती है। तो दस-पाँच गाँवों की जानकारी हमने उसके सामने रखी। देखने में आया कि हर घर में मुश्किल से एक बच्चा है। अब मेरे सामने यह प्रश्न खड़ा रहता है कि इतने कम बच्चे हैं, तो काम कैसे चलेगा ? यह अभ्यास करने की बात है। अक्सर हर घर में एक पुरुष, और सवा औरत और एक बच्चा या सवा बच्चा रहता है। याने कुल मिलाकर घर में साढ़े तीन संख्या रहती है। अक्सर हिंदुस्तान में हर घर में पाँच जन-संख्या रहती है और इस हिस्से में साढ़े तीन है । इसलिए संतानों की तो कोई समस्या ही नहीं है। जहाँ घर में पाँच जन-संख्या है, वहाँ भी संतानों की समस्या नहीं है और जब तक हर मनुष्य के पीछे एक मुँह और दो हाथ हैं, तब तक जन-संख्या का सवाल ही नहीं उठता।

राष्ट्र के नेताओं को फिक्र होती है कि इतनी जन-संख्या बढ़ रही है, बड़ी भयानक हालत है। सेनापति को खुशी होती है, जब उसकी सेना में संख्या ज्यादा रहती है। वह दुखी नहीं होता, जब वह देखता है कि मेरी सेना में बहुत सिपाही हैं, लेकिन ये कमबख्त दुखी होते हैं और कहते हैं कि हमारे देश की जन-संख्या बढ़ रही है। मैंने बीसों दफा कहा है और आज भी

दुहराता हूँ कि धरती को पाप का भार होता है, धर्म की संतान का नहीं। संतान पाप से भी पैदा होती है और पुण्य से भी पैदा होती है। संतान पाप से भी रोकी जा सकती है और पुण्य से भी रोकी जा सकती है। लेकिन जो काम पाप से किया जाता है, उसका पृथ्वी को भार होता है।

पथ्वी में जो पैदावार होती है, उसके लिए पृथ्वी में पोषण पड़ा है। उसका उसे भार नहीं होता, बशर्ते जो पैदावार होती है, वह पृथ्वी को वापस मिले। मल-मूत्र का ठीक उपयोग होना चाहिए। खाद के रूप में पृथ्वी को वह वापस मिल सकता है। जानवरों की हड्डी वगैरह खेती को अच्छी तरह से मिलनी चाहिए। जंगलों के पत्ते वगैरह ऐसे ही उड़ जाते हैं, उनका भी उपयोग हो सकता है। इस तरह से पृथ्वी को सब चीजें वापस मिल जायँ, तो पृथ्वी माता को मनुष्य-संख्या का भार होनेवाला ही नहीं है, बशर्तें हम सब हाथों से काम करें। जब तक आप अपनी चीजें आप तैयार करने का व्रत नहीं लेते, तब तक कोई भी सरकार आपके लिए कोई भी योजना नहीं कर सकती।

गाँव तभी सुखी होंगे, जब गाँववाले सीता-राम सीता-राम कहेंगे। सीता है खेती और राम है ग्रामोद्योग। खेती मिल-जुलकर सबको करनी चाहिए। खेत सबका होगा। संतान माता की सेवक हो सकती है, मालिक नहीं हो सकती। हम भू-माता की संतान हैं, मालिक नहीं। कुछ लोग कहते है कि मालिक अकेला नहीं हो सकता, लेकिन सब मिलकर मालिक हो सकते हैं। हम कहते हैं जैसे अकेला लड़का माँ का

मालिक नहीं हो सकता, वैसे ही सब लड़के मिलकर भी माँ के मालिक नहीं हो सकते। इस वास्ते जमीन पर मालकियत भगवान् की है। और सेवा का न सिर्फ अधिकार, बल्कि कर्तव्य हम सबका है।

ये लोग हमको सुनाते हैं कि जमीन के टुकड़े नहीं होने चाहिए। जिनको हम पर्याप्त जमीन दे सकते हैं, उनको जमीन देनी चाहिए और बाकी लोगों को दूसरे धंधे देने चाहिए। हमने कहा है कि ग्रामोद्योग राम है और खेती सीता है। दोनों मिलकर भला होता है। ग्रामोद्योगों की अत्यन्त आवश्यकता है। उनके बिना खेती की पूर्ति नहीं हो सकती। ग्राम-जीवन स्वावलम्बी नहीं हो सकता, ग्राम-राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। हम ऐसा बँटवारा नहीं कर सकते कि रामजी रहते हैं अयोध्या में और सीताजी रहें मथुरा में। दोनों साथ रहेंगे। यह नहीं हो सकता कि गाँव में कुछ लोगों को पानी मिले, कुछ लोगों को रोटी मिले और कुछ लोगों को दूध मिले—जिनको पानी मिलता है, उन्हें रोटी नहीं मिलेगी, जिनको रोटी मिलती है, उन्हें पानी नहीं मिलेगा। और ये दोनों जिनको मिलती हैं, उन्हें दूध नहीं मिलेगा। इस तरह तो हो नहीं सकता। हरएक को मिलना चाहिए पानी, हरएक को मिलनी चाहिए रोटी और हरएक को मिलना चाहिए दूध। हम कहना चाहते हैं कि ये तीनों चीजें सबको मिलनी चाहिए। जमीन की काश्त करने का, उसकी सेवा करने का मौका और धर्म-पालन का मौका हरएक को मिलना चाहिए, चाहे उसके हिस्से में पाव एकड़ जमीन आती हो। कितनी

जमीन किसको मिले, यह कोई सवाल नहीं है। हरएक को जमीन मिलती है, तो उसकी सेवा करनी चाहिए।

भूमि-सेवा का अधिकार

अंतिम आदर्श तो यह होना चाहिए कि देश का प्राइम मिनिस्टर तीन या चार घंटा खेती में काम करे और बाकी बचे हुए समय में दूसरा काम करे, जिसका जिम्मा उसने उठाया है। इससे देश का पावित्र्य बढ़ेगा, आरोग्य बढ़ेगा। उच्च-नीचता का भाव मिट जायगा। जमीन को अनेक सेवक मिलेंगे। सबकी बुद्धिमत्ता का लाभ मिलेगा। सबको समान धर्म और संस्कृति का लाभ मिलेगा। यह तो अन्याय होगा कि कुछ लोगों से कहा जाय कि तुम खेती करो और कुछ लोगों से कहा जाय कि तुम दूसरे काम करो। हमने अभ्यास के वास्ते आठ घंटे बुनाई का, आठ घंटे कताई का और आठ घंटे दूसरे भी काम किये हैं। लेकिन आज मुझे कोई आठ घंटा बुनने को मजबूर करे, तो मैं जरूर इनकार करूँगा। मैं कहूँगा कि मैं इसके लिए तैयार नहीं हूँ कि एक कमरे में बन्द होकर, जहाँ हवा नहीं है, हाथ को कुछ खास व्यायाम न मिले और कमर भी टूट जाय। इसके लिए मैं तैयार नहीं हूँ। चार घंटा मुझे आकाश-सेवन का मौका मिलना चाहिए, उत्तम हवा मिलनी चाहिए, सूरज की रोशनी मिलनी चाहिए, जमीन की सेवा करने का मौका मिलना चाहिए। यह मेरा हक है।

मैं यह नहीं मानता कि इससे भूमि की पैदावार घटेगी। घटेगी तो भी मैं तैयार नहीं कि कुछ लोगों को खेती करने को कहा जाय और कुछ लोगों को इससे वंचित रखा जाय। जैसे

भाषण-स्वातंत्र्य का हक माना गया, विचार-स्वातंत्र्य का हक माना गया, वैसे रोटी खाने का हक है। यहाँ तक कि कुछ लोगों न नमक का भी अधिकार मान लिया है। उसी तरह से मनुष्य-मात्र का अधिकार है कि उसे खेती में सुन्दर व्यायाम मिले और भूमि की सेवा करने का मौका मिले। इसमें कोई आर्थिक योजना दखल नहीं दे सकती और ऐसी योजना सोचने को हम तैयार भी नहीं हैं। यह पारमार्थिक अधिकार है। अगर कोई ऐसी योजना पेश करे कि कुछ लोगों को २४ घंटे सोने से और कुछ लोगों को २४ घंटे दूसरे काम में लगने से आर्थिक लाभ होता है, तो क्या कोई ऐसी योजना मंजूर करेगा ?

मैं तो यह कहना चाहता हूँ कि लोग यह कहें कि हम स्टेशन पर रात को काम नहीं करेंगे। ट्रेनें दिन में चलनी चाहिए। यह ठीक है कि कोई बीमार है, कहीं आफत है, तो हम रात में काम करेंगे, लेकिन सारा मानवसमाज इस बात के लिए इनकार कर सकता है कि रात में केवल नौकरी के लिए काम करना पड़े। ट्रेनें अगर दिन में चलेंगी, तो आपकी रेलवे की क्या अवस्था होगी? यही कि जहाँ शाम हुई वहाँ ट्रेनें रुक गयीं ! बड़ी विचित्र बात मैंने आपके सामने रखी। परंतु जो आत्मा की दृष्टि से देखता है, उसका सोचने का ढंग दुनिया से निराला ही होता है। इसलिए हमारा भी एक अर्थशास्त्र है, और वह विशिष्ट प्रकार का है।

इसलिए हमारी ग्राम-रचना में प्रत्येक मनुष्य को खेती करने का अधिकार मिलेगा और बाकी समय में दूसरे काम करने को मिलेंगे। मुझे अगर कोई कहेगा कि तू प्रोफेसर बन, छह घंटा काम कर, तुझे पाँच हजार रुपये तनख्वाह मिलेगी,

परन्तु खेती पर काम करने का मौका नहीं मिलेगा, तो मैं राजी नहीं होऊँगा। मैं कहूँगा, मुझे चार घंटा खेती में काम करना है और बाकी बचे हुए समय में शिक्षक का काम करूँगा। उसके लिए मुझे पैसा नहीं चाहिए। खेती में काम करके जो मिलेगा, उतना ही मैं लूँगा। मुझे आपका वह ढेर पैसा भी नहीं चाहिए और शिक्षक की मजदूरी भी नहीं चाहिए। मेरी यह मान्यता है कि सब लोग अगर खेत में काम किया करेंगे, तो अच्छे प्रोफेसर बनेंगे, अच्छे व्यापारी बनेंगे, अच्छे वकील बनेंगे, सब अच्छे बनेंगे। इस सर्वोदय-दृष्टि से, सर्वोदय के विचार से सारे ग्राम केवल स्वावलम्बी ही नहीं बनेंगे, बल्कि उनका पूरा विकास भी होगा। यानी मानवता का पूरा विकास प्रत्येक गाँव में होगा, फिर भी उनका परस्पर सहयोग होगा। हम पूर्णों का सहयोग चाहते हैं, अपूर्णों का और अक्षम्यों का सहयोग नहीं चाहते। इस वास्ते पूर्ण विकास का मौका ग्रामोद्योग और खेती मिलकर ही हो सकता है।

सबको तालीम

तीसरी बात कहना चाहता हूँ, तालीम की। यह नहीं हो सकेगा कि केवल ब्राह्मण सीखेगा और बाकी सारे उसके ज्ञान पर निर्भर रहेंगे। ज्ञान-भोजन सबको मिलना चाहिए। खेती का काम करने का मौका, बुद्धि और हृदय का विकास करने का मौका। ये तीनों चीजें हर घर में और

हर परिवार में सबको मिलनी चाहिए। यह जब होगा, तब गाँव-गाँव में आनंद होगा। जैसे तुलसीदास ने कहा है— "गाँव-गाँव अस होइ अनन्दा।" लेकिन यह सब तब होगा जब आप उसको अच्छी तरह से समझेंगे और एक होकर संकल्प करेंगे। इस वास्ते एक परिवार बन जाओ। भूमि सबकी बना दो, जितने बच्चे हैं, वे सब गाँव के हैं, अलग-अलग घर के नहीं हैं, ऐसा मानो। और सबकी तालीम की अच्छी योजना बनानी है, ऐसा समझो। हमारी आवश्यकता की चीजें हम ही अपने हाथों से बनायेंगे, बाहर से नहीं लायेंगे, गाँव में ही कच्चे माल का पक्का बनायेंगे।

वस्त्र-स्वावलंबन का संकल्प

ये जो सब आवश्यकता की चीजें हैं, उन सबमें मेरुमणि है, कपड़ा। अन्न की पहली आवश्यकता है और कपड़े की दूसरी, ऐसा दुनिया में बोला जाता है। लेकिन मानव-संस्कृति का विकास इस तरह हुआ है कि कपड़े की आवश्यकता नंबर एक है और खाने के अन्न की नंबर दो है, ऐसा कहने का मौका आता है। चार दिन मैं भूखा रह सकता हूँ, लेकिन आपके सामने मैं आध घंटा नंगा नहीं रह सकता और न बैठ सकता हूँ। इस वास्ते आपके ध्यान में आयेगा कि सांस्कृतिक आवश्यकता कपड़े की है। ठंढ से रक्षा करने के लिए, धूप से बचने के लिए कपड़े की भौतिक आवश्यकता होती तो उसका स्थान द्वितीय होता और अन्न का स्थान

पहला होता। लेकिन यहाँ तक कि लाश को भी कपड़े की आवश्यकता रहती है। मरने के बाद खाने की आवश्यकता की कल्पना क्या आप कर सकते हैं? इस तरह संस्कृति के खयाल से कपड़ा ऊँचे दर्जे में बैठ गया है। उस बारे में जो गाँव पराधीन होगा, वह सपने में भी सुखी नहीं होगा।

इस वास्ते आपको संकल्प करना होगा कि चाहे दुनिया भर में मिलें चलती हों, गाँव में कपड़ा सस्ता आता हो, वह कपड़ा आपको मुफ्त में भी मिले, जो बाहर का कपड़ा लेगा उसे चाहे दो आना इनाम भी मिले, तो भी हम अपने गाँव का अपने हाथों से बना हुआ कपड़ा ही पहनेंगे। स्वावलंबी बनेंगे, तभी विकास होगा। इस वास्ते हम भगवान् के सामने प्रतिज्ञा करते हैं कि हम इस मामले में पराधीन नहीं रहेंगे। ऐसी प्रतिज्ञा आप करिये, यह हमारा आपसे निवेदन है।

गाँव-गाँव और घर-घर में स्वराज्य

जहाँ सर्वोदय का काम पचासों गाँवों में होगा, वहाँ भी हम यह बात रखना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि गाँव-गाँव में यह काम चले। वहाँ लक्ष्मी भी बढ़े और गाँव सुखी हों, पर साथ-साथ स्वाधीन भी हों। आज यह बोला जाता है कि हमारा देश स्वतंत्र हुआ है। एक बड़ा भारी बोझ था, जो दूर हो गया है। बड़ी बात हुई है, इसमें सन्देह नहीं। पर इतने से हम आजाद हुए, ऐसा नहीं है। आजादी तो आत्मा की होती है, मानसिक होती है। आज भी हम हर बात में सरकार का

मुँह ताकते रहते हैं। जब पराधीन थे, तब प्रिवी कौंसिल जाते थे, आज दिल्ली जाते हैं। लेकिन स्वराज्य तो तब होगा, जब पहला कोर्ट ग्राम होगा और आखिरी कोर्ट परमेश्वर होगा। गाँव में आप झगड़ा कर सकते हैं और गाँव में झगड़ा मिटा नहीं सकते क्या? हमारा झगड़ा मिटाने के लिए हम ऐसे लोगों के पास क्यों जायँ जो झगड़ालू के नाम से दुनिया में प्रसिद्ध हैं। बेकारी के कारण चोरी होती है। चोर को कोर्ट में सजा दी जाती है, न्याय तौला जाता है। कौन तौलते हैं न्याय? जो इनसे सवाये बेकार हैं। वे कोई उत्पादन का काम नहीं करते हैं। ढेर तनख्वाह लेते हैं, जिनका दुनिया पर बोझ है। वे जेलर, न्यायाधीश, वकील सब बेकार हैं। अगर हम झगड़ा न करें, तो उनको कोई काम ही नहीं रहेगा। हम अपना झगड़ा उनके पास ले जायेंगे, तो बेकारों की संख्या ही बढ़ेगी। हमें वहाँ जाकर न्याय मिलता है, यह भी एक भ्रम है।

हम गाँव में झगड़ेंगे, पर झगड़ा बाहर नहीं ले जायेंगे, इसका नाम है, ग्रामराज्य। लेकिन गाँव में कोई झगड़ा नहीं होगा, इसका नाम है, राम-राज्य। अपना झगड़ा शहर में ले जाना गुलामी है। अब इतना ही हुआ है कि लंदन के बदले दिल्ली जाना पड़ता है। लेकिन बहुत फर्क नहीं हुआ है। एक प्यासे से अगर कहा जाय कि पाँच मील पर पानी था, वह एक मील पर आया है, बेटा, शान्ति रख। तो प्यासा कहता है, 'इससे मेरा संतोष नहीं होता। पानी अगर पाँच

अंगुली पर हो तो भी मुझे संतोष नहीं होगा। मुझे संतोष तो तब होगा, जब पानी कंठ में आयेगा।' तो यह स्वराज्य आया है दिल्ली में, कटक में, शायद रायगढ़ा में भी आ गया हो, लेकिन हम गाँव-गाँव में और घर-घर में स्वराज्य लाना चाहते हैं और वह खादी और ग्रामोद्योग के बिना नहीं हो सकेगा, जमीन के बँटवारे के बिना और ग्रामदान के बिना नहीं होगा, अपने झगड़े अपने गाँव में मिटाये बिना नहीं होगा।

कुजेन्द्री (कोरापुट)
उड़ीसा
२५-६-'५५

मुद्रक--पं० पृथ्वीनाथ भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, बनारस।

मानवीय क्रान्ति

[समाज के नव-निर्माण के लिए बुनियादी विचारों की व्याख्या

दादा धर्माधिकारी

•

अखिल भारत-सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

भूमिका

●

दादा धर्माधिकारी के भूदान-यज्ञ और सम्पत्ति-दान-यज्ञ विषयक लेखों का पुस्तकाकार संग्रह प्रकाशित किया जा रहा है, यह खुशी की बात है। उनके सारे लेख मैं पढ़ नहीं सका हूँ। 'सर्वोदय' में आते थे, तो सरसरी तौर पर मैं देख जाता था। लेकिन जीवन-विषयक बहुत से प्रश्नों पर उनका और मेरा दृष्टिकोण मिलता-जुलता रहा है। विचार-प्रदर्शन का उनका अपना एक ढंग है, जो कुछ लोगों को ग्रहण नहीं होता, जिससे कुछ लोगों को 'शॉक' भी लगता है। लेकिन आधुनिकतम परिभाषा का वे प्रयोग करते हैं, इसलिए शिक्षितों में, खास कर विद्यार्थियों में, उनके शब्द विचार-परिवर्तक साबित होते हैं।

मुझे आशा है, भूदान-यज्ञ के साहित्य में, इस पुस्तक से एक कमी की पूर्ति होगी।

पड़ाव : लक्ष्मीसराय
२७-१०-'५३

—विनोबा

विषय-सूची

मानवीय क्रान्ति

: १ :

गांधी-प्रक्रिया का परिणत स्वरूप

पू० किशोरलाल भाई मशरूवाला ने विनोबा के भूदान-यज्ञ के प्रयोग को 'गांधी-प्रक्रिया का परिणत स्वरूप' कहा था। लेकिन कुछ प्रगतिवादी समाचार-पत्रों ने विनोबा के इस उपक्रम की कड़ी आलोचना की। उनका यह आक्षेप है कि इस प्रकार के आन्दोलन से अराज्यवाद की प्रवृत्ति जोर पकड़ेगी और देश में विधि-युक्त सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं रहेगी।

जनता का अनुमोदनरूपी आधार

इस आलोचना में एक गम्भीर तर्क-दोष है। हरएक राज्य के विधान के पीछे जनता के अनुमोदन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार का अनुमोदन यदि हो तो कानून का अमल करने के लिए दंड की शरण नहीं लेनी पड़ती। इसलिए शासन को जनता का स्वयंप्रेरित समर्थन और सहयोग प्राप्त करा देना हरएक लोक-निष्ठ कार्यकर्ता का परम कर्तव्य है। जनता का स्वयंप्रेरित प्रयत्न प्रशासन को शक्ति देता है और उसकी नींव को दृढ़ करता है। विनोबा का उपक्रम इसी प्रकार का है।

मानवोचित क्रांति

सारे देश में सामन्तशाही और सरमायादारी का धीरे-धीरे अन्त करने के लिए धारा-सभाओं में कानून पेश किये गये। उनका घोर विरोध हुआ, उनके रास्ते में अड़ंगे डाले गये और अदालत में उनकी वैधानिकता का प्रश्न उपस्थित किया गया। इस विरोध-वृत्ति का निराकरण विनोबा अपने

ढंग से करना चाहते हैं। वे सम्पत्तिमानों को यह समझाना चाहते हैं कि सम्पत्ति के संविभाजन में यदि सम्पत्तिमान् सहयोग देंगे तो मानवता की बलि दिये बिना ही क्रान्ति होगी। सशस्त्र और हिंसक क्रान्ति या सम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण करने से दोनों पक्षों में कटुता पैदा होती है। संविभाग तो होगा, लेकिन अन्तःकरण में गहरे घाव रह जायेंगे। इसमें भयानक सांस्कृतिक हानि होगी। इस अनर्थ से मानवता को बचाने का संकल्प विनोबा ने किया है। हो सकता है कि उनकी शक्ति परिमित साबित हो। लेकिन साक्षात् भगवान् बोल चुके हैं कि 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

छोटे-बड़े भूपतियों की शृंखला

सार्वभौम भूपति सम्राट् कहलाता था, एक राष्ट्र का भूपति राजा कहलाता था और फुटकर भूपति जमींदार तथा सामन्त कहलाते थे। इस प्रकार एक तरफ छोटे-बड़े भूपतियों की परम्परा थी और दूसरी तरफ जमीन जोतनेवाले छोटे-बड़े भू-दासों की श्रेणी थी। आज जो भू-दास हैं, या जो अपने परिश्रम से जमीन जोतते हैं, वे भी भूपति बनना चाहते हैं। पहले छोटे-बड़े भूपति थे, अब सभी समान आकार के भूपति बनना चाहते हैं। किन्तु बनना चाहते हैं भूपति ही।

भावी समाज भूपतियों का नहीं, निर्माताओं का

विनोबा समाज में यह संकल्प जाग्रत करना चाहते हैं कि भविष्य में समाज भूपतियों का नहीं, भू-माता के पुत्रों का होगा। मालिकों का नहीं, उत्पादकों का होगा। सृष्टि का धन-धान्य खा-खाकर खत्म करनेवालों का नहीं, सृष्टि की समृद्धि और उत्पादन-शक्ति बढ़ानेवालों का होगा।

शास्त्रपूत अनुभवसिद्ध प्रयोग

इसके लिए दो तरह की भावनाओं का विकास करना होगा। सम्पत्तिधारियों में आत्म-विसर्जन की भावना पैदा करनी होगी और छोटे-छोटे भूस्वामी किसानों में 'ट्रस्टीशिप' की भावना का विकास करना होगा।

अहिंसक क्रान्ति की यही विधि है। विनोबा उसके विज्ञाता और अनुष्ठाता हैं। उनका प्रयोग शास्त्रपूत और अनुभवसिद्ध है। वह अवश्य कल्याणकारी सिद्ध होगा। इस देश के सभी आर्थिक स्वतन्त्रतावादी व्यक्तियों को इस महान् उपक्रम में उत्साह और लगन के साथ सहयोग देना चाहिए।

सोने का नहीं, मिट्टी का निरख

विनोबा के प्रयोग की एक अपूर्व विशेषता यह है कि वे सोने की जगह मिट्टी का निरख बढ़ाना चाहते हैं, इसलिए वे किसीसे पैसा नहीं लेते। सिर्फ मिट्टी माँगते हैं। धरती माता के वे अनन्य उपासक हैं।

मिट्टी में सृष्टि का वैभव

श्रीकृष्ण ने जब मिट्टी फाँकी तो यशोदा ने उन्हें डाँटा। "मैंने मिट्टी नहीं खायी", यह दिखाने के लिए श्रीकृष्ण ने अपना मुँह बाकर दिखाया तो यशोदा ने उस छोटे-से मुखारविन्द में विश्वरूप का सारा वैभव देखा। "क्वचिन् मृत्स्नाशित्वम्, क्वचिदपि च वैकुंठविभवः।" विनोबा के इस साधारण-से प्रयोग में ऐसा ही इंगित सन्निहित है।

संसार में भूपति भूमि का संग्रह करते हैं, नृपति जन-संग्रह करते हैं और धनपति धन-संग्रह करते हैं। किन्तु मानवीय क्रान्ति का यह आधुनिक अग्रदूत केवल स्नेह-संग्रह करके धरती का बोझ हल्का कर रहा है।

●

: २ :

भूदान-यज्ञ का बीजगणित

भूदान-यज्ञ-आन्दोलन का विचार आर्थिक संयोजन की दृष्टि से कई धुरंधर अर्थशास्त्रियों ने और राज्य-नेताओं ने भी किया है। आर्थिक दृष्टि से हिसाब करना आवश्यक और उपयुक्त भी है। विनोबा के दो सूत्र प्रसिद्ध हैं : वे कहा करते हैं कि परमात्मा के बाद मेरा विश्वास गणित में है। वे यह भी कहा करते हैं कि परमार्थ उत्कृष्ट हिसाब का नाम है। अर्थात् विनोबा गणित की दृष्टि से और हिसाब की दृष्टि से भी अपनी सारी योजनाओं का बड़ी सावधानी से विचार कर लेते हैं। लेकिन उनके इस भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में अंकगणित की अपेक्षा बीजगणित की प्रक्रिया अधिक है। अंकगणित का सारा दारोमदार आँकड़ों और रकमों पर होता है। बीजगणित में आँकड़ों की जगह 'संकेत' (सिंबल्स) होते हैं। भूदान-यज्ञ में 'दान' और 'यज्ञ' ये दोनों शब्द सांकेतिक हैं।

'दान' शब्द का सांकेतिक अर्थ

'दान' शब्द संपत्ति के समान वितरण का संकेत है। जिसने संग्रह कर लिया हो, वह उस संग्रह के विभाजन के लिए दान करे। जब तक सम्पत्ति का समान वितरण न हो, या न्यायोचित वितरण न हो, तब तक उसका दान परिपूर्ण नहीं होगा।

समान वितरण और न्यायोचित वितरण

हमने समान वितरण और न्यायोचित वितरण में भेद किया है, क्योंकि मनुष्यों की तथा कुटुम्बों की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। आवश्यकतानुरूप वितरण को हम न्यायोचित वितरण कहेंगे। अंकगणित के हिसाब से वितरण जेलखानों में होता है। हरएक कैदी को छः-छः रोटियाँ मिलती हैं। जो पाँच खाये उसकी भी पेशी होती है और जो सातवीं माँगे,

उसकी भी पेशी होती है। साधारण गुणाकार या मोटा हिसाब सुविधा-जनक भले ही हो, परन्तु वह हमेशा न्यायोचित नहीं होता। हम संग्रह का विभाजन इसीलिए तो चाहते हैं न, कि संग्रह अन्याययुक्त है ? हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हम विषमता का निराकरण करना चाहते हैं, न कि विविधता का या विशिष्टता का।

दान-वृत्ति की अपार महिमा

मतलब यह कि दान में सम्पत्ति के संविभाग (सम्यक् विभाजन) का संकेत है। जो सम्पत्तिमान् हैं, उन्हें संग्रह के प्रायश्चित्त के रूप में दान करना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे तो उनकी सम्पत्ति का परिहरण (ऐक्स्प्रोप्रिएशन) नहीं करना पड़ेगा। सम्पत्ति को मर्यादित करनेवाले जो कानून बनेंगे, उनके साथ वे भी सहमत रहेंगे। दान में प्रतिमूल्य की या मुआवजे की भावना के लिए गुंजाइश ही नहीं। जो दान देता है, वह दान की वस्तु के साथ-साथ दान की पूर्ति के लिए ऊपर से और दक्षिणा भी दे देता है। जो पुराणमतवादी लोग ब्राह्मण को दान में गाय, मकान या अन्य कोई वस्तु देते हैं, वे उस दान की परिपूर्ति के लिए दक्षिणा भी देते हैं। दान में ममत्व के त्याग के साथ-साथ प्रायश्चित्त की भी भावना है। संग्रहशील व्यक्ति यदि अपनी मर्जी से सम्पत्ति के समविभाजन का आरम्भ कर देते हैं तो उनकी सम्पत्ति के साथ-साथ उनकी प्रतिष्ठा और हिम्मत भी नहीं जायगी। अमीरी को नष्ट करके अमीरों की इज्जत और हिम्मत बचा लेने का यह अनोखा तरीका है। यह अमीरों और गरीबों की इंसानियत बढ़ाता है।

यज्ञ में आत्मोत्सर्ग है

'यज्ञ' शब्द में स्वामित्व के त्याग का संकेत है। हम समाज में बड़ी मालकियत की जगह छोटी मालकियत कायम करना नहीं चाहते। मालकियत की वृत्ति और आकांक्षा का ही अन्त कर देना चाहते हैं। इसलिए विनोबा केवल बड़े-बड़े जमींदारों से ही जमीन नहीं माँगते, वे

एक एकड़ और आध एकड़वाले छोटे-छोटे किसानों से भी भूदान ले लेते हैं। कोई आध एकड़वाला किसान अपनी कुल जमीन दे दे तो उसे भी ले लेते हैं। क्योंकि गरीब का दान यज्ञरूप होता है। हजार एकड़वाला अगर नौ सौ एकड़ भी दे दे, तो भी वह आपको अपना पेट काटकर नहीं देता। अपनी जीविका का उत्सर्ग नहीं करता, वह केवल अपने वैभव का अधिकांश आपको दे देता है। लेकिन अगर पाँच एकड़वाला ढाई एकड़ दे देता है, तो वह अपना आधा राज ही नहीं, आधा पेट, आपको दे देता है। इसलिए उसका दान यज्ञरूप है। वह अपनी माल-कियत की भावना की ही आहुति दे देता है।

भूमाता की पुकार

हम जिस समाज की स्थापना करना चाहते हैं वह समाज मालिकों का नहीं, उत्पादकों का होगा। अब इस वसुधा पर कोई भूपति या नरपति नहीं होगा, सभी मानव भूमि-पुत्र होंगे। यह भूमि मालिकों से और पतियों से तंग आ गयी है। गाय का रूप धारण करके मानो वह भगवान् से कह रही है कि मुझे अब इस पाप का भार हो रहा है। मेरे सभी पुत्र मेरे स्वामी बनना चाहते हैं। भगवान् ने उसे आश्वासन दे दिया है कि जिस प्रकार अब राज्य-सत्ता किसी राजा की या राजवंश की नहीं रह गयी है, उसी प्रकार अब यह धरती भी किसी मालिक की नहीं रहेगी। धरती से जो हूक निकली, वही भगवान् का संकेत बनकर अब आकाश में गूँजने लगी है।

मालकियत का निराकरण

सेंट सायमन के शब्द थे, "भविष्य का संसार स्वामियों (प्रोप्राइटर्स) का नहीं, उत्पादकों (प्रोड्यूसर्स) का होगा।" गांधी ने कहा था, "सभी सम्पत्तिधारी अपने आपको सम्पत्ति के न्यास-रक्षक (ट्रस्टी) मानेंगे। जो बड़े सम्पत्तिधारी होंगे, वे अपनी सम्पत्ति का विसर्जन करेंगे और जिनके पास थोड़ी-सी ही सम्पत्ति होगी, वे भी अपने आपको उसके मालिक नहीं समझेंगे।"

यज्ञ की व्यापकता

किसीने विनोबा से कहा कि "मुट्ठी-भर बड़े-बड़े मालिकों की जगह दुनिया में छोटे-छोटे मालिकों का जाल आप फैला देंगे, तो आगे चलकर सहयोग के तत्त्व की स्थापना करना मुश्किल हो जायगा। ये सारे छोटे-छोटे मालिक अपनी मालकियत की रक्षा के लिए लड़ने खड़े हो जायँगे।" इसलिए विनोबा ने अपने भूदान-आन्दोलन में 'यज्ञ' का भी समावेश कर लिया है। यज्ञ में छोटे-बड़े सभी अपनी-अपनी इच्छा और शक्ति के अनुरूप हविर्भाग लाते हैं।

नमक-सत्याग्रह का दृष्टान्त

सांकेतिक आन्दोलन में पुण्य-भावना का महत्त्व बहुत अधिक होता है। पुण्य-भावना सारे वायु-मण्डल को सुरभित कर देती है। गांधीजी ने चुटकी भर नमक बनाया। उससे यहाँ के कोई समुद्र तो नहीं सूख गये और न लवणागार ही खाली हुए। परन्तु उस छोटे-से संकेत ने सारे वायुमण्डल को अभिमंत्रित कर दिया। विनोबा का यह आन्दोलन विधायक संविभाग की भावना से सारे वातावरण को सुगंधित कर देगा।

बिना नैवेद्य के प्रसाद कहाँ?

एक बात और। जब से राजसत्ता का अन्त हुआ और जनतन्त्र कायम हुआ तब से सत्ता और अधिकार के हिस्से के लिए सभी अपना-अपना हाथ पसारते हैं। उसी तरह सम्पत्ति के वितरण के लिए भी हरएक अपना-अपना छोटा-बड़ा पात्र लेकर लक्ष्मी माता के मन्दिर में पहुँच गया है। माता कहती है, "कोई चढ़ौत्री और नैवेद्य लायगा, तभी तो प्रसाद बँटेगा।" लक्ष्मी के सभी छोटे-बड़े भक्त अपनी-अपनी चढ़ौत्रियाँ लेकर उसके चरणों में चढ़ायेंगे तभी उसका भंडार भरेगा। सम्पत्ति के राष्ट्रीय-करण की यह मानवोचित प्रक्रिया विनोबा के भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में समाविष्ट है। इसलिए हम कहते हैं कि वह क्रान्ति का अंकगणित भले ही न हो, लेकिन उसका बीजगणित अवश्य है।

: ३ :

दान-प्रक्रिया से क्रान्ति

इस यज्ञ के संबंध में कुछ मूलभूत भ्रम हैं, जिनके कारण कई अनावश्यक आक्षेप कार्यकर्ताओं के भी मन में उठते हैं। 'दान' शब्द के बारे में आम तौर पर जो आक्षेप किये जाते हैं, उनका समाधान करने की कोशिश स्वयं विनोबा ने और प्रस्तुत लेखक ने की है। फिर भी कई प्रामाणिक कार्यकर्ताओं के मन में कहीं कुछ अटका रह जाता है। इसका कारण यह है कि 'दान' शब्द के अर्थ की और उसके प्रयोग की व्याप्ति कार्यकर्ताओं की समझ में अच्छी तरह नहीं आयी है।

श्रमिक क्रान्ति

यह खयाल गलत है कि भूदान-यज्ञ में दान सिर्फ अमीरों को ही देना है। विनोबा गरीबों से भी दान माँगते हैं और धन्यतापूर्वक ले लेते हैं। वे कहते हैं कि गरीबों की क्रान्ति-सेना का निर्माण और संगठन दूसरी किसी पद्धति से नहीं हो सकता। हम गरीब आदमी की हुकूमत के साथ-साथ उसकी मालकियत भी कायम करना चाहते हैं। यही आर्थिक क्रांति की प्रक्रिया है। गरीब आदमी की मालकियत का अर्थ है उत्पादक की मालकियत। जो उत्पादक है आज उसके पास उत्पादन के औजारों के सिवा दूसरे कोई औजार नहीं हैं। इसलिए गरीब आदमी की क्रांति हथियारों के द्वारा नहीं हो सकती। गरीब गरीब है, इतना कह देने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि पैसे की ताकत उसके पास नहीं है। तब सवाल यह होता है कि बगैर पैसे के और बगैर हथियारों के गरीबों की फौज किस तरह बने?

गरीब का अपरिग्रह

भूदान-यज्ञ-आंदोलन के प्रणेता ने यह योजना की है कि गरीब आदमी अपरिग्रह के प्रयोग का आरम्भ करे। उसका परिग्रह, याने उसकी संपत्ति, इतनी थोड़ी है कि एक तरह से उसको संपत्ति कहना भी मजाक है। परन्तु उस नगण्य मालकियत से भी वह चिपका रहना चाहता है। उसे यह डर है कि इस छोटी-सी मालकियत को मैं छोड़ दूँगा तो कहीं का नहीं रहूँगा। छोटी मालकियत का नाम गरीबी है। अगर गरीब आदमी इस छोटी-सी मालकियत का विसर्जन सामुदायिक मालकियत में कर देता है, तो वह खोता कुछ नहीं और पाता सब कुछ है। इसलिए गरीब आदमी के दान के लिए 'यज्ञ' संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

गरीबों की सेना

गरीब जब अपनी अल्प संपत्ति में से भी सार्वजनिक संपत्ति के यज्ञ में आहुति दे देता है तो वह एक गरीब और दूसरे गरीब के बीच स्नेह-बंधन का निर्माण करता है। त्याग और बलिदान के डोरे से बँधे हुए ये गरीब एक अजेय सेना का निर्माण करेंगे।

विषमता का निराकरण क्यों?

आखिर हम अमीर और गरीब के फर्क को क्यों मिटा देना चाहते हैं? इसीलिए न कि अमीरी और गरीबी आदमी को आदमी से अलग कर देती है? जो तजवीज जुदाई पैदा करती है वह नापाक है। व्यवस्था ऐसी चाहिए, जो आदमी को आदमी के साथ मिलाये। सबके-सब गरीब अमीरों के द्वेष की भूमिका पर अगर इकट्ठे होते हैं, तो उनमें परस्पर स्नेह का भाव-रूप बंधन नहीं होता। अमीरों की संपत्ति छीन लेने के बाद सारे उत्पादकों को कृत्रिम बंधनों से बाँधकर रखना पड़ेगा। यह डर हमेशा रहेगा कि ये कृत्रिम बंधन कहीं ढीले न पड़ जायँ। इसलिए उन बंधनों को ज्यादा सख्त और मजबूत बनाने की ही चेष्टा निरन्तर होती रहेगी। इन बंधनों के विलीन हो जाने की कोई संभावना निकट या दूरवर्ती भविष्य में नहीं दिखाई देगी।

क्रांति का आधार

इसलिए क्रान्ति की प्रक्रिया भी ऐसी चाहिए, जिसका आधार भाव-रूप एकता हो। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में यह विशेषता है। गरीब अपनी-अपनी अल्प सम्पत्ति समर्पित करके एक-दूसरे के साथ स्नेह-बंधन से बँध जाते हैं। गरीबों का इस प्रकार का भाईचारा कायम हो जाने के बाद मुट्ठी भर अमीर अलग नहीं रह सकते। अमीरी की यह शर्त है कि बहुत-से गरीबों का परिश्रम खरीदने का अवसर हमेशा बना रहे। जहाँ यह अवसर खत्म हुआ, अमीरी की नींव ही ढह जाती है।

सत्ता का नशा

अब एक इतना ही अंतिम आक्षेप रह जाता है कि मनुष्य-समाज का इतना भरोसा करना अव्यावहारिक है। इस आक्षेप के जवाब में बहुत अदब के साथ एक परिप्रश्न किया जा सकता है। अगर संपत्ति मनुष्य की वृत्ति को बिगाड़कर उसमें जहर पैदा कर देती है, तो क्या सत्ता का हलाहल संपत्ति के गरल से कम भयानक होता है? गरीबों को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए जो मुट्ठी भर आदमी अपने हाथों में शस्त्र-प्रयोग से सत्ता लेंगे, वे क्या फरिश्ते और देवता होंगे? क्या उनमें सत्ता का उन्माद पैदा नहीं होगा?

मनुष्य पर भरोसा

मतलब यह कि मनुष्य की शुभ प्रवृत्ति पर कहीं-न-कहीं जाकर विश्वास रखना ही पड़ता है। मनुष्य में अविश्वास के आधार पर मानवता के उत्कर्ष की पोषक कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। जो लोग साधनशुद्धि का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करते हैं उनकी बात में तर्कसंगति तो है ही, परन्तु उससे कहीं अधिक वास्तविकता है। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में एक दानी और दूसरा भिखारी ऐसी कल्पना नहीं है। यह दान उत्सर्ग और समर्पण की प्रक्रिया का आरम्भ है। जो अमीर दान देता है वह भी क्रान्ति की सेना में दर्ज हो जाता है। जो गरीब उत्सर्ग करता है, वह तो क्रान्ति की वर्दी पहनकर उसका अग्रदूत ही बन जाता है।

क्रांति की सेना

रामराज्य की फौज जितनी अनोखी थी उतनी ही विक्रमशाली थी। विनोबा के 'ग्रामराज्य' की यह सेना भी अपने ढंग की अनूठी और पराक्रमी होगी।

'दान' शब्द में बहुत-से क्रान्तिवादियों को भी कृपा, उपकार और कृतज्ञता की बू आती है। उनका कहना है कि दान की विधि में जो प्रतिग्रह करनेवाला होता है, वह कृतज्ञता के बोझ से दब जाता है और देनेवाला अपने आपको परोपकारी तथा दानवीर समझने लगता है। इसलिए 'दान' का यह मार्ग गरीब आदमी की प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचानेवाला है और 'अमीर' का गर्व बढ़ानेवाला है।

परंपरागत 'दान'-विचार

परंपरागत 'दान' की कल्पना में और विनोबा की दान की कल्पना में मूलभूत तथा वास्तविक भेद है। परम्परागत दान में भी संग्रह के प्रायश्चित्त की कल्पना तो थी ही। 'परिग्रह चोरी है और दान उसका प्रायश्चित्त है'। यह भावना तो परंपरागत दान के मूल में भी रही है। 'दान' और 'भिक्षा' में हमेशा ही जमीन-आसमान का फर्क रहा है। भिक्षा के सिद्धान्त की मीमांसा करना यहाँ अप्रस्तुत होगा, फिर भी इतना कह देना चाहिए कि संन्यासी के लिए विहित भिक्षा-चर्या दान के प्रतिग्रह से भी अधिक उदात्त तथा उन्नतिकारक मानी जाती थी। हम आजकल जिसे 'भीख' कहते हैं और जो मुँहताज, लाचार तथा अलील भिखारियों को दी जाती है, वह दान में कभी शुमार नहीं की जाती थी। इस्लाम में भी 'जकात' और 'खैरात' कभी समकक्ष नहीं मानी गयीं। आजकल भी समाज में भीख तथा दान में और जकात तथा खैरात में लोग फर्क करते हैं।

दान ने दब्बू नहीं बनाया

जिन लोगों का यह खयाल है कि दान लेनेवाला कृतज्ञता के बोझ के नीचे दब जाता है, उन्होंने समाज में दान के परिणामों का गहराई और

बारीकी के साथ अध्ययन करने की परवाह नहीं की है। हिन्दू समाज में ब्राह्मण को दान दिया जाता था। हम यह जानते हैं कि दान लेने से ब्राह्मण जाति दब्बू नहीं बनी। वह दान ले लेती थी, उसकी परिपूर्ति के लिए दक्षिणा भी ले लेती थी और यजमान की जरा-सी गलती पर क्रोध करके शाप देने के लिए भी उद्यत हो जाती थी। दान देनेवाला नम्र होकर दान देता था, संकोच के साथ दान देता था और शोभा तथा शुभ भावना के साथ दान देता था। उसे संकोच यह होता था कि जो-कुछ मैं दे रहा हूँ, वह बहुत कम है और उसका मूल्य भी बहुत अल्प है। इसलिए वह डरते-डरते दान देता था। छान्दोग्योपनिषद् में "श्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्," ऐसा आदेश है। जो कुछ देना है, उसमें व्यवहार की सुन्दरता (ग्रेस), अपने दान की अल्पता का भान और लेनेवाले की प्रतिष्ठा का खयाल अवश्य होना चाहिए। दान में 'श्री' वह भावना है, जिसे हम अंग्रेजी में 'ग्रेस' कहते हैं। दाता के लिए इतनी कड़ी मर्यादाएँ थीं और लेनेवाले के लिए भी कुछ मर्यादाएँ बतलाई गयी थीं। फिर भी हमने देखा कि ब्राह्मण दब्बू बनने के बदले घमंडी, उद्दंड और आत्म-संभावित बन गया। उसका पतन हुआ। उसने उपयोगी वस्तुओं का तथा द्रव्य का दान लिया, इसलिए वह परोपजीवी बन गया। जहाँ उसने जमीन का दान लिया, वहाँ प्रत्यक्ष उत्पादन का काम स्वयं नहीं किया। इन दोषों के कारण धीरे-धीरे समाज में से उसकी प्रतिष्ठा नष्ट होती चली गयी जो सर्वथा उचित ही हुआ।

विनोबा का 'दान'-विचार

परन्तु विनोबा के इस दान में न अन्न-दान का समावेश है और न वस्तु-दान का; किन्तु उत्पादन के साधन और उत्पादन के उपकरणों का दान है। यदि हम थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि प्राचीन दान के सिद्धान्त के मूल में जितनी भावनाएँ थीं, वे सब इस दान के पीछे भी हैं, तो भी उस दान में और इस दान में उत्तर-दक्षिण ध्रुव का अन्तर

पड़ जाता है। क्योंकि यह दान उत्पादन के साधनों का है, उपयोग की वस्तुओं का नहीं। इसमें परंपरागत दान के सभी गुण तो हैं, लेकिन उसका दोष एक भी नहीं है।

क्रांति की दिशा में

परम्परागत दान में और इस दान में और भी एक मूलगामी अंतर है। परम्परागत दान व्यक्तिगत पुण्य-प्राप्ति के लिए और ऐश्वर्य तथा वैभव की आकांक्षा से किया जाता था। इस लोक में हम जो दान ब्राह्मण को या दूसरे सत्पात्र व्यक्ति को देते हैं, उसके बदले हमें स्वर्ग-लोक में या दूसरे जन्म में प्रभूत सम्पत्ति का लाभ होगा, ऐसी श्रद्धा से वह दान दिया जाता था। इस लोक में एक गाय का दान कर दिया तो स्वर्ग-लोक में साक्षात् कामधेनु के अक्षय पुष्टि-दायी दूध का लाभ हमें होता था। यहाँ थोड़ी-सी जमीन का दान कर दिया तो अगले जन्म में सारी पृथ्वी का राज्य प्राप्त होने की आशा रहती थी। परन्तु विनोबा की दान-प्रक्रिया अधिक सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए नहीं है, वरन् प्राप्त सम्पत्ति के शीघ्रातिशीघ्र विसर्जन के लिए है। इसलिए विनोबा की दान-प्रक्रिया आर्थिक क्रांति के मार्ग पर बहुत बड़ा कदम है।

एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि "हम जिस वस्तु का दान लेते हैं, उस वस्तु पर दाता का स्वामित्व स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि आज जिससे हम दान लेते हैं, वह उस वस्तु का स्वामी नहीं बल्कि अपहर्ता है। अपहर्ता का स्वामित्व हम क्यों मंजूर करें?"

क्रांति का मूल तत्त्व

इस आक्षेप के पीछे जो गृहीत कृत्य है, उसको हम मान लेते हैं। तो भी सवाल यह होता है कि अगर कोई हमारी वस्तु अपनी मर्जी से लौटा दे तो क्या उतने से ही वह उस वस्तु का मालिक बन जाता है? मान लीजिए कि किसीने हमारी कोई चीज छीन ली। हम उसे समझा-बुझाकर अपनी चीज उससे वापस लेने की कोशिश करते हैं। उसे डराते-

धमकाते नहीं, परन्तु ऐसी हरकत के दुष्परिणामों का वास्तविक चित्र उसके सामने खींच देते हैं और उससे झगड़ा टालने का स्नेहपूर्वक अनुरोध करते हैं। वह मान जाता है और हमारी चीज लौटा देता है। तो इसमें हर्ज कौनसा है? क्या क्रान्ति के लिए छीना-झपटी और जोर-जबरदस्ती अनिवार्य ही है? जो ऐसा मानते हैं कि बगैर हिंसा के क्रांति हो ही नहीं सकती, वे हिंसा को अनिवार्य ही नहीं, बल्कि आवश्यक मानते हैं। इसका तो यह मतलब हुआ कि जितनी हिंसा अधिक होगी, उतनी क्रांति भी अधिक सफल होगी। परन्तु यह अपसिद्धान्त है। जो क्रांतिवादी अहिंसा का आग्रह नहीं रखते, वे भी इस सिद्धान्त को हरगिज नहीं मानेंगे। हमारी ही चीज अगर कोई भलेमानस की तरह सभ्यता और शोभा के साथ लौटा देता है, तो उसमें उसका श्रेय है और हमारी प्रतिष्ठा है। क्रांतिवादियों में भी कुछ परम्परा के गुलाम और जीर्णमतवादी होते हैं। जो यह मानते हैं कि बगैर लड़ाई-झगड़े के परस्पर सम्मति से जो सामाजिक स्थित्यंतर होता है वह क्रांति नहीं है, वे दकियानूसी हैं। क्रांति में महत्त्व सामाजिक परिवर्तन का है, न कि संघर्ष और रक्तपात का।

इस देश की रियासतों के राजाओं ने अपनी-अपनी रियासतें बगैर लड़ाई-झगड़े के दे दीं। तो क्या इससे देश की हानि हुई? क्या हमको उन्हें यह कहना चाहिए था कि जब तक हम तुम्हारी रियासतें तुमसे छीनकर नहीं लेंगे, तब तक हमारा उद्देश्य सफल नहीं होगा? हमने ये रियासतें उनसे इनाम या भिक्षा के रूप में नहीं ली हैं। उन्होंने युग की आकांक्षा तथा हमारी सामर्थ्य को पहचाना और अपना कब्जा छोड़ दिया।

'दान' ही 'सम्प्रदान'

जो संपत्तिधारी हैं, उनको हम संपत्ति के मालिक नहीं मानते। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि संपत्ति आज उनके कब्जे में है। उन्हें हम कब्जा छोड़ देने को कहते हैं। अगर वे समझाने-बुझाने और विनय-अनुनय

से ही मान लेते हैं, तो उतने से क्रांति में दोष कहाँ पैदा होता है ? अगर आँगन में लगे हुए अकौए के पेड़ से शहद मिल सकता हो तो पहाड़ छानने की जिद करने में कौन-सी समझदारी है ? क्रांतिकारी को सम्पत्ति के परिहरण से मतलब है या उसके विसर्जन से ? परिहरण के बदले स्वेच्छा-प्रेरित समर्पण और उत्सर्ग से यदि संपत्ति का विसर्जन हो जाता है तो क्रांति में कौन-सी त्रुटि रह जाती है ? ऐसी स्थिति में परिहरण का आग्रह रखना वैचारिक विभ्रम का द्योतक है। हाँ, हम अपनी असमर्थता और दुर्बलता के कारण अगर दान के मार्ग की शरण लेते हैं तो हमारी प्रक्रिया क्रांति के प्रतिकूल होगी। परन्तु यदि हमारी शक्ति और कालात्मा के पद-चिह्नों को पहचानकर सम्पत्तिधारी अपनी सम्पत्ति समाज के अर्पण कर देते हैं, तो लेनेवाला और देनेवाला, दोनों धन्य हो जाते हैं। ऐसा 'दान' केवल देने की क्रिया-मात्र है। उसमें देनेवाले की और लेनेवाले की भूमिका में कोई भेद नहीं रहता। लेनेवाले की भूमिका गौण नहीं हो जाती। दो बराबरी के आदमी जब एक-दूसरे को उपयोग की कोई वस्तु देते हैं तो दोनों कृतज्ञ होते हैं और एक-दूसरे को धन्यवाद देते हैं। इस प्रकार विनोबा की यह दान-दीक्षा उभय पक्षों को धन्य-धन्य करनेवाली है। यह 'दान' वास्तव में 'सम्प्रदान' ही है।

पुराणप्रिय क्रान्तिवादियों को चुनौती

इस प्रकार की क्रांति में एक अन्यतम विशेषता होती है। वह यह कि इसमें प्रतिक्रांति की आशंका नहीं रह जाती। जब हम कानून से सम्पत्ति का परिहरण करते हैं तो सम्पत्तिमान् के मन में एक कसक रह जाती है। उसका दिल खट्टा हो जाता है और वह प्रतिशोध के लिए तड़पता रहता है। अगर सम्भव हो तो अपनी खोई हुई सम्पत्ति वापस पाने की कोशिश में भी रहता है। इसलिए वह 'हाईकोर्ट' में जाकर यह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि उसकी सम्पत्ति अवैध रीति से छीन ली गयी है। अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए वह संविधान की दुहाई देने लगता है। 'सुप्रीम-

कोर्ट' का निर्णय अगर उसके विरुद्ध हुआ तो फिर वह लोगों के 'वोट' जुटाकर येन-केन-प्रकारेण कानून रद्द करवाने का या उसे सत्त्व-हीन कर देनेवाले संशोधन कराने का प्रयास शुरू कर देता है। इस तरह क्रांति के बाद का बहुत-सा समय अदालतबाजी और कानूनबाजी के द्वारा प्रति-क्रांति का प्रतिकार करने में नष्ट हो जाता है। जहाँ सशस्त्र क्रांति होती है, वहाँ भी हारा हुआ पक्ष बदला लेने की तैयारी में लग जाता है, वह शस्त्रास्त्र तथा फौज का संग्रह करने की फिराक में रहता है। क्रांतिकारी पक्ष का बहुत-सा समय प्रतिक्रांतिवादियों को खोज-खोजकर उन्हें खत्म करने के उद्योग में ही बीत जाता है। जिसमें प्रतिक्रांति की आशंका बिलकुल न रहे या अल्पतम रहे ऐसा अमोघ क्रांति-तंत्र दुनिया के परम्परानुगामी क्रांतिवादी अब तक नहीं खोज पाये हैं। विनोबा ने इस आंदोलन के द्वारा प्रतिक्रांति की आशंका से सुरक्षित एक नये क्रांतितंत्र का उपक्रम किया है। क्या इसमें क्रांतिवादियों की पुराण-प्रियता को चुनौती नहीं है?

दान का प्रसंग नहीं; प्रक्रिया

देश में सम्पत्तिमानों के दो वर्ग हैं। एक बड़े मालिक और दूसरे छोटे मालिक। जो बड़े मालिक हैं, उन्हें हम अमीर कहते हैं और जो छोटे-छोटे मालिक हैं, उनको हम गरीबों में शुमार करते हैं। लेकिन वे भी उत्पादन के साधनों के मालिक तो हैं ही। बड़े मालिकों और छोटे मालिकों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि बड़े मालिक मुनाफाखोरी करते हैं और दूसरों के श्रम से लाभ उठाकर अपनी सम्पत्ति बढ़ाते हैं। इसलिए बड़े मालिकों के लिए दान की प्रक्रिया है। उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि भूदान-यज्ञ का यह आंदोलन दान का एक 'प्रसंग' नहीं है, वह दान की एक 'प्रक्रिया' है। दान का मुहूर्त आज ही है, लेकिन दान का सिलसिला तब तक जारी रहेगा, जब तक कि वे अपनी पूरी सम्पत्ति का विसर्जन नहीं कर चुकेंगे।

दान की इस प्रक्रिया की अवधि भी बहुत अल्प है। पुराने जमाने में

राजाओं के राज-महलों में दान की अवधि 'सवा पहर' की होती थी। 'सवा पहर' उपलक्षणात्मक है। आशय यह है कि जितनी जल्दी सम्पत्ति का विसर्जन सम्पन्न होगा, उतनी जल्दी हम अपने देश को और संसार को भावी अनर्थ से बचा सकेंगे। सम्पत्ति का यह विसर्जन विनयपूर्वक, मनःपूर्वक और बुद्धिपूर्वक होना चाहिए। तभी उसमें से हमारे उद्दिष्ट परिणाम निकलेंगे। उसमें किसी प्रकार का संदेह या अश्रद्धा नहीं होनी चाहिए। माँगनेवाले को टाल देने की नीयत से जो दान दिया जायगा, उससे दूना अनर्थ होगा। देनेवाले की अप्रतिष्ठा होगी और लेनेवाले का मनस्ताप शांत नहीं होगा, बल्कि बढ़ेगा। सामाजिक प्रशम (प्रशान्ति) का जो वातावरण विनोबा इस देश में बनाना चाहते हैं, उसमें बाधा पहुँचेगी और सार्वत्रिक हानि होगी। इसलिए सम्पत्तिमानों से सविनय अनुरोध है कि वे अपनी सम्पत्ति का विसर्जन शान्तिमय क्रान्ति सिद्ध करने की भावना से करें।

जो बोया सो पाया

धार्मिक क्षेत्र में जो दान किया जाता है, उसके विषय में हमारा यह अनुभव रहा है कि यजमान अल्प-से-अल्प तथा निकृष्ट-से-निकृष्ट वस्तु का दान करता है और उसके बदले में उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट फल चाहता है। रेज-गारी में आये हुए खोटे सिक्के यथाशक्ति द्रव्य-दान के नाम पर भगवान् के चरणों में वह चढ़ाता है और उसके बदले में खरा पुण्य चाहता है। भगवान् बेचारे अदृष्ट और अदृश्य हैं, इसलिए उस क्षेत्र में ऐसी धाँधली चल जाती है। लेकिन इस दुनिया में सौदा नक़द है। यहाँ, 'बवा सो लुनिय, लहिय जो दीन्हा'—जो बोया सो काटो, जो दिया सो पाओ—का प्रत्यय बहुत जल्दी आता है।

सहयोगी उत्पादन की भूमिका

गरीबों में भी दो श्रेणियाँ हैं। एक तो वे, जो कि छोटे-छोटे मालिक हैं; और दूसरे वे, जो केवल मजदूरी पर जीते हैं। हम पहले सम्पत्ति का विसर्जन करा लेना चाहते हैं, इसलिए दान की प्रक्रिया से आरंभ करते

हैं। संपत्ति के विसर्जन का उद्देश्य मुनाफे की प्रेरणा का अन्त कर देना है। मालकियत से मुनाफे की प्रेरणा निकल जाने पर उसका डंक ही कट जाता है। मुनाफे की प्रेरणा को खत्म करने के बाद मालकियत को ही खत्म करना है। उत्पादन जब मुनाफे के बदले जरूरत के लिए होने लगेगा, तब छोटी-छोटी मालकियतों को बनाये रखने की प्रेरणा अपने-आप क्षीण हो जायगी। जो गरीब छोटे-छोटे मालिक हैं, उन पर यह प्रकट हो जायगा कि उनकी मालकियत उनकी गुजर-बसर के लिए काफी नहीं हैं। तब उनमें अपनी-अपनी मालकियतों को एक-दूसरे के साथ मिला देने की प्रेरणा पैदा होगी और इस प्रकार सहयोगी उत्पादन की भूमिका तैयार होगी।

यज्ञ की प्रक्रिया

हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि गरीबों में आपस के स्वार्थों का संघर्ष न हो। एक गरीब के पास तीन एकड़ जमीन है, दूसरे के पास एक एकड़ है और तीसरे के पास शून्य एकड़ है। इनमें किसी की भी गुजर नहीं होती, तब वे आपस में बैठकर यह तय करते हैं कि यह सारी जमीन हम सबकी है। इस तरह से वे अपनी-अपनी मालकियतों को एक-दूसरे के साथ मिला लेते हैं। इसके लिए उन्हें अपनी मालकियत छोड़ ही देनी पड़ती है। इसका नाम 'यज्ञ' की प्रक्रिया है।

हम बड़ी-बड़ी मालकियतों को बिखेरकर सबको मालिक बना देना चाहते हैं। यह दान की प्रक्रिया है। लेकिन हमारा यह उद्देश्य नहीं है कि बड़ी-बड़ी मालकियतों की जगह छोटी-छोटी मालकियतों का एक जाल बिछा दें। मालकियतों को बिखेरना हमारा पहला कदम है। वह हमारा मुकाम नहीं है। वह हमारी छत्री है, छप्पर नहीं है। हम मालकियत को ही खत्म कर देना चाहते हैं। इसलिए छोटे-छोटे मालिकों से अपनी-अपनी मालकियतें जोड़ लेने के लिए कहते हैं। बड़ी मालकियतों को तोड़ने के लिए 'दान' है और छोटी मालकियतों को जोड़ने के लिए 'यज्ञ' है।

अन्यतम क्रांति-तन्त्र

इस क्रांति-तन्त्र की यह अन्यतम विशेषता है कि इसमें व्यक्तियों के कलह के बिना वर्ग-निराकरण का निश्चय है, प्रतिक्रांति के प्रतिबंध की योजना है और किसान-किसान तथा किसान-मजदूर के अन्तर्गत संघर्ष को टालने की विवेक-युक्त व्यवस्था है। यह आन्दोलन एक अपूर्व प्रक्रिया के द्वारा क्रांति को सम्पन्न करने का एक अमोघ साधन और निश्चित आश्वासन है।

: ४ :

वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया

मैं ऐसा मानता हूँ कि हमारे देश में भी वर्ग हैं। हरएक वर्ग के व्यक्ति बदलते रहते हैं और बदल सकते हैं, इसलिए यह कहना सयुक्तिक नहीं होगा कि वर्ग हैं ही नहीं। जिस समूह के व्यक्ति बदलते हैं, उसी को 'वर्ग' कहना चाहिए। यदि ऐसा न होता, तो वह समूह 'जाति' कहलाता। जाति जन्म पर निर्भर है। इसी कारण जाति-निराकरण तबतक असम्भव है, जबतक हम जन्म की ही परिस्थिति में परिवर्तन नहीं करते, याने सजातीय विवाह निषिद्ध नहीं करार देते। वर्ग के विषय में यह बात नहीं है। आज का अमीर कल गरीब बन जाता है, आज का गरीब कल अमीर बन जाता है। इसमें कर्तृत्व के लिए अवसर है। लेकिन वह समाज-व्यवस्था के कारण सीमित है। वास्तव में सबको समान अवसर नहीं मिलता। जो अमीर की कोख से पैदा होता है, उसे सामाजिक प्रतिष्ठा तथा कौटुम्बिक सुख-सुविधा बिना प्रयत्न के ही उपलब्ध हो जाती हैं। सम्पत्ति और दारिद्र्य व्यक्ति को विरासत में प्राप्त होते हैं।

वर्ग-निराकरण के बिना साम्ययोग असंभव

समाज में अनुत्पादक व्यवसाय करनेवालों की इज्जत बढ़ती है। परम्परागत परिस्थिति से उनको लाभ मिलता है। समाज-सेवा भी व्यवसाय बन जाता है। सेवा तथा संस्कृति सौदे की चीजें बन जाती हैं। अमीरी और गरीबी व्यक्तिगत पुरुषार्थ पर बहुत कम परिमाण में निर्भर होती है। वह मुख्य रूप से उपलब्ध साधन और सुयोग पर निर्भर होती है। ये साधन और सुयोग, विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति के कारण एक वर्गविशेष के व्यक्तियों को ही उपलब्ध होते हैं। विशिष्ट आर्थिक व्यवस्था

के कारण परिस्थिति की जो विरासत हरएक व्यक्ति को मिलती है, वही आर्थिक विषमता की जड़ है। जो व्यवसाय व्यक्ति के अथवा विशिष्ट समुदाय के मुनाफे के लिए किया जाता है, उसे पापमूलक समझना चाहिए। यदि अनुत्पादक व्यवसाय व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाता हो, तो उसे अधिक बड़ा पाप मानना चाहिए। ये व्यवसाय विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति पर अवलम्बित हैं। इसलिए जो लोग ये व्यवसाय करते हैं, उनका एक वर्ग बन जाता है। अतएव वर्ग-निराकरण के बिना साम्ययोग की स्थापना असंभव है।

अच्छाई और बुराई का वर्गीकरण अनर्थकारक

समझदार और मूर्ख, सज्जन और दुर्जन के वर्ग मानना न केवल अशास्त्रीय ही है, अपितु अनर्थावह भी है। अच्छाई और बुराई गुण हैं। उनका सम्बन्ध बाह्य साधनों से और व्यवसायों से कम मात्रा में है। व्यवसाय के कारण कभी-कभी समाज-विरोधी भूमिका प्राप्त होती है। उससे वृत्ति भी दूषित होती है। परन्तु व्यवसाय के कारण जो सज्जनता और दुर्जनता की भूमिका प्राप्त होती है, उसके आधार पर हमें व्यक्तियों को सज्जन या दुर्जन नहीं मानना चाहिए। कसाई का धंधा करनेवाला भी बड़े दिल का और दयालु हो सकता है। फाँसी की सजा पर अमल करनेवाले व्यक्ति निर्घृण (बेहया) भले ही हों, लेकिन उनकी गिनती दुष्टों में नहीं की जा सकती। जो अपने-आपको साधु या सज्जन मानता है, उस अहंकारी व्यक्ति के बराबर अधम और कौन है? हम जब वस्तुनिष्ठ दृष्टि से और तटस्थ भाव से देखते हैं तो कुछ व्यक्तियों की दुष्टता अल्प मात्रा में दिखाई देती है और कुछ व्यक्तियों में सज्जनता अल्प मात्रा में पायी जाती है। समाज में सज्जन और दुर्जन, मूर्ख और सुजान, उदार और कृपण व्यक्ति हैं। परन्तु सज्जनता और दुष्टता, मूर्खता और सयाँपा इत्यादि गुण बाह्य उपकरणों पर और साधनों पर अल्प मात्रा में निर्भर हैं। समाज में हम सारे नियम सज्जनता के विकास के लिए ही

बनाते हैं। इसलिए सज्जन और दुर्जन, मूर्ख और सयाने, इस तरह का वर्गीकरण करना अत्यन्त अनर्थकारक साबित होगा।

सज्जन और दुर्जन, मूर्ख और सयानों में प्रत्यक्ष व्यावहारिक स्वार्थ-विरोध निर्माण नहीं होता। सज्जन को अपना सौजन्य बढ़ाने के लिए दुर्जन की दुर्जनता से फायदा उठाने की जरूरत नहीं होती। सयाने को अपने सयाँपे के संरक्षण के लिए दूसरे की मूर्खता बनाये रखने की योजना नहीं करनी पड़ती।

आर्थिक और गुणाश्रित विषमता का निराकरण

इस प्रकार आर्थिक विषमता और गुणाश्रित विषमता में मूलभूत अन्तर है। आर्थिक विषमता विशिष्ट सामाजिक रचना, परम्परा तथा परिस्थिति पर आधार रखती है। गुणाश्रित विषमता का निराकरण आत्म-शक्ति से हो सकता है।

अमीरी प्राप्त करने के लिए भी त्याग और परिश्रम की आवश्यकता होती है। परन्तु वह त्याग और परिश्रम व्यक्तिगत लाभ, प्रतिष्ठा और स्वार्थ के हेतु किये जाते हैं। इसलिए वे समाज-विघातक सिद्ध होते हैं। यह तप आसुरी तप कहलाता है। रावण, हिरण्यकशिपु इत्यादि असुरों ने इसी प्रकार का तप किया। इसलिए प्राणिमात्र के साथ आत्म-भाव सिद्ध करके यथार्थ अमरत्व प्राप्त करने के बदले उन्होंने यह वरदान माँग लिया कि हमें किसी के हाथों मृत्यु न आये। अर्थात् उन्होंने यह मान लिया कि संसार में जितने प्राणी हैं, वे सब उनके शत्रु हैं। जो दूसरों को पैरों तले रौंदकर खुद जीना चाहता है, वह उनको अपना शत्रु माने बिना कैसे रह सकता है? जो सबका शत्रु बन जाता है, वह तपस्या के बाद ईश्वर से वरदान भी आसुरी ही माँगता है। अपने चारों तरफ संरक्षण-भावना का परकोट बनाकर मनुष्यों से अलग पड़ जाता है। जो मनुष्यों को शत्रु मानकर अलग होना चाहता है, वह अपने व्यक्तित्व का गला घोंटकर जीवन से ही हाथ धो बैठता है। इस प्रकार परिग्रह-भावना की बदौलत आसुरी सम्पत्ति की सत्ता शुरू हो जाती है। अतः जब तक

अमीरी और गरीबी का अन्त नहीं होगा, तब तक मनुष्यता का संरक्षण असंभव है।

दान और यज्ञ में बंधुत्वमूलक प्रक्रिया

अमीरी और गरीबी की बदौलत मनुष्य मनुष्य से दूर पड़ जाता है। इसलिए हम अमीरी और गरीबी का अन्त कर देना चाहते हैं। स्पष्ट है कि अमीरी और गरीबी के निराकरण की प्रक्रिया भी मनुष्यता और बन्धुत्व का विकास करनेवाली होनी चाहिए। यह गुण विनोबा की 'दान-यज्ञ' प्रक्रिया में है। बन्धुत्व पर अधिष्ठित आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए सम्पत्ति और भूमि के पुनर्वितरण की प्रक्रिया भी बन्धुत्व-मूलक होनी चाहिए। तभी वह सम्पत्ति सार्वजनिक अथवा अखिल मानवीय होगी।

आसुरी सम्पत्ति प्रभुत्व की भावना पर आधार रखती है। दैवी सम्पत्ति कल्पित वाद से कलुषित होती है। परन्तु मानवीय संस्कृति श्रम पर आधार रखती है, इसलिए उसमें बन्धुत्व के दो आचारात्मक तत्वों का अर्थात् दान और यज्ञ का महत्व है। असुरों की मदिरा में मादकता है, देवों के अमृत में केवल मिठास है, बहुत मीठा खाने से मुँह मीठा हो जाता है। परन्तु श्रमनिष्ठ उत्पादन-पद्धति से उपार्जित हमारे अन्न में अद्भुत स्वाद होता है। उसमें जीवन के सारे रस और धरतीमाता का समूचा सौरभ होता है।

● ● ●

: ५ :

क्रांति के बीज

गरीबों से दान क्यों ?

कुछ ऐसे तटस्थ समाज-सेवक, जिनके मन में गरीबों के साथ सहानुभूति है और जिनका सम्बन्ध किसी राजनैतिक दल या आर्थिकवाद से नहीं है, अक्सर पूछते हैं कि "भूदान-यज्ञ में गरीबों से दान क्यों लिया जाता है ? गरीबों के पास तो पहले ही इतना थोड़ा है कि जिससे उनका पेट तक नहीं भरता। तो फिर उनसे माँगने से क्या मतलब ? गरीबों को और भी गरीब बनाने से क्या फायदा ?"

बेड़ी तोड़ने का संकेत

देखने में यह आक्षेप बिलकुल लाजवाब मालूम होता है। लेकिन उसके पीछे एक बहुत बड़ा विचार-दोष है। पूँजीवाद में मनुष्य को गुलाम बनानेवाली सबसे जबरदस्त जंजीर मालकियत का मोह है। व्यक्तिशः बहुत-से पूँजीपति अपनी-अपनी सम्पत्ति के रक्षण के लिए कुछ दरबान और रखवाले रख लेते हैं और उनको तनख्वाह दिया करते हैं। परन्तु इतने से बड़े-बड़े पूँजीपतियों का व्यक्तिगत संरक्षण होगा ! पूँजीवाद के ही संरक्षण की यह योजना नहीं है। इसलिए पूँजीवाद में छोटे-छोटे मालिकों को भी मालकियत का अधिकार दे दिया गया है। इस मालकियत के मोह से वे पूँजीवाद के रखवाले बन जाते हैं। यह छोटी मालकियत वह बेड़ी है, जो गरीब मालिकों को अपनी इच्छा से पूँजीवाद के कारागृह में उनको बन्द रखती है। गरीब जबतक मालकियत के मोह का विसर्जन नहीं करेगा, तबतक उसकी गरीबी खत्म नहीं होगी। जब हम गरीब से

दान माँगते हैं, तो उससे कहते हैं कि तू इस बेड़ी को तोड़ देने का संकेत कर।

मालकियत के विसर्जन का संकेत

मालकियत की आकांक्षा आर्थिक विषमता की जड़ है। आज का गरीब खुद अमीर बनना चाहता है। वह गरीबी और अमीरी का निराकरण नहीं करना चाहता। इसलिए उसके मन में अमीरों के लिए ईर्ष्या और द्वेष है। लेकिन अपने से अधिक गरीब के लिए सहानुभूति नहीं है। हरेक गरीब अपने लिए अमीरी चाहता है, सबके लिए नहीं। अगर वह सबके लिए अमीरी चाहता है, तो उसे अपनी मालकियत अपने से अधिक गरीब आदमियों के साथ बाँट लेनी चाहिए। जब वह अपनी छोटी-सी मालकियत में से भी नैवेद्य की तरह थोड़ा-सा हिस्सा राष्ट्र को अर्पित कर देगा, तब वह अपनी अल्प सम्पत्ति में संपत्तिहीनों को शामिल करने का संकेत करेगा।

मूल पर कुल्हाड़ी

जिसके पास धन होता है, उसके मन में दूसरों के लिए डर और अविश्वास होता है। मेरे शरीर पर अगर सोने के गहने हों, तो मैं निर्भय होकर रास्ते से नहीं चलता और घर में भी निर्भय होकर नहीं सोता। दूसरों से डरता रहता हूँ। इसलिए अमीर का डर तो हमारी समझ में आता है। लेकिन गरीब को किस बात का डर है? क्या किसी कैदी को यह डर होता है कि कोई मेरी बेड़ी न चुरा ले, या छीन ले? या कोई मेरे जेलखाने को न लूट ले? जो एक एकड़, दो एकड़ और आध एकड़ के मालिक हैं, वे भी तो भूखे और नंगे हैं। उनकी मिलकियत अगर कोई छीन ले या चुरा ले, तो वह बेड़ी और हथकड़ी ही चुरायेगा। फिर भी हम देखते हैं कि छोटे मालिक को अपनी मालकियत के खो जाने का डर है। जबतक वह इस मालकियत के मोह का त्याग नहीं करता, तबतक पूँजीवाद के मूल पर कुल्हाड़ी की चोट नहीं पड़ेगी।

मालकियत के विसर्जन की प्रक्रिया

बड़ा मालिक जब संगठन शुरू करेगा तो छोटे मालिक से कहेगा कि अगर मेरे पचास एकड़ जायेंगे तो तेरे पाँच एकड़ भी कहाँ रहेंगे ? जिनके पास कुछ भी नहीं है, वे तेरे पाँच एकड़ छीन लेंगे। छोटा मालिक उसके चकमे में आ जाता है और मालकियत के मोह के कारण पूँजीवाद के जाल में फँस जाता है। लेकिन अगर पाँच एकड़ वाला कह दे कि यह लो, यह छोटी मालकियत मैंने फेंक दी, तो वह पूँजीवाद की जड़ें ही खोद देता है।

आखिर जहाँ सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण कानून से और शासन से किया जाता है, वहाँ भी छोटे मालिकों की मालकियत छीन लेनी ही पड़ती है। उत्पादन के साधनों की व्यक्तिगत मालकियत खत्म करने के लिए गरीब की मालकियत भी छीननी पड़ती है। अहिंसक प्रकिया में भी अपरिग्रह की भावना बड़े मालिक और छोटे मालिक, दोनों को स्वीकार करनी पड़ती है। इसलिए दोनों को अपनी-अपनी मालकियत का उत्सर्ग करने की प्रेरणा होनी चाहिए। गरीबों से जो दान लिया जाता है, उसमें से यह प्रेरणा होती है। गरीबों का दान मालकियत के विसर्जन की प्रक्रिया का आरम्भ है।

जोड़नेवाली कड़ी

छोटे मालिक, कम गरीब और बहुत गरीब तथा केवल मजदूर, तीनों का संयुक्त मोर्चा तब बनेगा, जबकि तीनों अपने से अधिक गरीब के लिए सहानुभूति सक्रिय रूप से प्रकट करेंगे। केवल अमीरों का विरोध करने से गरीबों में भावरूप एकता कायम नहीं होगी। वह केवल प्रति-कारात्मक संगठन से और कागजी विधानों से भी नहीं होगी। उसके लिए हृदय की भावना का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहिए। यह सबूत दान के रूप में ही प्रकट हो सकता है। इसलिए गरीबों का दान, गरीब और मजदूर को एक-दूसरे के साथ जोड़ देनेवाली कड़ी है।

क्रांति के बीज का गुणधर्म

किसान अक्सर खाने के दाने अलग रखता है और बीज के दाने अलग। खाने के दाने से बीज का दाना अधिक गुण-सम्पन्न होता है। अमीर के दान से मालकियत का बँटवारा होगा। धन और धरती की मालकियत बँट जायगी। लेकिन मालकियत के ही विसर्जन की क्रान्ति गरीब के दान से होगी। गरीब के दान में क्रान्ति के बीज का गुण-धर्म होगा। इसलिए अहिंसात्मक क्रान्ति की प्रक्रिया में गरीब के स्वामित्व के उत्सर्ग का महत्त्व मूलभूत है।

मूल प्रेरणा

आखिर सशस्त्र क्रान्ति में भी क्रान्तिकारी सिपाही की ताकत उसकी वर्दी और हथियार में नहीं होती। उस वर्दी के पीछे छिपी हुई छाती की धड़कन में होती है। इस धड़कन का नाम भावना है। साम्यवादियों का यह दावा है कि क्रान्ति की भावना और प्रेरणा से ही रूस के सिपाहियों की अभेद्य छातियों ने क्रान्ति के दुर्ग का संरक्षण किया। भावना जितनी शुद्ध और उदात्त होगी, क्रान्ति के सैनिक की शक्ति भी उतनी ही अमोघ होगी। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन क्रान्तिकारी आन्दोलन है। वह शोषित और दलित वर्ग का उत्साह और वीरता बढ़ानेवाला है। वह क्रान्ति का विरोधी नहीं है। विरोधी है, रक्तपात, क्रूरता और हृदय-हीनता का।

क्या यह राष्ट्रीयकरण नहीं है?

एक बात और हमेशा कही जाती है कि बड़े-बड़े सामन्तों की और भूमिपतियों की जमीनों का राष्ट्रीयकरण करके उन्हें छोटे किसानों और भूमिहीनों में बाँट देना चाहिए। ये जमीनें उनके मौजूदा मालिकों से बगैर मुआवजे के जब्त कर लेनी चाहिए। इसमें असली तत्त्व की बात जब्त करने की नहीं है। तत्त्व की बात यह है कि ये जमीनें बड़े आदमियों से राज्य अपने कब्जे में ले ले और बगैर मुआवजे के ले ले। फिर राज्य उनका बँटवारा करे। इस तरह का बँटवारा अगर राज्य की तरफ से होगा, तो वह दान होगा, जिसके लेने से गरीब की शान में कोई बट्टा नहीं लगेगा।

गैर-सरकारी राष्ट्रीयकरण

आखिर भूदान-यज्ञ की प्रक्रिया का नतीजा यही नहीं तो और क्या है ? बड़े आदमियों से जो दान लिया जाता है, उसके बदले में उन्हें क्या मिलनेवाला है ? उनसे तो बगैर मुआवजे के ही उनकी करीब-करीब सारी जमीन विनोबा माँग रहे हैं न ? यह दान एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपनी मर्जी से नहीं देता। वह तो विनोबा को देता है। विनोबा व्यक्ति नहीं हैं, दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि हैं। वे भी अपनी मर्जी से किसी व्यक्ति को जमीन नहीं देते। जनता के सामने भूमिहीनों के एकमत से भूमिहीनों को देते हैं। यह सरकार-निरपेक्ष राष्ट्रीयकरण नहीं तो और क्या है ? इसमें जोर-जबरदस्ती और जब्ती नहीं है, इसलिए क्या उसका स्वरूप और गुण बदल जाता है ?

क्या यह मिट्टी-फंड है ?

कुछ आक्षेपकों ने तो यहाँ तक कह डाला कि "कस्तूरबा गांधी-फंड और गांधी-स्मारक-निधि की तरह यह भी एक फंड है और उन फंडों का जो हाल हुआ वही इस मिट्टी-निधि का भी होगा।" अगर यह आक्षेप गम्भीरतापूर्वक न किया जाता, तो इसकी तरफ ध्यान देने की जरूरत न होती।

क्या जिस तरह पैसा और दूसरी उपयोगी चीजें इकट्ठी करके किसी बैंक या दूकान में रखी जा सकती हैं, उसी तरह जमीन भी कोई अपने पास रख सकता है ? क्या जमीन कोई उठाकर ले जा सकता है ? जमीन जहाँ-की-तहाँ रहेगी। सवाल इतना ही है कि उसके बँटवारे में कोई पक्षपात तो नहीं होगा ? यह प्रश्न तो तब भी रहेगा, जबकि सारी जमीन राज्य अपने कब्जे में लेकर बँटवारा करेगा। उस वक्त भी सत्ता-धारी दल और उस दल का अन्तर्गत सत्ताधारी गिरोह ही बँटवारा करायेगा। उस आपत्ति से बचने के लिए विनोबा ने बँटवारे की विधि और पद्धति अधिक-से-अधिक निर्दोष बना ली है। उसमें गलती की गुंजाइश है, पक्षपात की नहीं।

● ● ●

: ६ :

ऊसर ज़मीन के दान पर आक्षेप

एक आक्षेप बार-बार किया जाता है कि भूमि-दान-यज्ञ में जो जमीन मिलती है, उसमें से बहुत-सी जमीन बंजर, ऊसर और बेकार होती है। देनेवाले अपनी जान छुड़ाने के लिए और झूठी शोहरत कमाने के लिए इस तरह की फालतू जमीन दे देते हैं। उनकी इज्जत होती है और हमारा काम नहीं होता।

वस्तुस्थिति यह नहीं है

सुनने में यह आक्षेप सही मालूम होता है; लेकिन उसमें सच्चाई का अंश बहुत कम है। क्या बिहार में विनोबा को जिन्होंने लाख-लाख एकड़ जमीन दी है, वह सबकी-सब ऊसर और निकम्मी है ? जिनके पास इतनी जमीन थी, उसमें से कुछ परती जरूर रही होगी। लेकिन उतने से वह ऊसर या बंजर नहीं कही जा सकती। बड़े-बड़े मालिकों ने जिस प्रकार विनोबा को जमीन दी है, उसी प्रकार छोटे-छोटे किसानों ने भी दी है। इन छोटे किसानों के पास तो कोई ज्यादा जमीन नहीं थी। उन्होंने अपनी जेरकाश्त जमीन में से ही जमीन दी। कई लोगोंने तो अपनी जमीन का आधा, तिहाई, चौथाई और छठा हिस्सा दिया है। बिहार में और दूसरे प्रान्तों में भी भूदान में चार-चार, पाँच-पाँच हजार रुपये फी एकड़ कीमत की जमीन मिली है। भूदान-कार्यकर्ताओं का ऐसा अनुभव नहीं है कि बेकार जमीन ही अधिक मात्रा में मिलती है। इसलिए यह कहना बहुत गलत है कि भूदान में बेकार जमीन ही अधिक मिलती है।

काम थोड़े ही रुकेगा ?

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भूमि-दान की अभी तो पहली किस्त ही वसूल की जा रही है। १९५४ तक सारे देश के लिए पचीस लाख का लक्ष्य रखा गया था, लेकिन १९५७ तक पाँच करोड़ एकड़ जमीन भूदान में इकट्ठी करनी है। उत्तर प्रदेश में पाँच लाख का लक्ष्य पूरा हो जाने पर भी काम बन्द नहीं हुआ। अब एक करोड़ का लक्ष्य है। बिहार में एक-एक जिले से तीन-तीन लाख एकड़ जमीन इकट्ठी करने के संकल्प किये गये हैं। इतनी बंजर और ऊसर जमीन कहाँ से आयगी ? पहली किस्त में बंजर और ऊसर जमीम भले ही मिल गयी हो, परन्तु जबतक पाँच करोड़ एकड़ का लक्ष्य पूरा नहीं होगा, तबतक भूदान का काम नहीं होगा। अगली किस्त में अच्छी जमीन भी आने ही वाली है।

मालकियत ढीली पड़ रही है

क्रान्ति की प्रक्रिया में मुख्य महत्त्व भावना-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन का है। आजकल यह ऊसर और बंजर जमीन जिन मालिकों के पास थी, क्या उसे वे अपनी सम्पत्ति नहीं समझते थे ? क्या वे एक-एक चप्पा जमीन के लिए लड़ाई-झगड़ा करने पर आमादा नहीं हो जाते थे ? आज जमाने की माँग देखकर वे उस जमीन पर से अपनी मालकियत हटा लेने के लिए तैयार हो रहे हैं। अर्थात् उनकी मालकियत की भावना ढीली पड़ने लगी है। जो लोग इस तरह दस एकड़, बीस एकड़, पचासों एकड़ और सैकड़ों एकड़ ऊसर जमीन भूमि-दान में दे देंगे, वे जब कानून बनेगा, उस वक्त उसका मुआवजा नहीं मांगेंगे। इस भावनात्मक परि-वर्तन से मुआवजे की समस्या, अगर हल नहीं हो जाती, तो कम-से-कम, सुगम तो हो ही जाती है। क्रान्ति का आरम्भ हमेशा इस प्रकार के वृत्ति-परिवर्तन से ही हुआ करता है।

समय धोखा नहीं खाता

जो लोग अत्यन्त स्थूल लाभ और हानि की दृष्टि से विचार करते हैं,

उनसे भी हमारी एक विनय है। जो छोटे-छोटे मालिक हैं और खुद जमीन जोतते हैं, उनके पास जैसी जमीन है, उसीमें से वे देते हैं। उन्हें तो हम कोई दोष नहीं दे सकते। जिसके पास सिर्फ चने हैं, वह चने ही देता है। वह मोतीचूर कहाँ से लाये? हमारे लिए तो उसका चना ही मोतीचूर है। लेकिन जो लोग मोतीचूर अपने पास रखकर विनोबा को चने देते हैं, उससे भी विनोबा का क्या नुकसान होता है? वे लोग वक्त टाल देने के लिए और मुँह रखने के लिए चाहे जैसी जमीन दे देते होंगे, लेकिन इससे न तो वक्त टलता है, न इज्जत बचती है। लोग देखते हैं कि गरीबों ने तो अपनी-अपनी खेती की जमीन में से विनोबा को दान में यथाशक्ति जमीन दी, लेकिन बड़े आदमियों ने अपनी बेकार जमीन में से जमीन देकर दान का स्वांग किया। इससे गुनाह बेलज्जत हो जायगा। दान का दान न होगा और ऊपर से बदनामी होगी। तब बिगड़ी हुई बनाने के लिए फिर अच्छी जमीन देनी ही पड़ेगी। पुण्य-कार्य में सफलता और कार्यहानि जैसी कोई चीज है ही नहीं।

● ● ●

: ७ :

जमीन पानेवाले का गौरव

जमीन

कुछ लोगों को लगता है कि भूदान-यज्ञ-आन्दोलन से दाता की प्रतिष्ठा बढ़ती है। वह जमीन देता है, इसलिए लोगों के सामने उसका नाम आता है। दूसरे लोगों से उसका अनुकरण करने के लिए कहा जाता है। लोग उसे धन्यवाद देते हैं। जो कार्यकर्ता जमीन के दान-पत्र प्राप्त करता है, उसकी भी प्रशंसा और गौरव होता है। इन दोनों को तो यह आन्दोलन पुरुषार्थ और प्रतिष्ठा के लिए अवसर देता है, लेकिन जो जमीन पाता है, वह तो केवल प्रतिग्रह करता है। उसके लिए न तो पुरुषार्थ का अवसर है और न प्रतिष्ठा का।

बल-प्रयोग में भी यही दोष

यों सुनने में यह आक्षेप तर्क-संगत और वास्तविक मालूम होता है। परन्तु गहराई से विचार करने के बाद पता चलता है कि इसमें बहुत तथ्य नहीं है। भूदान-यज्ञ-आंदोलन की जगह दो ही पर्याय हो सकते हैं। एक तो यह कि कुछ लोग संगठित होकर जोर-जबरदस्ती से या शस्त्र-प्रयोग से बड़े किसानों से तथा जमीन-मालिकों से जमीन छीन लें और उसे बिलकुल छोटे किसानों को तथा भूमिहीन मजदूरों को बाँट दें। परन्तु इसमें भी जो भूमिहीन मजदूर या बिलकुल थोड़ी जमीन वाला किसान जमीन पायेगा, उसके पुरुषार्थ के लिए कौनसी गुंजाइश है? उसके नाम पर जो मुट्ठी भर लोग संगठित बल-प्रयोग करेंगे, उनका बोलबाला होगा। लेकिन यह गरीब किसान तो सिर्फ पानेवाला ही रहेगा।

कानून की प्रक्रिया में भी वही दोष

दूसरा पर्याय यह है कि राज्य कानून बनाकर मालिकों की और बड़े किसानों की अतिरिक्त जमीन जब्त कर ले और उसे छोटे किसानों में तथा खेती के मजदूरों में बाँट दे। इसमें भी जो लोग जमीन पायेंगे, उनके पराक्रम के लिए जगह नहीं है। राज्य कानून से लेगा और उनको दे देगा। वे तो केवल दान-पात्र ही रह जाते हैं।

पानेवाले की क्या इज्जत ?

मतलब यह कि भूमिदान-यज्ञ-आन्दोलन में जो दोष बतलाया जाता है, वही भूमि छीनने की या भूमि जब्त करने की प्रक्रिया में भी मौजूद है। अर्थात् अगर वह दोष है, तो सभी प्रक्रियाओं के लिए समान दोष है। अकेली भूमिदान-आन्दोलन-प्रक्रिया का ही वह दोष नहीं है। इतना फर्क जरूर है कि शस्त्र-प्रयोग की प्रक्रिया में जमींदारों या मालिकों की इज्जत नहीं होती, इज्जत होती है छीननेवालों की, परन्तु ये छीननेवाले भी छोटे किसान और भूमिहीन मजदूरों के तो उद्धारकर्ता ही माने जाते हैं। इससे उस बेचारे का रुतबा क्या बढ़ा ?

मूलभूत विचार-दोष

असली बात यह है कि इस आक्षेप के मूल में एक विचार-दोष है। जिसका अधिकार छीना गया है, उसका अधिकार उसको वापस मिल जाता है, इसीमें उसका गौरव है। मेरे घर अगर चोरी हो गयी और पुलिस ने तहकीकात के बाद चोरी पकड़ ली, और मेरी चीज मुझे लौटा दी, तो क्या यह मेरा गौरव नहीं है ? अब इससे अधिक गौरव मेरा क्या हो सकता है ? या फिर चोर ही थोड़ी देर के बाद होश में आ जाय और लोकलाज, पश्चात्ताप या समझदारी के कारण अथवा किसी के समझाने-बुझाने से मेरी चीज लौटा दे, तो क्या इसमें मेरी इज्जत नहीं है ? जिसकी चीज खो गयी है या छिन गयी है, उसकी चीज उसे वापस मिल जाती है, इतना ही काफी है। चीज जिसके कब्जे में है, वह अगर

समझदारी से काम लेता है और बगैर झगड़े-टंटेके चीज लौटा देता है, तो हम उसे बधाई जरूर देंगे। कोई शराबखोर अगर कानून के बिना और जोर-जबरदस्ती के बिना शराब पीना छोड़ दे, तो क्या हम उसके प्रति सन्तोष नहीं प्रकट करेंगे ?

इस प्रक्रिया की विशेषता

भूदान-यज्ञ-आंदोलन में भी यही होता है। इसके अलावा एक बात और होती है। जिसने अनधिकृत रूप से केवल परम्परागत अर्थ-व्यवस्था के आधार पर सम्पत्ति पायी है, वह अपनी अन्यायमूलक मालकियत के दोष को समझने लगता है और उस अन्याय का परिमार्जन करने लगता है। इस हृदय-परिवर्तन का मूल्य अपरिमित है।

परिश्रम का उचित गौरव

एक व्यक्ति क्रिकेट का अच्छा खिलाड़ी है, एक व्यक्ति वीणावादन-पटु है और एक बहुत प्रवीण लेखक है। आपको इनमें से हरेक का गौरव करना हो तो किस प्रकार करेंगे ? जो क्रिकेट-पटु है, एक उत्कृष्ट बैट आप उसको भेंट करेंगे। जो वीणा-प्रवीण है, उसे एक उत्कृष्ट वीणा देंगे और जो लेखन-कुशल है, उसे एक बढ़िया कलम देंगे। श्री छत्रपति शिवाजी महाराज प्रतापी वीर पुरुष थे। जगन्माता भवानी ने उन्हें प्रसाद के रूप में एक सुप्रसिद्ध तलवार दी। हरेक के गुण और कार्य-कुशलता के अनुरूप हम उसे औजार या उपकरण देते हैं। उसका गौरव करने की यही प्रशस्त पद्धति है। उसी प्रकार जो भूमिहीन हैं, परन्तु जमीन जोतते हैं और परिश्रम से सम्पत्ति का उत्पादन करते हैं, उन्हें परिश्रम का साधन देकर हम उनका गौरव करते हैं। यही उनका उचित समादर है।

जमीन का समाजीकरण

पीछे हमने बतलाया है कि भूदान-यज्ञ की प्रक्रिया एक तरह से भूमि के राष्ट्रीयकरण की ही प्रक्रिया है। 'राष्ट्रीयकरण' शब्द का प्रयोग हमने

'समाजीकरण' के अर्थ में किया है। राज्य का कोई अधिकारी, राज्य-प्रतिनिधि की हैसियत से कानून के आधार पर जब भूमि ले लेता है, तो उसी भूमि का 'राज्यीकरण' होता है। वह प्रक्रिया 'राज्य-स्वामित्व' की है, 'लोक-स्वामित्व' की नहीं। 'लोक-स्वामित्व' की प्रक्रिया में भूमि का संग्रह लोक-प्रतिनिधि करेंगे। जो मालिक अपनी मालकियत का उत्सर्ग करना चाहते हैं, उनके भी वे प्रतिनिधि होंगे और जिन श्रमिकों को वह जमीन मिलती है, उनके भी वे प्रतिनिधि होंगे। विनोबा इस प्रतिनिधित्व के 'प्रतीक' मात्र हैं। यह 'लोक-स्वामित्व' की स्थापना की अद्भुत कल्याणकारी प्रक्रिया है। इसमें दोनों धन्य होते हैं—देनेवाला भी, पानेवाला भी।

पानेवाले का सार्वजनिक सम्मान

हमारे आक्षेपक मित्र अगर चाहें तो प्रसंगोचित समारोह करके भूमिहीनों को नारियल, सुपारी तथा अक्षत के साथ जमीन दे सकते हैं। उससे जो वातावरण पैदा होगा, उसके कारण जमीन पानेवाले के मन में कृतज्ञता के साथ-साथ आत्म-सम्मान की भावना भी पैदा होगी।

● ● ●

: ८ :

भूदान-यज्ञ : सत्याग्रह का विधायक स्वरूप

सत्याग्रह के अनेक अर्थ

सत्याग्रह के बारे में कई प्रकार के प्रश्न हमारे साथियों के मन में उठते हैं और हमारे साथ मिलकर विचार करने के लिए वे उन प्रश्नों को हमारे सामने रखते हैं। एक प्रश्न यह पूछा गया है कि क्या भूदान-यज्ञ-आन्दोलन भी सत्याग्रह का ही एक रूप है? उस आन्दोलन के प्रणेता विनोबा ने भी हाल में ही यह कहा कि भूदान-यज्ञ-आन्दोलन सत्याग्रह के अनेक रूपों में से एक है। इसलिए जो लोग यह पूछते हैं कि क्या दान और यज्ञ का आन्दोलन यदि पर्याप्त साबित नहीं हुआ, तो विनोबा सत्याग्रह करेंगे? उन लोगों को विनोबा यह जवाब दिया करते हैं कि भूदान-यज्ञ भी सत्याग्रह का ही रूप है।

हमारे मन में सत्याग्रह के अर्थ के विषय में बहुत-से भ्रम हैं, इसलिए विनोबा के इस कथन से हमें ठीक-ठीक बोध नहीं होता। इस विषय पर थोड़ा विचार करने की जरूरत है।

जीवन गतिमान् है

सत्याग्रह एक जीवन-दर्शन है। हमारा जीवन गतिमान् है। अर्थात् वह हमेशा चलता रहता है; रुकता नहीं है। उसे कोई नहीं रोक सकता। इसलिए जितने दर्शनों का जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध होता है, वे कभी रुकते नहीं हैं और परिपूर्ण भी नहीं होते। जिस दिन जीवन रुक जाता है, उस दिन या तो मृत्यु होती है या मुक्ति होती है। जीवन के नष्ट होने को लोग मृत्यु कहते हैं, और उसकी परिपूर्णता को मोक्ष कहते हैं। इसीलिए मोक्ष का पर्यायवाची शब्द अमृतत्व भी है। मौत की तरफ से अमरत्व की तरफ जाने की व्यवस्थित चेष्टा का नाम साधना है। अतः

हमारे लिए जीवन एक सिद्ध वस्तु या बनी-बनायी चीज नहीं है। जब हम पैदा होते हैं, तब अपने साथ कुछ लेकर आते हैं। उसके बाद हम कुछ बनने की लगातार कोशिश करते हैं। हम कुछ हैं और कुछ बनना चाहते हैं। जो कुछ हम बनना चाहते हैं, उसकी तरफ कदम बढ़ाने का नाम ही साधना है। अन्याय के प्रतिकार के क्षेत्र में मनुष्य ने अपने मानवीय गुणों का विकास करने का जो प्रयास किया है, उसीमें से सत्याग्रह का आविष्कार हुआ है।

सत्याग्रह का आविष्कार

यहाँ 'आविष्कार' शब्द उसके दोनों अर्थों में काम में लाया गया है। हिन्दी में 'आविष्कार' शब्द का प्रचलित अर्थ है 'खोज' या 'शोध', जिसे अंग्रेजी में 'डिस्कवरी' कहते हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में 'आविष्कार' का अर्थ है 'प्रकट होना', 'बाहर दिखाई देना', 'अभिव्यक्त होना'। अंग्रेजी में भी 'डिस्कवर' शब्द का दूसरा अर्थ है 'अपने आपको प्रकट करना', 'दृष्टिगोचर होना'। सत्याग्रह इन दोनों अर्थों में 'आविष्कार' है। वह एक नया शोध भी है और उसके द्वारा हमारा जीवन अधिक प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त भी होता है।

'प्रतिकार' का अर्थ

'प्रतिकार' शब्द के विषय में भी हमारी बुद्धि स्पष्ट होनी चाहिए। संस्कृत भाषा में 'प्रतिकार' का अर्थ 'जवाब में या बदले में कोई काम करना', इतना ही है। किसी ने हमारा उपकार किया हो और उसके बदले में हम उसकी कोई भलाई करें, तो वह भी प्रतिकार ही है। मतलब यह कि प्रतिकार के मूल अर्थ में केवल विरोध का समावेश नहीं होता। प्रतिकार सहयोगात्मक भी होता है और विरोधात्मक भी। दूसरे के अन्याय या बुरे काम का जब हम विरोध करते हैं, तब भी असल में हमारा विरोध उस व्यक्ति के लिए सहयोगात्मक होना चाहिए। विरोधात्मक सत्याग्रह का उद्देश्य और उसकी प्रेरणा सहयोगात्मक ही होती है। इसीलिए सामुदायिक सत्याग्रह के आद्य प्रवर्तक गांधीजी आग्रहपूर्वक

और विश्वासपूर्वक कहा करते थे कि सत्याग्रह प्रेममूलक और सेवामय होता है, इसीलिए उसमें उभय कल्याणकारिता का अद्वितीय लक्षण है।

सहयोगात्मक प्रतिकार

अब सुबुद्ध पाठकों को यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि विनोबा भूदान-यज्ञ को सत्याग्रह का रूप क्यों कहते हैं। बुराई के निवारण के लिए जो-कुछ किया जाता है, वह सब प्रतिकार ही है। चाहे वह फिर सहयोगात्मक हो या विरोधात्मक। बुरा काम करनेवाला व्यक्ति जब बुराई को ही अपना स्वत्व मान लेता है, तो वह उसके प्रतिकार में सहयोग नहीं देता। अपनी बुराई का ही समर्थन और परीक्षण करने में सारी शक्ति लगा देता है। ऐसा व्यक्ति सत्याग्रही को अपना प्रतिपक्षी भले ही माने, परन्तु सत्याग्रही उसे अपना प्रतिपक्षी नहीं मान सकता। वह तो अपने को उसका सहयोगी ही मानता है। जब वह विरोध करता है, तब भी वस्तु-विशेष और कृति-विशेष का विरोध करता है, न कि व्यक्ति-विशेष का।

सत्याग्रह की विशेषता

इस दृष्टि से भूदान-यज्ञ-आन्दोलन केवल कष्ट-निवारण और दुःख-निवारण का आन्दोलन नहीं है। वह सत्याग्रही क्रान्ति की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आज का अमीर अपनी अमीरी को अपनी बीमारी नहीं मानता। वह दुष्ट नहीं है। लेकिन दोष को ही अपना स्वत्व मानने लगा है। अपरिमित परिग्रह की प्रवृत्ति और कौटुंबिक तथा वैयक्तिक स्वामित्व को ही वह अपना स्वत्व समझता है। इसलिए वह सहज तत्परता से अमीरी और गरीबी के निराकरण में सहयोग नहीं देता। कभी हिचकता है, कभी आनाकानी करता है, कभी हीले-हवाले करता है। सोचता है, आज की मौत कल तक तो टली। हमें उसके दोष के निवारण के लिए ऐसी प्रक्रिया खोजनी चाहिए और विकसित करनी चाहिए, जिससे कि उसके दोष-निवारण के साथ-साथ उसका हृदय-परिवर्तन भी हो और अन्त में वह हमारी सफलता को अपनी सफलता समझने लगे। सत्याग्रह की प्रक्रिया में यह अन्यतम विशेषता है कि उसमें एक की जीत

और दूसरे की हार नहीं होती। दोनों पक्षों की विजय होती है। अमीरी और गरीबी के निवारण में गरीब की सफलता को अमीर भी जब अपनी सफलता समझने लगेगा तो उसका हृदय-परिवर्तन होगा और वह गरीब का सहयोगी बन जायगा।

हृदय-परिवर्तन का आरंभ

परन्तु जब तक हमारा अपना हृदय-परिवर्तन नहीं होता है, तब तक हमारा विरोध सत्याग्रह नहीं हो सकता। गरीब के हृदय-परिवर्तन के बिना उसके सत्याग्रह का परिणाम अमीर के हृदय-परिवर्तन में कभी नहीं होगा। अगर गरीब का हृदय-परिवर्तन नहीं होगा तो गरीबी और अमीरी भी किसी हालत में खत्म नहीं होगी। हमें अपना दिल टटोलकर अपने आपसे यह पूछना चाहिए कि क्या हम सिर्फ अपनी गरीबी का निवारण करना चाहते हैं या समाज में से गरीबी और अमीरी के भेद का, याने आर्थिक विषमता का, ही निवारण करना चाहते हैं? अगर हमारी नीयत सिर्फ अपनी गरीबी के निवारण की है, तो हमारी मनोवृत्ति अमीर की मनोवृत्ति से भिन्न नहीं है। वह धनाढ्य है और हम धनाकांक्षी हैं। दोनों में धनतृष्णा और लोभ समान रूप से विद्यमान हैं। जो खुद अमीर बनना चाहता है, वह यह नहीं चाहता कि दुनिया में गरीब कोई न रहे। वह तो इतना ही चाहता है कि मैं गरीब न रहूँ। यह मनोवृत्ति क्रान्तिकारक भूमिका के सर्वथा प्रतिकूल है। इसलिए अमीर के हृदय-परिवर्तन की अनिवार्य शर्त यह है कि पहले गरीब का हृदय-परिवर्तन हो।

गरीब की जिम्मेदारी

भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में इसकी योजना है। गरीबों के पास अत्यल्प परिग्रह है, उनकी मिलकियत बहुत ही थोड़ी है। फिर भी उन्हें अपने परिग्रह से मोह है और अपनी मिलकियत बढ़ाने की निरन्तर चिन्ता है। गरीबी और अमीरी के निवारण में आखिर हमारा उद्देश्य क्या है? क्रान्ति के बाद भी समाज में कुछ दुष्ट व्यक्ति सम्भवतः रहेंगे। परन्तु जो समाज हम कायम करेंगे उसकी रचना में दुष्टता के प्रयोग के लिए कम-से-कम अवसर होगा तथा गरीबी और अमीरी के लिए कोई मौका

नहीं रहेगा। वर्गहीन समाज-व्यवस्था का यह प्रथम लक्षण है। ऐसी व्यवस्था कायम करने की आकांक्षा और आवश्यकता आज अमीरों की अपेक्षा गरीबों को ज्यादा महसूस होती है, इसलिए गरीब अपनी परिस्थिति में परिवर्तन चाहता है और अमीर उसको अधिक-से-अधिक समय तक बनाये रखना चाहता है। अतएव क्रान्ति की जिम्मेदारी गरीब पर आ जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि परिग्रह और कौटुम्बिक तथा निजी सम्पत्ति के विसर्जन में पहला कदम गरीब को उठाना चाहिए। गरीब जब अपने अत्यल्प परिग्रह का उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो जायगा, तो समाज में अपरिग्रह की भूमिका का निर्माण होगा। उसके मन में एक ऐसी अर्थ-रचना स्थापित करने की आकांक्षा होगी, जिसमें थोड़े-से मालिक और अधिकांश स्वामित्वहीन मजदूर नहीं रह सकेंगे।

मालकियत का विसर्जन

अगर मालकियत सबको बाँट दी जायगी तो सब फुटकर मालिक बन जायेंगे। ऐसी मालकियत 'गुनाह बेलज्जत' साबित होगी। इसलिए मालकियत के विसर्जन का लक्ष्य ही गरीब को अपने सामने रखना होगा। उसकी इस मनोवृत्ति का प्रमाण यह होगा कि वह अपनी मालकियत के विसर्जन से ही आरम्भ करता है। इस हृदय-परिवर्तन की दीक्षा भूदान-यज्ञ-आन्दोलन के द्वारा आज गरीबों को मिल रही है। इसलिए विनोबा ने कहा कि मेरा आन्दोलन भिक्षा का समारोह नहीं है, क्रान्ति की दीक्षा देने का दिव्य पर्व है।

भूदान सत्याग्रह का ही रूप है

भूदान-यज्ञ आन्दोलन क्रान्ति की प्रक्रिया का उपक्रम है और सत्याग्रही प्रतिकार-नीति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। यदि देश के सभी क्रांतिप्रिय और क्रांतिप्रवण लोग उसकी इस अर्थ-व्याप्ति को समझने की कोशिश करें, तो इस देश में एक ऐसी क्रान्ति सिद्ध होगी, जो मानव-मात्र के लिए पदार्थ-पाठ उपस्थित करेगी और संत्रस्त दुनिया को आशा का संदेश देगी।

● ● ●

: ९ :

नये युग की स्त्री के लिए सुयोग

'दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह' नामक अपनी पुस्तक में गांधीजी ने 'पैसिव रेजिस्टेंस' (अप्रत्यक्ष प्रतिकार) और 'सत्याग्रह' के फर्क का विस्तृत विवेचन किया है। पैसिव रेजिस्टेंस की मिसाल के तौर पर इंग्लैंड के स्त्री-मताधिकार-आन्दोलन का जिक्र उन्होंने किया है। स्त्रियाँ पुरुषों के मुकाबले में कमजोर और निःशस्त्र हैं। वे सशस्त्र-विद्रोह या बाहुबल का प्रयोग नहीं कर सकतीं। इसलिए उन्होंने अप्रत्यक्ष प्रतिकार की शरण ली। अर्थात् जहाँ शस्त्रबल असाध्य हो, वहीं पर निःशस्त्र प्रतिकार को प्रशस्त और उपादेय माना गया है। उसे शस्त्र-प्रयोग की अपेक्षा गौण समझा गया।

तुल्यबल व तुल्यसत्त्व जीवन

सत्याग्रह और अप्रत्यक्ष प्रतिकार में यह मूलभूत फर्क है कि सत्याग्रह शस्त्र-प्रयोग की अपेक्षा गौण नहीं माना गया, बल्कि उससे श्रेष्ठ और अधिक कार्यक्षम माना गया है। वह उनके लिए भी है, जिनको शस्त्रबल सहज-प्राप्त और सहज-साध्य है, और उनके लिए भी है, जिनके हाथों में हथियार नहीं है। हथियार मिलना असम्भव है, हथियार मिल नहीं सकते, या हथियारों से काम लेने की ताकत नहीं है, इसलिए जो सत्याग्रह की शरण लेते हैं, उनका भरोसा और निष्ठा तो हथियार में ही होती है। इसलिए उनके सत्याग्रह में तेज और सामर्थ्य नहीं होती। मनुष्य को यह भ्रम हो गया है कि शक्ति शरीर में और हथियार में होती है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री के मन में यह भ्रम कहीं अधिक मात्रा में पाया जाता है। इसलिए वह अपने को पुरुष के सामने और उसकी तुलना में निर्बल तथा

निःसत्त्व समझती है। जब तक यह भ्रम स्त्री के मन में रहेगा, तब तक उसे स्वतन्त्र जीवन का आस्वाद नहीं मिलेगा। उसका जीवन और स्वतन्त्रता पुरुष की दी हुई होगी और दूसरे की दी हुई आजादी नकली, बनावटी और नाममात्र की होती है। असल में वह गुलामी ही होती है। जब तक यह हालत रहेगी, तब तक स्त्री पुरुष से तुल्य-बल और तुल्य-सत्त्व-जीवन की पात्रता नहीं प्राप्त कर सकेगी।

सचाई यह है कि मनुष्य की वीरता और उसकी शक्ति हथियारों में या उसके डील-डौल में नहीं होती। दुनिया के सभी वीर पुरुष अपने जमाने के सबसे अधिक विशालकाय या सबसे अधिक शस्त्र-सुसज्जित नहीं थे। रावण से राम का कद कहीं छोटा था और उनके हाथ भी दो ही थे। कंस से कृष्ण का आकार कहीं छोटा था। तिलक, गांधी, जवाहरलाल या नेताजी सुभाषचन्द्र बोस अपने जमाने के बहुत बड़े मल्ल या शस्त्रविशारद व्यक्ति नहीं माने गये। फिर भी उनकी वीरता और साहस के सभी लोग कायल हैं। स्त्रियाँ अगर इस तत्त्व को समझ लें और वह उनके दिल में जम जाय, तो उनकी कल्पित दुर्बलता एक पल में काफूर हो जायगी।

गांधी के सत्याग्रह का स्त्रियों की दृष्टि से यही अन्यतम महत्त्व है। सत्याग्रही क्रांति में स्त्री के लिए पुरुष की बराबरी से पराक्रम का अवसर है। स्त्री-जीवन की भूमिका और स्त्री के व्यक्तित्व के मूल में सत्याग्रही प्रक्रिया से जो क्रांति हो सकती है, वह बाहुबल पर आधार रखनेवाली किसी प्रक्रिया से कतई नहीं हो सकती। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन की भी यही विशेषता है।

स्त्री-जीवन का स्वयंप्रतिष्ठित जीवन

शस्त्र और सम्पत्ति, जीवन-रक्षण तथा जीवन-निर्वाह के प्रमुख साधन माने गये हैं। जिसके हाथ में हथियार हो, वह अपनी और दूसरों की हिफाजत कर सकता है। इसलिए शस्त्र-धारी वीर पुरुष को अपना स्वत्त्व-

समर्पण करने में स्त्री अपने आपको धन्य मानती है। कांचन समृद्धि का प्रतीक माना गया है। जिसके पास सोना-चांदी है, उसे सुख और वैभव के साधन आसानी से मिल सकते हैं। इसीलिए स्त्री धनवान पुरुष को भी अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए लालायित रहती है। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि जब कभी किसी पिता को अपनी कन्या के लिए वर खोजना होता है, तो अक्सर वह वर के हृदय तथा बुद्धि के गुणों की अपेक्षा उसकी भौतिक सम्पत्ति का विचार अधिक करता है। जो सम्पत्तिमान होगा और कांचनयुक्त होगा, वह स्त्री को अधिक सुख तथा आराम दे सकेगा। परिणाम यह हुआ कि स्त्री वैभवाकांक्षी बन गयी है। यह दोष स्त्री के हृदय और भावना में उतना नहीं है, जितना कि उसकी भूमिका और सामाजिक परिस्थिति में है। सामाजिक मूल्यों में आमूलाग्र परिवर्तन करनेवाले आन्दोलन ही स्त्री-जीवन का मूल्य समाज में प्रतिष्ठित कर सकते हैं।

जब हम लड़कियों के स्कूलों तथा कालेजों में जाते हैं, तो प्रायः सभी लड़कियों के मुँह से आर्थिक क्रांति के गीत और आर्थिक क्रांति के उद्गार सुनते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि इनमें से बहुतेरी लड़कियाँ अपने लिए ऐसा पति-गृह पसन्द करेंगी, जो कांचनसम्पन्न हो। यह विरोध जब तक सामाजिक परिस्थिति में विद्यमान है, तब तक स्त्री के लिए स्वयं-प्रतिष्ठित जीवन किसी भी संविधान से या कानून से प्रस्थापित नहीं हो सकता।

नारी के लिए अपूर्व सुयोग

कांचन-मुक्ति की क्रांति का आन्दोलन स्त्री के लिए स्वायत्त जीवन की पात्रता संपादन करने का सुयोग है। शस्त्र और कांचन की सत्ता का मूल्य समाप्त हो जाने पर स्त्री को पुरुष के साथ समान भूमिका प्राप्त हो जाती है। इस दृष्टि से हमारे देश की सभी स्त्रियाँ अगर भूदान-यज्ञ में सक्रिय भाग लेंगी, तो उनकी नागरिकता और राजनैतिक स्वतंत्रता,

मानवीय सामर्थ्य तथा गुणाश्रित पात्रता से सम्पन्न होगी। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में जो कांचन-मुक्ति का संकेत है, वह केवल गरीब और अमीर को ही समान धरातल पर नहीं लायेगा, बल्कि स्त्री और पुरुष में भी जो संस्कारजन्य तथा परिस्थितिजन्य कृत्रिम विषमता है, उसका भी पूर्ण रूप से निराकरण करेगा। नये युग की स्त्री के लिए भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में एक अनूठा संकेत है, अपूर्व सुयोग है और अनिवार्य आवाहन है।

: १० :

संपत्ति-दान का क्रांतिकारी कदम

विनोबा ने जब यह विचार प्रकट किया कि वे सम्पत्तिमानों से उनकी सम्पत्ति का छठा हिस्सा भी मांगना चाहते हैं, तो पहले-पहल वह विचार कुछ अटपटा और असंगत-सा मालूम हुआ। भूदान-यज्ञ में केवल भूमि के बंटवारे की कल्पना नहीं है। उसका मूलभूत संकेत क्रांतिकारी है। जिनके पास जमीन नहीं है, उनको जमीन दे देना ही उसका उद्देश्य नहीं है। जिनके पास जमीन नहीं है और फिर भी जो जमीन जोतना चाहते हैं, जोतना जानते हैं या जोत रहे हैं, ऐसे उत्पादकों को जमीन दिलाना उस आंदोलन का प्रधान उद्देश्य है। किसके पास कितनी कम या अधिक जमीन है, यह सवाल नहीं है। भूमिदान-यज्ञ का मूलभूत उद्देश्य यह है कि उत्पादन का साधन उत्पादक के हाथों में होना चाहिए।

कांचन-मुक्ति—क्रांतिकारी संकल्प

इसलिए यह आन्दोलन पैसे की प्रतिष्ठा का अन्त करनेवाला आंदोलन है और उत्पादक परिश्रम की सत्ता स्थापित करनेवाला आन्दोलन है। उसमें विनोबा किसी को उपभोग्य वस्तु नहीं दिलाते, उपभोग्य वस्तु खरीदने का साधन भी नहीं दिलाते; बल्कि उत्पादन का ही साधन दिलाते हैं। इसलिए जब उन्होंने कहा कि मैं किसी से पैसा नहीं लूँगा और जो मेरी मदद करना चाहता है, वह उत्पादन के साधन या उत्पादन के औजार खरीद कर दे, तब उन्होंने एक अद्भुत क्रांतिकारी संकल्प किया। उपभोग की वस्तु या उपभोग की वस्तु खरीदने का साधन दूसरे से ले लेने में हम देनेवाले का उपकार लेते हैं। लेनेवाले की भूमिका गौण हो जाती है। लेकिन उत्पादन का या परिश्रम का साधन किसी को देने में हम उसे उपकृत नहीं करते।

द्रव्यदान का दोष

यह न्याय सम्पत्ति के लिए लागू नहीं है। सम्पत्ति के उपार्जन में शोषण अनिवार्य है। जो व्यक्ति बड़े-बड़े कारखाने चलाकर मजदूरों का शोषण करता है, वह यदि हमको अपनी सम्पत्ति का छठा हिस्सा दे देता है, तो एक तरह से मौजूदा सामाजिक परिस्थिति को बनाये रखने के लिए मानो हमसे सम्मति चाहता है। वह अपने कारखाने का छठा हिस्सा तो हमें नहीं देता, मजदूरों का शोषण भी किसी तरह कम नहीं करता, मुनाफाखोरी बढ़ाता ही चला जाता है और जितना कमाता है, उसका छठा हिस्सा हमें देता चला जाता है। इस प्रकार के दान में से व्यक्तिगत पुण्य-संपादन भले ही हो; लेकिन आर्थिक विषमता का अन्त कदापि नहीं हो सकता।

पापमूलक दान

विनोबा उसकी रकम का ट्रस्टी उसीको बना देते हैं, इसलिए इसमें निधि की व्यवस्था का सवाल नहीं उठता। उसके दुरुपयोग की भी सम्भावना कम हो जाती है। परन्तु दाता की भूमिका में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार का दान समाज की अर्थ-व्यवस्था बदल देने का साधन नहीं बन सकता। एक नर्तकी है, वेश्या है और एक शराब का दूकानदार है। वे भी अपनी कमाई का छठा हिस्सा विनोबा को दे सकते हैं—प्रायश्चित्त के रूप में नहीं, किन्तु व्यक्तिगत पुण्य-संपादन के लिए। प्रशस्त और उपयुक्त उद्योग करनेवाले जिस प्रकार अपनी कमाई में से दान-धर्म करते हैं, उसी तरह से ये भी करेंगे। चोर भी अपने चोरी के माल में से देवी को भोग चढ़ाते हैं, शोषण करनेवाले भी मन्दिर, तालाब और धर्मशालाएँ बनवाकर दानवीर बन जाते हैं।

वास्तविक उद्देश्य

तो फिर विनोबा के इस नये संकेत का क्या अर्थ है? वे यह कहते हैं कि इस सम्पत्ति का विनियोग उनके निर्देश के अनुसार किया जायगा।

दाता की राय भी पूछी जायगी; लेकिन निर्णय विनोबा करेंगे। यदि कोई कारखानेदार उनके आदेश के अनुसार हर साल अपनी सम्पत्ति का छठा हिस्सा देगा, तो वे उससे कह सकते हैं कि कारखाने के मजदूरों के लिए अधिक-से-अधिक स्वास्थ्य तथा सांस्कृतिक विकास के साधन इस रकम में से प्रस्तुत कर दो और धीरे-धीरे अपना कारखाना ही मुझे सौंप दो। साहूकार से वे कह सकते हैं कि जो रकम मेरे नाम की है, उसमें से उत्पादन के अमुक साधन और खेती के फलाने औजार खरीद दो। परन्तु इसके साथ-साथ उन्हें यह भी कहना होगा कि इस प्रकार का पैसा कमाना या सम्पत्ति का उपार्जन करना ही पापमय है, इसलिए धीरे-धीरे इस रोजगार को ही तुम बन्द कर दो। अगर कोई सटोरिया उन्हें छठा हिस्सा दे देता है, तो वे उससे कहेंगे कि तेरा रोजगार ही पापमय है। उसके प्रायश्चित्त के लिए अगर तू मुझे छठा हिस्सा देता है, तो शीघ्र-से-शीघ्र तुझे इस पापमय व्यवसाय को ही छोड़ देना चाहिए।

अनुत्पादक व्यवसाय का ही विसर्जन

सम्पत्ति के छठे हिस्से के दान में केवल सम्पत्ति के ही विसर्जन की भावना नहीं होगी, अपितु अनुत्पादक व्यवसाय के ही विसर्जन की भावना होगी। चाहे जैसे भले-बुरे मार्ग से सम्पत्ति का उपार्जन कर लिया और उसका छठा हिस्सा भर विनोबा को देकर पुण्यात्मा की प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली, ऐसी अगर किसी की धारणा हो, तो वह विनोबा के संकेत को नहीं समझा है। सम्पत्ति के अपने हिस्से के विनियोग के विषय में विनोबा जब निर्देश देने लगेंगे, उस वक्त उनके संकेत का पूरा-पूरा अर्थ इन दानियों पर और जनता पर प्रकट होगा।

अखंड दान की प्रक्रिया

भूदान-यज्ञ के बारे में भी कुछ लोगों को यह भ्रम है कि बड़े-बड़े जमींदार अपनी जमीन का छठा हिस्सा देकर बचे हुए पाँच हिस्सों का आराम के साथ उपभोग करते रहेंगे। जो लोग ऐसा मानते हैं, उनकी

समझ में भूदानयज्ञ-आन्दोलन की भूमिका ही नहीं आयी है। भूदान-यज्ञ में सम्पत्ति और स्वामित्व के विसर्जन का संकेत है। जो आज छठा हिस्सा देगा, वह कल उससे अधिक देगा और जब तक अपनी संपत्ति का विसर्जन नहीं करेगा, तब तक देता ही चला जायेगा। अन्यथा भूदान-यज्ञ के द्वारा अहिंसक प्रक्रिया से भूमि का संविभाजन कैसे हो सकता है?

संकेत के फलितार्थ

इसी संदर्भ में हमें विनोबा के इस नये कदम को देखना और समझना चाहिए। समाज-विघातक और नीति-विरोधी व्यवसाय करनेवाले भी अपनी आमदनी का छठा हिस्सा देकर प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकते। छठे हिस्से के उस दान में यह संकेत है कि हम अनुत्पादक व्यवसायों का ही विसर्जन करना चाहते हैं। विनोबा के इस नये संकेत का संपूर्ण अर्थ ज्यों-ज्यों प्रकट होगा त्यों-त्यों लोग उसकी पूरी संभावनाओं से परिचित होते जायेंगे।

: ११ :

संपत्ति-दान-यज्ञ का सर्वस्पर्शी स्वरूप

विनोबा के आन्दोलन में महावाक्यों की तरह दो मंत्रों का बार-बार उच्चारण किया जाता है। एक है, "सबै भूमि गोपाल की" और दूसरा, "सब सम्पति रघुपति कै आही।" दान-यज्ञ-आन्दोलन का संबंध पहले महाकाव्य से है। भूमि भगवान् की बनायी हुई है, वह सृष्टि की एक विभूति है, इसलिए उसपर मनुष्य का स्वामित्व नहीं होना चाहिए। अन्न उपजाने के लिए जो उसपर पुरुषार्थ कर सकता है, उसे उत्पादन का अधिकार मिलना चाहिए। अनुत्पादक का अधिकार जड़-मूल से खत्म होना चाहिए। भू-दान-यज्ञ-आन्दोलन का यह थोड़े में तात्पर्य है।

पुण्यमय आयोजन

परन्तु जो सम्पत्ति श्रम से पैदा होती है, उस पर स्वामित्व किसका हो, यह प्रश्न फिर भी बाकी रह जाता है। जो जितनी सम्पत्ति का उत्पादन करता है, उस सब पर, या उतनी ही पर, क्या उसका अधिकार होगा? यदि ऐसा होगा तो वर्ग-निराकरण होने पर भी आर्थिक असमानता का निराकरण नहीं हो सकेगा। इसलिए विनोबा ने सम्पत्ति-दान-यज्ञ का पुण्यमय आयोजन किया है।

भूदान जिस प्रकार गरीब और अमीर, सबके लिए है, उसी प्रकार सम्पत्ति-दान-यज्ञ भी गरीब और अमीर, सबके लिए है। जिसके पास प्रचुरता है और वैभव है, वह अपने वैभव के विसर्जन के लिए सम्पत्ति-दान करे, और जिसके पास अभाव है, वह अपने अभाव में ही सारे समाज को शामिल करे। विनोबा ने तो यहाँ तक कहा है कि जो भूखा है, वह अपनी भूख का भी हमें दान करे। वह केवल शब्दालंकार नहीं है। उनकी

यह माँग, उनके आन्दोलन के पीछे ज्यो व्यापक दर्शन है, उसकी द्योतक है।

दुःख-दारिद्र्य में भी हिस्सा

विद्यार्थी-दशा में एक पाठ्य-पुस्तक में पढ़ी हुई एक कहानी यहाँ याद आती है। एक मछुवा एक अत्यन्त दुर्लभ जाति की मछली लेकर राजमहल के महाद्वार पर पहुँचा। दरबान ने उसे रोका। मछुवा गिड़-गिड़ाने लगा। दरबान ने कहा—"मछली अनोखी है। किस्मत से ही कभी मयस्सर होती है। तुम्हारे तो भाग खुल गये। जो कुछ दाम मिलेंगे, उनमें से आधे मुझे दोगे तो भीतर जाने दूँगा।" मछुवे ने वादा किया और भीतर गया।

मछली देखकर राजा निहायत खुश हुआ। मछुवे से कहा—"मन-माने दाम माँग लो।" मछुवा बोला—"महाराज! नंगी पीठ पर सौ कोड़ों की माँग है, और कुछ मुराद नहीं।" राजा दंग रह गया। अचरज का ठिकाना नहीं रहा। पूछा—"क्या यह मछुवा बौरा गया है?" मछुवे ने कहा—"महाराज! गरीब की तमन्ना पूरी हो।" राजा ने सिपाही से कहा—"इसे धीरे-धीरे सौ कोड़े लगाओ।" पचास तक गिनती पहुँचते ही मछुवा चिल्ला उठा—"ठहरो-ठहरो, इस सौदे में मेरा एक हिस्सेदार भी है!"

राजा और भी ताज्जुब में डूब गया। पूछा—"कौन तुम्हारा साझे-दार है?" मछुवा बोला—"महाराज! आपके महल का पहरुआ।" मछुवे ने सारा हाल सुनाया। राजा के क्रोध का पारावार न रहा। दरबान बुलाया गया और कसकर पचास कोड़े उसकी नंगी पीठ पर मारे गये।

सम्पत्ति दान-यज्ञ : एक प्रक्रिया

विनोबा के सम्पत्ति-दान-यज्ञ का एक पहलू यह भी है। वे दलित और दरिद्री मानव के दुःख, दारिद्र्य और बेकारी में भी सह-भागी होना जब चाहते हैं। बेकारी बँटेगी, तभी तो काम भी बँटेगा। जो बिलकुल

श्रम नहीं करते और कौटुम्बिक अधिकार से या परम्परा से साधन-सम्पन्न हैं, उन सबकी सम्पत्ति को विनोबा ने 'विपत्ति' की उपाधि दी है। अनुत्पादकों की सम्पत्ति का सम्पूर्ण विसर्जन और अनुत्पादक व्यवसायों का निराकरण सम्पत्ति-दान-यज्ञ का लक्ष्य है। इसलिए उन्होंने सम्पत्ति-दान-यज्ञ के लिए यह शर्त रखी है कि सम्पत्ति के जिस अंश का दान होगा, वह **'विनोबा के निर्देश के अनुसार'** खर्च किया जायगा। इस शर्त में उनके आन्दोलन की पकड़ है। वे कहते हैं कि "इस शर्त के द्वारा सम्पत्तिवालों के जीवन में मेरा चंचु-प्रवेश होता है। पहले मैं उससे सम्पत्ति-दान का संकल्प कराऊँगा और उसके पश्चात् तुरन्त साधन-शुद्धि का आग्रह रखूँगा। सम्पत्ति के उपार्जन के उसके जो साधन और मार्ग होंगे, उनका भी शुद्धीकरण दाता को करना होगा।" इस तरह यह सम्पत्ति-दान-यज्ञ भी एक प्रसंग नहीं, बल्कि एक प्रक्रिया है, जो शीघ्र-से-शीघ्र सम्पत्ति के विसर्जन का वातावरण बनाने में सफल होगी।

धन-संग्रह पाप, सम्पत्ति-दान प्रायश्चित

आज तो वे इतना ही कहते हैं कि जिस किसी के पास थोड़ा या बहुत संग्रह है, वह उसका एक अंश, यथासम्भव षष्ठांश, सम्पत्ति-दान में देना शुरू कर दे। अभिप्राय यह है कि वह अपने आपको उस संग्रह का मालिक न समझे, थातीदार समझे। उसके पास जो संग्रह हो गया है, वह असल में उपयुक्त नहीं है। इसलिए उस संग्रह को बढ़ाना नहीं है, वरन् जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी समाप्त कर देना है। संग्रह का विसर्जन अपरिग्रही समाज की स्थापना के लिए है। सम्पत्ति-दान में यदि इस मूलभूत तत्त्व का विचार नहीं किया गया, तो क्रान्ति की प्रक्रिया में उसका कोई स्थान नहीं रह सकता।

धन-संग्रह पाप है और सम्पत्ति-दान उस पाप का प्रायश्चित है। जो संग्रह अनुत्पादक और अनुपयुक्त व्यवसायों के द्वारा किया गया है, उसे यदि पापपुंज कहा जाय, तो वह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अनुत्पादक व्यवसाय दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। एक वे, जो मनुष्य के शारीरिक

तथा मानसिक दोषों पर चलते हैं, जैसे बीमारी पर चलनेवाले, गुनाहों पर चलनेवाले और व्यसनों पर चलनेवाले व्यवसाय। दूसरी श्रेणी में वे व्यवसाय आते हैं, जो ब्याज, किराया, ठेका और दलाली पर चलते हैं। जब तक समाज में ये व्यवसाय चलेंगे, तबतक एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के संकट और दोष से लाभ उठाता रहेगा। यही शोषण की जड़ है। इन पेशों और रोजगारों से जो आमदनी होती है, उसका भी एक अंश विनोबा को लोग देना चाहेंगे। लेकिन एक तरफ वे अपनी कमाई बढ़ाते रहें, और दूसरी तरफ विनोबा को द्रव्य-दान देते रहें, तो उनके उस दान से न तो उनकी अपनी नैतिक उन्नति होगी और न समाज-कल्याण ही होगा। होना यह चाहिए कि इन व्यवसायों की तरफ से उनका रुख ही बदल जाय और उसकी 'अभिशा' या 'सहदानी' के रूप में वे सम्पत्ति-दान करें।

अर्थ-शुचित्व और साधन-शुद्धि

विनोबा ने अपने एक भाषण में कहा था कि वे अब अपरिग्रह के व्रत को व्यक्तिगत गुण के रूप में ही नहीं देखना चाहते, बल्कि उसका विकास एक सामाजिक मूल्य के रूप में करना चाहते हैं। व्यक्तिगत गुण का रूपान्तर जब सामाजिक मूल्य के रूप में होता है, तब उसमें समाज-क्रान्ति की शक्ति पैदा होती है। सम्पत्ति-दान की परिपूर्ति शीघ्र-से-शीघ्र समाज-विरोधी तथा अनुत्पादक व्यवसायों के निराकरण में होनी चाहिए। इसलिए विनोबा किसी से एकमुश्त द्रव्य-दान नहीं लेते। पाँच साल से कम अवधि के लिए सम्पत्ति-दान का संकल्प-पत्र भी स्वीकार नहीं करते। उपभोग की वस्तुओं का दान स्वीकार करने में भी वे यह तर-तमभाव और विवेक रखते हैं। उदाहरण के लिए अफीम या गाँजे का कोई ठेकेदार उन पदार्थों का दान करना चाहे, या अपनी आमदनी का एक हिस्सा जिंदगी भर उनको देना चाहे, तो भी वे उसे लेने से इनकार कर देंगे। उदाहरण के लिए कोई तमाखू, बीड़ी या सिगरेट का दान-पत्र शुरू कर दे, तो वे उसका विरोध करेंगे। कम-से-कम वे उसे सम्पत्ति-दान

नहीं कहेंगे। सम्पत्ति-दान में अर्थ-शुचित्व और जीविका के शुद्धीकरण का अभिप्राय मूलभूत है।

ट्रस्टीशिप का प्रत्यक्षीकरण

गांधीजी द्वारा प्रतिपादित ट्रस्टीशिप के सिद्धांत का व्यापक विनियोग विनोबा संपत्ति-दान-यज्ञ के रूप में कर रहे हैं। इसीलिए उन्होंने उसे 'यज्ञ' संज्ञा दी है। यज्ञ में बलिदान होता है, कुर्बानी होती है। दान में और यज्ञ में एक मूलभूत अन्तर है। अपनी सारी जरूरतें पूरी तरह से और अपनी सारी इच्छाएँ पर्याप्त मात्रा में पूरी करने पर जो शेष रह जाता है, उसका हम अक्सर दान करते हैं। दान उर्वरित या अतिरिक्त वस्तु का किया जाता है। परन्तु यज्ञ में सर्वस्व की आहुति दी जाती है। चाहे हमारी आवश्यकताएँ पूरी हों या न हों, हम अपनी विपन्नता में से ही यज्ञ में आहुति डालते हैं। नचिकेता के पिता ने विश्वजित-यज्ञ किया। उसके पास सिर्फ क्षीण और शुष्क पयोधरवाली गायें ही रह गयीं थीं। उनका भी उसने दान कर दिया। उसने 'मरी गाय ब्राह्मण को' नहीं दी। जो कुछ था, वही दिया। सम्पन्नता नहीं थी, इसलिए अपनी विपन्नता का ही हविर्भाग दिया। विनोबा कहते हैं, श्रमिको, तुम्हारे पास श्रम-शक्ति है, तुम मुझे उसी का दान दो। अपनी शक्ति का तुम दान करोगे, तो तुम्हारी विपन्नता, तुम्हारा अभाव और तुम्हारी दरिद्रता भी लोक-व्यापी बन जायगी और बँट जायगी। जो तुम्हारे पास है, वह तुम देते हो, तो तुम्हारी जरूरत सबकी जरूरत हो जाती है और तुम्हारी मुसीबत सबकी मुसीबत हो जाती है।

सर्वंकश और मूलग्राही यज्ञ

इस प्रक्रिया में एक बहुत गहन और मूलगामी अभिसंधि है। हमारे सामाजिक जीवन की तह तक पहुँचनेवाला एक गहरा आशय है। आज समाज में जो श्रम-जीवी हैं और उत्पादक हैं, वे भी श्रमनिष्ठ नहीं हैं। उन्हें परिश्रम और उत्पादन में अभिरुचि नहीं है। और जो अनुत्पादक है, वह तो श्रम से परहेज करता ही है। श्रमनिष्ठा के अभाव से उत्पादन

की सामाजिक प्रेरणा कदापि पैदा नहीं हो सकती। इसलिए विनोबा श्रमिकों को भी सम्पत्ति-दान की दीक्षा देते हैं। जो महज मजदूर है और और मालिक नहीं है, उसे वे भूदान की प्रक्रिया की मार्फत उत्पादन के साधनों का मालिक बनाना चाहते हैं, लेकिन साथ-साथ उसे यह दीक्षा भी देना चाहते हैं कि वह अपने परिश्रम से निर्मित वस्तुओं का या अपनी मेहनत की कमाई का मालिक नहीं है। जिस प्रकार करोड़पति और अरबपति, तथा लखपति और सेठ-साहूकार अपनी सम्पत्ति के 'परिरक्षक' हैं, उसी प्रकार एक गरीब मजदूर भी अपनी कमाई का मालिक नहीं है, किन्तु 'परिरक्षक' है। इसलिए वह भी सम्पत्ति-दान करेगा। इतना ही नहीं, जिस भूमिहीन को भूमि दी जायगी, वह भी जब पहली फसल काटेगा, तो, दरिद्रनारायण को भोग चढ़ायेगा। नैवेद्य समर्पण करने में प्रभूत-सम्पत्ति और अत्यल्प-सम्पत्ति का विचार नहीं किया जाता। लकड़हारा भी अपने गाढ़े पसीने की कमाई में से भगवान् के चरणों पर नैवेद्य चढ़ाता है। विनोबा का संपत्ति-दान-यज्ञ इतना सर्वंकश और मूलग्राही है।

संपत्ति-दान का रूप : नैमित्तिक और नित्य

इस सम्पत्ति-दान-यज्ञ के दो पहलू हैं। जब तक अमीरी और गरीबी का निराकरण नहीं हुआ है, तब तक, और तभी तक, के लिए हरेक सम्पत्तिधारी अपने आपको केवल 'न्यासरक्षक' (ट्रस्टी) समझे। किसी तरह उसके पास जनता की धरोहर इकट्ठी हो गयी है। वह उसे संभाल कर शीघ्र-से-शीघ्र वर्ग-निराकरण की क्रांति के काम में लगा दे। इस प्रकार अमीरों का सम्पत्ति-दान-यज्ञ केवल संक्रमण-काल के लिए है। वह संधि-काल का परम धर्म है।

कोई यह न समझे कि हम सभी भले-बुरे उपायों से धन कमाते जायेंगे और विनोबा के सम्पत्ति-दान-यज्ञ में अपनी सहूलियत के मुताबिक दान देकर इह-लोक में कीर्ति और पर-लोक में सद्गति भी प्राप्त कर लेंगे। पुराने सम्पत्ति-दान में मन्दिर बनवाना, घाट बनवाना, धर्मशालाएँ

बनवाना, अस्पताल और स्कूल खोल देना, इत्यादि-इत्यादि कई तरह के लोक-कल्याणकारी कामों का समावेश होता था। विनोबा का सम्पत्ति-दान-यज्ञ केवल लोक-कल्याणकारी आन्दोलन नहीं है। वह लोक-जीवन में क्रांति करना चाहता है। इसलिए जिस दिन वह सफल होगा, उस दिन न संग्रह के लिए अवसर होगा और न उस प्रकार के दान के लिए अवकाश ही होगा। यह सम्पत्ति-दान असल में भावना और बुद्धि के दान का प्रतीक है। यदि गहराई से सोचा जाय, तो विनोबा जो बुद्धि-दान चाहते हैं, वह भी केवल बुद्धिजीवियों का समय-दान नहीं है, बल्कि परिग्रह की वृत्ति का विसर्जन ही वास्तव में उसका अभीष्ट है।

सम्पत्ति-दान का दूसरा पहलू नित्यधर्म का है। परिश्रम से जो कुछ पैदा होता है, वह सब जन-जनार्दन का है। व्यक्ति के पुरुषार्थ के लिए समाज में उसे जो सुयोग मिलता है वह समाज का दिया हुआ बहुत बड़ा वरदान है। इसलिए अपने पुरुषार्थ के प्रयोग से व्यक्ति जो कुछ निर्माण करता है, उसपर उसे समाज की ही सत्ता स्वीकार करनी चाहिए। उत्पादक का सम्पत्ति-दान-यज्ञ इस नित्य सामाजिक धर्म का प्रतीक है। अपनी आवश्यकता के लिए वह जो कुछ लेता है, वह समाज का प्रसाद है। इस प्रकार वह समाज को अधिक-से-अधिक देता है और उससे कम-से-कम लेता है। इस तरह के सम्पत्ति-दान-यज्ञ में से श्रमनिष्ठा का विकास होता है। श्रमिक की बुद्धि और भावना में परिवर्तन होता है। विनोबा के श्रम-दान-यज्ञ की तरह उनका सम्पत्ति-दान-यज्ञ भी बुद्धि-युक्त है।

जीवन-संशोधन का संकल्प

अस्तेय और अपरिग्रह के व्रतों की सामाजिक मूल्यों के रूप में प्राण-प्रतिष्ठा तभी होगी, जबकि सम्पत्ति और स्वामित्व के प्रति एक बिलकुल नयी वृत्ति छोटे और बड़े मालिकों के तथा गैरमालिक-मजदूरों के चित्त में पैदा होगी। इसके लिए सबसे पहले इस वृत्ति का आविर्भाव और विकास हमारे प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के मन में होना चाहिए।

इस देश के निहत्थे लोगों को जब हथियारबन्द फौजों का मुकाबला करना था, तब गांधी ने उन्हें निःशस्त्र वीरता की प्रक्रिया सिखायी। इस प्रक्रिया का मूलभूत सिद्धांत यह है कि हथियार का मुकाबला हथियार से न किया जाय। सामनेवाले के हाथ में अगर हथियार हो, तो हमारे मन में भी हथियार नहीं होना चाहिए। गांधी ने हमसे कहा कि "नीति के रूप में ही क्यों न हो, अगर निःशस्त्र-प्रतिकार के मार्ग पर चलना चाहते हो, तो हथियार का उपयोग करने की इच्छा सच्चे दिल से छोड़ देनी चाहिए।" इसीलिए हथियारबन्द सिक्ख और हथियार-परस्त पठान चुपचाप हथियारों का प्रहार सहते गये, परन्तु उन्होंने अपने हथियारों का प्रयोग नहीं किया। तात्कालिक नीति के अनुसरण में भी सचाई और ईमानदारी की जरूरत होती है।

अहिंसा के लिए जो नियम लागू था, उससे कहीं अधिक मात्रा में वह नियम अस्तेय और अपरिग्रह के लिए लागू है। मालकियत का मोह और उसकी ममता सिर्फ थोड़ी देर के लिए या नियत अवधि के लिए छोड़ देने से समाज का नक्शा नहीं बदलेगा। स्वामित्व-भावना और सम्पत्ति का लोभ ही जड़मूल से छोड़ देना होगा। सत्याग्रही प्रतिकार की प्रक्रिया की मार्फत गांधीजी ने शस्त्र-सत्ता के निराकरण का एक प्रभाव-शाली प्रयोग किया। भूदान और सम्पत्ति-दान की यज्ञरूप प्रक्रिया के द्वारा विनोबा धन-सत्ता के निराकरण का सफल प्रयोग कर रहे हैं। तात्कालिक नीति के रूप में अहिंसा का स्वीकार करना उस परिस्थिति में पर्याप्त था। परन्तु यहाँ तो संग्रह का विसर्जन और सम्पत्ति का दान सिद्धान्त के रूप में और नित्य अनुष्ठेय धर्माचरण के रूप में ही स्वीकारना पड़ेगा। यह निष्ठा कार्यकर्ताओं में जिस मात्रा में होगी, उसी मात्रा में हमें सफलता प्राप्त होगी। मुख्य प्रश्न वृत्ति का है, और उस वृत्ति के अनुरूप जीवन-संशोधन के संकल्प का है।

: १२ :

भूदान संबंधी शंका-समाधान

भूदान-यज्ञ के बारे में इधर सभी तरह की अजीबो-गरीब बातें कही जाने लगी हैं।

सबसे पहले यह एतराज किया गया है कि भूमिदान गरीबी को बाँटता है—मिटाता नहीं है। असल में सोचने की बात यह है कि क्या गरीबी बँटेगी तो अमीरी बनी रहेगी? देश की सारी गरीबी अगर बँट जाय तो सारी अमीरी भी बँट जायगी। गरीबी और अमीरी, दोनों बँटने के बाद जो सबके लिए समान हालत और हैसियत होगी, उसमें फिर सब मिलकर तरक्की करेंगे। सबको अमीर बनाने का पहला कदम है, गरीबी और अमीरी बाँट लेना। सबको सुखी बनाने का पहला कदम है दुखियों के दुःख में शामिल होना।

भूदान-आन्दोलन का उद्देश्य

भूदान-यज्ञ आन्दोलन का मन्शा असल में मालकियत बाँट देने का है। मालकियत मिटाने का पहला चरण है मालकियत को बाँट देना। इसके लिए मालकियत की बुनियाद ही बदल देनी होगी। आज तो यह हालत है कि मालकियत खरीदी जा सकती है और मालकियत छीनी जा सकती है। उत्पादन का साधन जिसने मोल ले लिया है, वह भी मालिक बन गया है और उत्पादन के साधन पर चाल-बाजी या जोर-जबरदस्ती से जो कब्जा कर सका, वह भी मालिक बन गया है। भूदान में उत्पादक को मालिक बनाने की तजवीज और कोशिश है। यह गरीबी का बँटवारा नहीं है, समाज में से गरीबी की जड़ें खोदने का यह क्रान्तिकारी प्रयास है।

मालकियत के बँटवारे के साथ-साथ भूमिदान में मेहनत का बँटवारा करने की तजवीज भी है। एक वाक्य में भूमि-दान क्रान्ति के पहले कदम के तौर पर मालकियत की बुनियाद बदलता है, श्रमजीवी की भूमिका (हैसियत) बदलता है और मालकियत की तरफ से मालिक-मजदूर दोनों का रुख बदल देता है।

भूमिदान का मंजिले-मकसद यह है कि समाज में मालिक कोई नहीं रहेगा। मालकियत मिटाने के आज तक समाज ने दो तरीके आजमाये हैं। एक अपहरण का और दूसरा जब्ती या कुरकी का। भूमिदान इन दोनों प्रक्रियाओं की जगह नागरिक की स्वयंप्रेरणा जाग्रत करने की कोशिश करता है। भूदान में जो दान की प्रक्रिया है, वह दर असल नागरिकों में सार्वजनिक हित की प्रेरणा या नागरिक वृत्ति जाग्रत करने की प्रक्रिया है। आज जब कि पूँजीवादी वातावरण में जनतंत्र भी सौदे और नीलाम की चीज बन रहा है, नागरिकों में सार्वजनिक-चारित्र्य और सामाजिक सत्प्रेरणा बढ़ाने का रास्ता और कोई नहीं हो सकता। इसलिए दान की यह प्रक्रिया सिर्फ अमीरों तक ही महदूद नहीं है। इसका लक्ष्य नागरिक की मर्जी से और सहयोग से मालकियत का विसर्जन कराना है।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

कहा जाता है कि गांधीजी मालदारों को और दौलतमंदों को थाती-दारी (ट्रस्टीशिप) सिखाते थे। इससे गरीब और अमीर में दोस्ती के ताल्लुकात बने रहते थे। भूदान मजदूरों में मालकियत का जज्बा पैदा करके मालिक-मजदूर में तनाजा बढ़ाता है। इस आक्षेप में ट्रस्टीशिप के बारे में गलतफहमी और खाम-ख्याली है। यह कहना कि गांधीजी अमीरों को अमीर के रूप में और गरीबों को गरीब के रूप में सदा के लिए बनाये रखना चाहते थे, उनकी पवित्र स्मृति का अपमान करना है। दरअसल ट्रस्टीशिप के दो पहलू हैं। जो मालिक हैं, उनके लिए ट्रस्टीशिप की योजना सिर्फ संक्रमण-काल तक सीमित है। हमें माल-कियतका विसर्जन करना है और अहिंसा से करना है। हिंसात्मक या सत्तावादी क्रान्ति में इसके लिए मजदूरों की तानाशाही की आरिजी तजवीज है। गांधीजी की अहिंसक प्रक्रिया में ट्रस्टीशिप है। तुम अपने को मालिक मत समझो, इसका आशय यह है कि मालकियत बढ़ाने की या रखने की नीयत छोड़ दो और उसका शीघ्र से शीघ्र विसर्जन करने की तरफ कदम बढ़ाते जाओ। भूदान ट्रस्टीशिप

विचार को प्रत्यक्ष आचार के क्षेत्र में लाने का क्रान्तिकारी कदम है।

यह समझना भी गलत है कि ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त सिर्फ अमीरों के लिए है। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त जितना अमीरों के लिए है उतना ही गरीबों के लिए भी है। यह उसका दूसरा और शाश्वत पहलू है। जिसके पास दौलत और मालकियत है, वह अगर ट्रस्टी है तो जो श्रम-संपन्न हैं याने मेहनतमंद हैं वह भी ट्रस्टी ही हैं।

नागरिक सुखी पशु न बने

और भी एक दिलचस्प बात कही गयी है कि मजदूर-पेशा व्यक्ति को उसकी मजदूरी के बदले काफी मेहनताना मिलना चाहिए। अगर कोई दयानतदार शख्स यह कहे कि घोड़े को उसकी मेहनत के बदले में भरपूर दाना, पानी और खुराक मिले; ताँगा किसका है और सवारियाँ कौन-कौन-सी हैं, इससे उसे क्या मतलब ? तो हमारे मुँह में ताला पड़ जायगा। इसका हम क्या जवाब दें ? बहुत अदब के साथ इतना अर्ज करेंगे कि लोकशाही में हम नागरिक को सुखी और संतुष्ट पशु नहीं बनाना चाहते, जिम्मेवार और आजाद इन्सान बनाना चाहते हैं।

भ्रामक दलील

यह सवाल भी पूछा जाता है कि सबको समान रूप से विपन्न और दरिद्री बना देने में आखिर आप क्या हासिल करेंगे ? आज जिन लोगों का रहन-सहन कुछ ऊँचा है, उनको भी वहाँ से नीचे उतार देंगे। क्या इसकी बनिस्बत ज्यादा मुनासिब यह नहीं होगा कि हम साधारण नागरिक के जीवन-मान में तरक्की करने की कोशिश करें ? इस दलील में भी एक भयंकर भ्रम छिपा हुआ है। हम यह भूल जाते हैं कि पूँजीवादी संदर्भ में जितना उत्पादन बढ़ता है उतना ज्यादातर विनिमय और विक्रय की प्ररणा से बढ़ता है। चीज या तो बाजार के लिए बनती है या अदल-बदल के लिए। इसलिए सबसे पहले संदर्भ बदलने की कोशिश होनी चाहिए, तब चीजों की इफरात से ही उत्पादक के जीवन-मान में उन्नति होगी। तब तक नहीं। भूदान संदर्भ बदलने की जनतांत्रिक प्रक्रिया है।

इस बात का भी स्मरण रहे कि केवल सुख की सामग्री मिल जाने से ही नागरिक के रहन-सहन की सतह ऊपर नहीं उठती। उसका रुतबा भी बढ़ना चाहिए। हम काम और आराम को बाँटकर उत्पादक परिश्रम के लिए शौक पैदा करना चाहते हैं। हम हर नागरिक को केवल सुखी और सन्तुष्ट व्यक्ति ही नहीं बनाना चाहते, बल्कि स्नेहशील और सहयोगी पड़ोसी भी बनाना चाहते हैं। केवल उत्पादन बढ़ाने से यह सिद्ध नहीं होगा।

भूदान में मालकियत की भावना के निराकरण की तजवीज है। इसका साक्षात्कार जमीन के बँटवारे के वक्त होता है। कुछ लोगों के मन में यह भ्रम है कि बँटवारा करनेवाले लोग समाज में अपनी ताकत और प्रभाव बढ़ाने के लिए अपनी मर्जी के मुताबिक बँटवारा कर सकते हैं। उन्हें शायद इस बात का पता नहीं है कि बँटवारा भूमिहीनों की सर्व-सम्मति से होता है। किसी संस्था, गिरोह या सार्वजनिक सभा के बहुमत से नहीं। और तो और, भूमिहीनों के भी बहुमत से भी नहीं होता। भूमिहीनों का ऐसा एक मत हमने स्वयं कई जगह देखा है। एक-एक भूमिहीन जब अपना अधिकार अपनी मर्जी से छोड़ने के लिए खड़ा होता है तो गरीब के चीथड़ों के भीतर छिपी हुई दिव्य मानवता का साक्षात्कार होता है।

अर्वाचीन संप्रदायवादियों को भूदान में प्रतिगामी वृत्ति की बू मिलती है। उन्होंने यंत्रवाद को विज्ञान-निष्ठा माना है और यंत्र-सत्ता के उत्कर्ष को तथा मानवीय सत्ता के अपकर्ष को आधुनिक सभ्यता का मुख्य लक्षण समझा। यंत्रों के लिए निरपवाद पक्षपात या यंत्रों का निर-पवाद विरोध, दोनों अविवेक के लक्षण हैं। हमारा न यंत्रों से कोई वैर है और न कोई मोहब्बत ही है। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में अगर प्रगतिशीलता है तो क्या उत्पादन के साथ मनुष्य की कला और सौन्दर्य-भावना को जोड़ देने में प्रतिगामित्व है? हमारा इतना ही आग्रह है कि उत्पादक परिश्रम में मनुष्य की कला और उसके गुणों के विकास के लिए भी गुंजाइश हो। परिश्रम में कला और आनन्द मिला देने से क्या वह प्रतिगामी बन जाता है? भूदान-यज्ञ-आन्दोलन जिस सर्वोदय विचार की बुनियाद पर खड़ा है, वह विचार अर्वाचीन-पुरागामी सम्प्रदायों से सांस्कृ-तिक उन्नति की दिशा में आगे कदम बढ़ाता है। इसीलिए परम्परागत प्रगतिवादियों को अटपटा मालूम होता है।

●

नयी तालीम

•

धीरेन्द्र मजूमदार

•

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अ० भा० सर्व-सेवा-संघ
वर्धा (म० प्र०)

पाँचवीं बार : १०,०००
अक्तूबर, १९५५
मूल्य : आठ आना

मुद्रक :
ओम् प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय,
बनारस ४८९३-१२

भूमिका

कस्तूरबा ट्रस्ट के अध्यापिका वर्ग में 'नयी तालीम' पर मेरे भाषणों के नोट वहाँ की बहनों ने लिखकर मुझे दे दिये थे, परंतु वे बहुत दिनों तक मेरे पास पड़े रहे। 'नयी तालीम' में दिलचस्पी रखनेवाले मित्र तथा कई जगह के ट्रेनिंग कॉलेज के छात्रों ने भी इसे देखा और आग्रह किया कि मैं इसे परिवर्धित करके छपवा दूँ। उनका कहना था कि उन्हें नयी तालीम पर परीक्षा तो देनी पड़ती है, लेकिन उस पर विशेष साहित्य नहीं मिलता। इधर करीब सभी राज्यों में किसी-न-किसी रूप में 'नयी तालीम' का काम चल रहा है। 'नयी तालीम' में दिलचस्पी होने के कारण मैं जब विभिन्न राज्यों का दौरा करता हूँ, तो वहाँ के शिक्षा-केन्द्रों को भी देखने जाता हूँ। मैंने देखा कि 'नयी तालीम' के मौलिक तत्त्व और उद्देश्य के बारे में जानकारी का व्यापक अभाव है। इसलिए मैंने सोचा कि लोगों का कहना ठीक ही है कि इस विषय की एक छोटी-सी पुस्तिका से लोगों को मदद मिलेगी।

मेरे पास जो नोट थे, उनमें 'नयी तालीम' के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक आधार के बारे में ही विवेचन है। तालीम के बारे में पूर्ण रूप से समझने के लिए जरूरी है कि इसके मनोवैज्ञानिक आधार तथा शिक्षा-पद्धति की रूपरेखा के बारे में भी जानकारी हो। लेकिन काम की अधिकता के कारण इसे जल्द लिखना शक्य नहीं है। अतः मैंने यही ठीक समझा कि जितनी सामग्री मौजूद है, फिलहाल उतना ही छाप दिया जाय और फिर मौका मिले तो बाकी हिस्सों को लिया जाय।

आज दुनिया की परेशानियाँ बढ़ती जा रही हैं। उनका निराकरण राजनीतिक उथल-पुथल या एक वर्ग या दल के हाथ से दूसरे के हाथ में सत्ता हस्तांतरित करने से नहीं होगा। एक जबरदस्त क्रान्ति की आवश्यकता है ताकि जिन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक कारणों से संसार में त्राहि-त्राहि मची हुई है, उनमें आमूल परिवर्तन करके एक ऐसी पद्धति कायम की जा सके,

जिससे संसार का संगठन अधिकार और प्रतिद्वन्द्विता के बदले जिम्मेदारी और सहयोग के द्वारा चलने लगे। यह तभी हो सकता है, जब मनुष्य के विचार और भावनाओं में आमूल परिवर्तन हो और इसकी शुरुआत शैक्षणिक क्रान्ति से ही हो सकती है।

संसार की शासन-पद्धति इतनी केन्द्रीभूत हो गयी है कि चाहे वह पूँजीपति वर्ग के हाथ में हो या किसी दलविशेष के हाथ में, उसका रूप एक अधिनायक तन्त्र का ही है। आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रीय औद्योगीकरण के कारण जनता की जीवन-आवश्यकता की पूर्ति मुख्यतः पूँजी के भरोसे हो गयी है। यही कारण है कि दुनिया की आर्थिक जिन्दगी पर पूँजीवाद का प्रभुत्व स्थापित हो गया है। सामाजिक क्षेत्र में अधिनायकवादी शासन-पद्धति तथा पूँजीवादी अर्थनीति के कारण भयंकर वैषम्य का साम्राज्य है। फलतः मानवता शोषित, शासित तथा वर्ग और वर्णविषमता से जर्जरित हो रही है। अतः गांधीजी ने 'नयी तालीम' के द्वारा जनता को केन्द्रवाद से मुक्त कर सही जनतन्त्र की स्थापना, मनुष्य के जीवन को पूँजी के शिकंजे से मुक्त करके श्रम के आधार पर कायम करने तथा सामाजिक वैषम्य को मिटाकर साम्यवाद स्थापित करने के लिए सच्ची क्रान्ति का एक निश्चित और व्यवस्थित कदम उठाया। वस्तुतः गांधीजी का जन्म इसी सर्वांगीण क्रान्ति के लिए हुआ था।

'नयी तालीम' किस तरह इस महान् क्रान्ति की द्योतक है, इस छोटी-सी पुस्तिका में बताने की कोशिश की गयी है। मुझे आशा है कि विचारशील पाठकों को इसमें से गांधीजी की दृष्टि का कुछ आभास मिल सकेगा।

—धीरेन्द्र मजूमदार

चतुर्थ संस्करण की भूमिका

जिस समय यह पुस्तिका लिखी गयी थी, उस वक्त नयी तालीम-आन्दोलन का करीब-करीब प्रारम्भ था। देश में उसके प्रति आदर और उत्साह था। विभिन्न राज्य-सरकारों ने इसे अपनाया था। कुछ सरकारों ने तो व्यापक रूप से चलाया भी था। नयी तालीम के तत्त्वों के लिए यह एक शक्ति का इजहार था। लेकिन वर्तमान सरकारों द्वारा तथा जहाँ-तहाँ जैसे-तैसे रचनात्मक कार्यकर्ताओं द्वारा उत्साहपूर्वक नयी तालीम का प्रसार इसके लिए एक कमजोरी ही रही है। बुनियादी शिक्षा के क्रान्तिकारी आधार को समझे बिना उसके व्यापक प्रचार-प्रसार ने उसे गुमराह भी बनाया। नतीजा यह हुआ कि आज जनता में बुनियादी शिक्षा के लिए आदर और विश्वास हट गया। इसका मुख्य कारण है, तालीम के तात्त्विक विचार के बिना ही उसके शरीर को चलाने की चेष्टा चल रही है। नयी तालीम मानव-समाज की आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति का वाहन है। किसी भी देवता का वाहन अपने देवता को बिना पीठ पर बैठाकर आगे नहीं बढ़ सकता, और देवता भी बिना वाहन के आगे कैसे बढ़ेगा? नयी तालीम को भी अगर बृहद् करना है तो वह क्रान्तिकारी वातावरण में ही आगे बढ़ सकती है, नयी समाज-क्रान्ति के बिना नयी तालीम आगे नहीं बढ़ सकती। अतएव जो नयी तालीम का काम करना चाहते हैं, उन्हें आज के जमाने की माँग के अनुसार अपने विचार तथा आचार में क्रान्तिकारी विचार रखकर समाज में क्रान्ति का वातावरण फैलाना होगा।

जो लोग आज समाज में क्रान्ति की बात सोच रहे हैं, उन्हें भी अपने काम को नयी तालीम की बुनियाद पर संगठित करना होगा। तभी आज जो मानव-समाज भयानक संकट से गुजर रहा है, उसे बाहर निकाल सकते हैं।

यद्यपि यह पुस्तिका काफी पहले लिखी गयी है, तथापि नयी तालीम की वैचारिक भूमिका को समझने के लिए महत्त्व का काम करने में समर्थ है। अतएव जो लोग नयी तालीम की बात सोचते हैं, उन्हें इस पुस्तक में लिखे तात्त्विक आधार पर विचार कर लेना चाहिए, ताकि सही भूमिका पर बुनियादी शिक्षा का काम संगठित हो सके।

सेवापुरी, २५-६-'५४

—धीरेन्द्र मजूमदार

विषय-परिचय

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

पृष्ठ

(३)

नयी तालीम पर

गांधीजी के विचार

[नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा-संबंधी गांधीजी के कुछ विचार नीचे दिये जा रहे हैं।]

: १ :

'बुद्धि-विकास बनाम बुद्धि-विलास'

त्रावणकोर और मद्रास के भ्रमण में, विद्यार्थियों तथा विद्वानों के सहवास में मुझे ऐसा लगा कि मैं जो नमूने उनमें देख रहा था, वे बुद्धि-विकास के नहीं, किन्तु बुद्धि-विलास के थे। आधुनिक शिक्षा भी हमें बुद्धि-विलास सिखाती है और बुद्धि को उलटे रास्ते ले जाकर उसके विकास को रोकती है। सेगाँव में पड़ा-पड़ा मैं जो अनुभव ले रहा हूँ, वह मेरी इस बात की पूर्ति करता दिखायी देता है। मेरा अवलोकन तो वहाँ अभी चल ही रहा है। इसलिए इस लेख में आये हुए विचार उन अनुभवों के ऊपर आधार नहीं रखते। मेरे ये विचार तो जब मैंने फिनिक्स संस्था की स्थापना की तभी से हैं, यानी सन् १९०४ से।

बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, कान आदि अवयवों के सदुपयोग से ही हो सकता है, अर्थात् शरीर का ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हुए बुद्धि का विकास सबसे अच्छा और जल्दी-से-जल्दी होता है। इसमें भी यदि पारमार्थिक वृत्ति का मेल न हो, तो बुद्धि का विकास एकतरफा होता है। पारमार्थिक वृत्ति हृदय यानी आत्मा का क्षेत्र है। अतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धि के शुद्ध विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास साथ-साथ तथा एक-सी गति से होना चाहिए। इससे कोई अगर यह कहे कि ये विकास एक के बाद एक हो सकते हैं, तो यह ऊपर की विचार-श्रेणी के अनुसार ठीक नहीं होगा।

हृदय, बुद्धि और शरीर के बीच मेल न होने से जो दुःसह परिणाम आया है वह प्रकट है, तो भी गलत आदत के कारण हम उसे देख नहीं सकते। गाँवों के लोगों का पालन-पोषण पशुओं में होने के कारण, वे मात्र शरीर का उपयोग यंत्र की भाँति किया करते हैं; बुद्धि का उपयोग वे करते ही नहीं और उन्हें करना भी नहीं पड़ता। हृदय की शिक्षा उनमें नहीं के बराबर है, इसलिए उनका जीवन यों ही गुजर रहा है, जो न इस काम का रहा है, न उस काम का। और दूसरी ओर आधुनिक कॉलेजों तक की शिक्षा पर जब नजर डालते हैं, तो वहाँ बुद्धि के विकास के नाम पर बुद्धि के विलास की तालीम दी जाती है। लोग ऐसा समझते हैं कि बुद्धि के विकास के साथ शरीर का कोई मेल नहीं। पर शरीर को कसरत तो चाहिए ही, इसलिए उपयोगरहित कसरतों से उसे निभाने का मिथ्या प्रयोग होता है। पर चारों ओर से मुझे इस तरह के प्रमाण मिलते ही रहते हैं कि स्कूल-कॉलेजों से पास होकर जो विद्यार्थी निकलते हैं, वे मेहनत-मशक्कत के काम में मजदूरों की बराबरी नहीं कर सकते। जरा-सी मेहनत की कि उनका माथा दुखने लगता है और धूप में घूमना पड़े तो चक्कर आने लगते हैं! यह स्थिति स्वाभाविक मानी जाती है। बिना जुते खेत में जैसे घास उग आती है, उसी तरह हृदय की वृत्तियाँ आप ही उगती और कुम्हलाती रहती हैं; और यह स्थिति दयनीय मानी जाने के बदले प्रशंसनीय मानी जाती है।

इसके विपरीत यदि बचपन से बालकों के हृदय की वृत्तियों को ठीक तरह से मोड़ा जाय, उन्हें खेती, चरखा आदि उपयोगी कामों में लगाया जाय और जिस उद्योग द्वारा उनका शरीर खूब कसा जा सके, उस उद्योग की उपयोगिता और उसमें काम आनेवाले औजारों वगैरा की बनावट आदि का ज्ञान उन्हें दिया जाय, तो उनकी बुद्धि का विकास सहज ही होता जाय और नित्य उसकी परीक्षा भी होती जाय। ऐसा करते हुए गणित शास्त्र आदि के जिस ज्ञान की आवश्यकता हो, वह उन्हें दिया जाय और विनोद के लिए साहित्य आदि का ज्ञान भी देते जायँ, तो तीनों वस्तुएँ समतोल हो जायँ और उनका कोई अंग अविकसित न रहे। मनुष्य न केवल बुद्धि है, न केवल शरीर, न केवल हृदय

या आत्मा। तीनों के एक समान विकास में ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध होगा। इसमें सच्चा अर्थशास्त्र है। इसके अनुसार यदि तीनों विकास एक साथ हों, तो हमारी उलझी हुई समस्याएँ आसानी से सुलझ जायँ। यह विचार या इस पर अमल तो देश को स्वतंत्रता मिलने के बाद ही होगा, ऐसी मान्यता भ्रमपूर्ण हो सकती है। करोड़ों मनुष्यों को ऐसे-ऐसे कामों में लगाने से ही स्वतंत्रता का दिन हम नजदीक ला सकते हैं।
हरिजनसेवक, १७-४-'३७

: २ :

उद्योग द्वारा शिक्षा

एक नयी पद्धति की आवश्यकता मैं बहुत दिनों से महसूस कर रहा था, क्योंकि मैं जानता था कि आधुनिक शिक्षा-पद्धति निष्फल साबित हुई है; और यह पता मुझे जब मैं दक्षिण अफ्रीका से लौटा, तब जो बहुत से विद्यार्थी मुझसे मिलने आते थे, उनके द्वारा लगा। इसलिए मैंने आश्रम में दस्तकारियों की शिक्षा दाखिल करके इसका आरम्भ किया। निस्सन्देह, दस्तकारियों के शिक्षण पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया। नतीजा यह हुआ कि औद्योगिक शिक्षा से बच्चे जल्दी ही दिक आ गये और उन्होंने यह खयाल किया कि हम साहित्यिक शिक्षा से वंचित किये जा रहे हैं। उनकी यह गलती थी, क्योंकि वहाँ उन्होंने थोड़ा सा भी जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह उससे तो कहीं ज्यादा था, जो कि साधारणतया बच्चे पुराने ढर्रे पर चलनेवाले स्कूलों में प्राप्त करते हैं। पर इस चीज ने मुझे विचार में डाल दिया और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि औद्योगिक शिक्षा के **साथ** साहित्यिक शिक्षा नहीं, बल्कि औद्योगिक शिक्षा के **द्वारा** साहित्यिक शिक्षा देनी चाहिए। ऐसा करने पर वे औद्योगिक तालीम को एक जलील मशक्कत नहीं समझेंगे और साहित्यिक शिक्षा में एक नया सन्तोष और नयी उपयोगिता आ जायगी। कांग्रेस ने जब पद ग्रहण किया, तब मुझे लगा

कि अपने विचार को राष्ट्र के सामने रखना चाहिए और मुझे खुशी है कि कई जगह इसका स्वागत हुआ है।

हमने यह निश्चय किया कि अंग्रेजी को कोर्स से निकाल देना चाहिए, क्योंकि हम जानते थे कि बच्चों का अधिकांश समय अंग्रेजी के शब्दों और वाक्यों के रटने में चला जाता है और फिर भी वे जो सीखते हैं, उसे अपनी भाषा में जाहिर नहीं कर सकते; और अध्यापक उन्हें जो सिखाता है, उसे ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। उलटे, अपनी मातृ-भाषा को महज उपेक्षा के कारण भूल जाते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि औद्योगिक तालीम के द्वारा शिक्षा दी जाय, तभी इन दोनों बुराइयों से बच सकते हैं।

मुझे शिक्षण देने का आरम्भ करना हो, तो मैं इस तरह करूँगा : जिस दिन बच्चे मेरे पास आयेंगे, सबसे पहले मैं यह देखूँगा कि उनका दिमाग कहाँ तक विकसित हुआ है। वे पढ़ना-लिखना और थोड़ा-बहुत भूगोल जानते हैं या नहीं। और तब मैं तकली दाखिल करके उनकी जानकारी को बढ़ाने की कोशिश करूँगा।

आप शायद मुझसे पूछेंगे कि इतनी तमाम दस्तकारियों में से मैंने तकली को ही क्यों चुना? क्योंकि सर्वप्रथम हमने जिन दस्तकारियों की शोध की थी, उनमें एक तकली की भी दस्तकारी है, और वह युगों से चली आ रही है। प्राचीन काल में हमारा तमाम कपड़ा तकली के सूत का ही बनता था। चरखा तो पीछे आया। फिर बढ़िया-से-बढ़िया अंक का सूत चरखे पर कत भी नहीं सकता, इसलिए हमें पुनः तकली की ही शरण लेनी पड़ी। तकली ने मनुष्य की अन्वेषणात्मक बुद्धि को उस ऊँचाई तक पहुँचा दिया, जिस ऊँचाई तक वह पहले कभी नहीं पहुँची थी। इसमें अँगुलियों की कार्य-कुशलता का सर्वश्रेष्ठ उपयोग हुआ। पर चूँकि तकली ऐसे कारीगरों तक ही सीमित रही, जिन्होंने कभी शिक्षा पायी ही नहीं, इसलिए उसका उपयोग लुप्त-सा हो गया। अगर हम तकली का उद्धार करके उसे आज फिर उसी गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं, अगर हमें अपने ग्राम-जीवन का पुनरुद्धार और पुनर्निर्माण करना है, तो हमें बच्चों की शिक्षा का श्रीगणेश तकली से ही करना चाहिए।

इसलिए दूसरा पाठ यह चलेगा : लड़कों को मैं अब यह सिखाऊँगा कि हमारे प्रतिदिन के जीवन में तकली को क्या स्थान प्राप्त था। इसके बाद मैं उन्हें उसका थोड़ा सा इतिहास बताऊँगा और यह भी बताऊँगा कि उसका पतन कैसे हुआ। फिर भारतवर्ष के इतिहास के संक्षिप्त क्रम पर आऊँगा—आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी से या उससे भी पहले मुसल्मान-काल से करूँगा; उन्हें तफसीलवार यह बताऊँगा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की तिजारत ने किस तरह हमारे देश का शोषण किया और हमारी इस मुख्य दस्तकारी का दम किस तरह इरादतन घोंटा गया और अन्त में इसका बिलकुल खातमा कर डाला गया। इसके बाद तकली के यन्त्रशास्त्र का, उसकी बनावट का संक्षिप्त कोर्स चलेगा। शुरू-शुरू में मिट्टी की या आटे की छोटी-सी गोली सुखाकर और उसके ठीक मध्य में बाँस की सीख डालकर तकली बनायी गयी होगी। बिहार और बंगाल के कुछ भागों में अब भी इस किस्म की तकली देखने में आती है। इसके बाद मिट्टी की गोली की जगह ईंट की चकत्ती ने ले ली। और अब आज ईंट की चकत्ती की जगह लोहे या फौलाद और पीतल की चकत्ती ने और बाँस की सीख की जगह फौलाद के तार ने ले ली है। यहाँ भी हम काम के काफी प्रश्न सोच सकते हैं—जैसे, चकत्ती और तार का नाप इतना ही क्यों रखा गया है ? इससे ज्यादा या कम क्यों नहीं ? इसके बाद कपास पर थोड़े से व्याख्यान दिये जायँगे—जैसे कपास खासकर किस तरह की जमीन में पैदा होती है, उसकी कितनी किस्में हैं, किन देशों और हिन्दुस्तान के किन प्रान्तों में वह उगायी जाती है, वगैरा-वगैरा। कपास की खेती के बारे में और उसके लिए कौन-सी जमीन सबसे उपयुक्त हो सकती है, इस विषय में भी कुछ ज्ञान दिया जा सकता है। इससे हम थोड़ा खेती-बाड़ी के बारे में भी जान लेंगे।

आप देखेंगे कि अपने विद्यार्थियों को इस प्रकार का शिक्षण देने के पहले शिक्षक को खुद काफी परिपक्व ज्ञान प्राप्त करना होगा। कताई के तारों की गिनती गजों में निकालना, सूत का नंबर मालूम करना, लच्छियाँ बनाना, बुनकर के लिए उसे तैयार करना, कपड़े की अमुक बनावट में कितने गज सूत लगेगा, आदि बातों द्वारा पूरा प्रारंभिक गणित सिखाया जा सकता है। कपास

उगाने से लेकर बुनाई—कपास चुनना, ओटना, धुनना, कातना, माँड़ी लगाना, बुनना—तक की तमाम क्रियाओं का अपना-अपना सम्बन्धित यंत्र-शास्त्र, इतिहास और गणित है।

इसमें मुख्य कल्पना यह है कि बच्चों को जो भी दस्तकारी सिखायी जाय, उसके द्वारा उन्हें पूरी तरह से शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक शिक्षा दी जाय। उद्योग की तमाम क्रियाओं के द्वारा आपको बच्चों के अन्दर जो भी अच्छी चीजें हैं, उन सबको विकसित करना है। और आप इतिहास, भूगोल और गणित के जो पाठ सिखायेंगे, वे सब उस उद्योग से सम्बन्धित होंगे।

अगर इस प्रकार की शिक्षा बच्चों को दी जाय तो परिणाम यह होगा कि वह शिक्षा स्वावलम्बी हो जायगी। लेकिन सफलता की कसौटी उसका स्वाश्रयी रूप नहीं है, बल्कि यह देखकर सफलता का अन्दाज लगाना होगा कि वैज्ञानिक रीति से उद्योग की शिक्षा के द्वारा मनुष्यत्व का पूर्ण विकास हुआ है या नहीं। सचमुच मैं ऐसे अध्यापक को कभी नहीं रखूँगा, जो चाहे जिन परिस्थितियों में शिक्षा को स्वाश्रयी बना देने का वचन देगा। शिक्षा का स्वावलम्बी बनना इस बात का न्यायसिद्ध परिणाम होगा कि विद्यार्थी ने अपनी प्रत्येक कार्यशक्ति का ठीक-ठीक उपयोग करना सीख लिया है। अगर एक लड़का रोज तीन घंटे काम करके किसी दस्तकारी से निश्चयपूर्वक अपनी जीविका के लायक पैसा कमा लेता है, तो जो अपनी विकसित बुद्धि और आत्मा लगाकर उस काम को करेगा, वह कितना अधिक कमा लेगा ?

हरिजनसेवक, ११-६-’३८

: ३ :

नयी तालीम का नयापन

हमें तो इस अध्यापन-मंदिर को एक ऐसा विद्यालय बना देना है, जिसके ज़रिये हम आजादी हासिल कर सकें और अपनी तमाम बुराइयों को, जिनमें कि हमारे कौमी झगड़े भी हैं, हमेशा के लिए मिटा सकें। इसके लिए हमें

अपना सारा ध्यान अहिंसा पर केन्द्रित करना होगा। हिटलर और मुसोलिनी के स्कूलों का मूल उद्देश्य हिंसा है। पर हमारा उद्देश्य तो कांग्रेस के अनुसार अहिंसा है। इससे हमें अपनी तमाम समस्याओं को अहिंसा के जरिये ही हल करना है। अपने गणित को, अपने विज्ञान को, अपने इतिहास को हम केवल अहिंसा की दृष्टि से देखेंगे और इन विषयों से सम्बन्धित समस्याएँ अहिंसा के ही रंग में रँगी होंगी। तुर्किस्तान की सुप्रसिद्ध महिला बेगम हालिदा हानूम ने जब जामिया मीलिया इस्लामिया में अपने भाषण दिये थे, तब मैंने कहा था कि इतिहास अभी तक राजाओं का और उनके युद्धों का वर्णन मात्र रहा है, पर भविष्य में जो इतिहास बनेगा, वह मानवता का होगा। वह इतिहास अहिंसा का ही हो सकता है, और है। फिर हमें शहरों के उद्योग-धन्धों को छोड़कर ग्राम-उद्योगों की ओर सारा ध्यान देना होगा। मतलब यह कि अगर हम अपने सात लाख गाँवों को जीवित रखना चाहते हैं, तो हमें गाँवों की दस्तकारियों का पुनरुद्धार करना होगा। और आप यकीन रखें कि अगर इन उद्योगों के जरिये हम शिक्षा दे सकें, तो हम एक क्रान्ति पैदा कर सकते हैं। हमें अपनी पाठ्य-पुस्तकें भी इसी उद्देश्य को सामने रखकर तैयार करनी होंगी।

मैं जो अहिंसा चाहता हूँ, वह सिर्फ अंग्रेजों के साथ के युद्ध तक ही सीमित नहीं है। मैं चाहता हूँ कि वह हमारे तमाम भीतरी सवालों और समस्याओं पर भी लागू हो। सच्ची और सक्रिय अहिंसा तो तभी होगी, जब कि वह हिन्दू और मुसलमानों की जीवित एकता को जन्म दे सकेगी—ऐसी एकता नहीं, जो अपना आधार किसी आपसी भय पर रखती हो; मसलन्, हिटलर और मुसोलिनी के दरमियान हुई संधि या पैक्ट।

हरिजनसेवक, ७-५-'३८

नयी तालीम का नयापन समझना जरूरी है। पुरानी तालीम में जितना अच्छा है, वह नयी तालीम में रहेगा, लेकिन उसमें नयापन काफी होगा। नयी तालीम अगर सचमुच नयी होगी, तो उसका नतीजा (परिणाम) यह होना चाहिए कि हमारे अन्दर जो मायूसी (निराशा) है, उसकी जगह उम्मीद होगी,

कंगालियत की जगह रोटी का सामान तैयार होगा, बेकारी की जगह धन्धा होगा, झगड़ों की जगह एका होगा, और हमारे लड़के-लड़कियाँ लिखना-पढ़ना जानेंगे और साथ-साथ हुनर भी जानेंगे, जिसकी मारफत वे अक्षरज्ञान हासिल करेंगे।

हरिजनसेवक, २८-१-'३९

नयी तालीम के बिना हिन्दुस्तान के करोड़ों बालकों को शिक्षण देना लगभग असंभव है, यह चीज सर्वसामान्य हो गयी, ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए ग्रामसेवक को उसका ज्ञान होना ही चाहिए। उसे नयी तालीम का शिक्षक होना चाहिए। इस तालीम के पीछे प्रौढ़-शिक्षण अपने आप चला आयेगा। जहाँ नयी तालीम ने घर कर लिया होगा, वहाँ बच्चे ही माता-पिता के शिक्षक बन जानेवाले हैं। कुछ भी हो, ग्रामसेवक के मन में प्रौढ़-शिक्षण देने की लगन होनी चाहिए।

हरिजनसेवक, १७-८-'४०

: ४ :

नये विश्व-विद्यालय

आजकल देश में नये विश्व-विद्यालय कायम करने की आँधी-सी उठ खड़ी हुई है। गुजरात को गुजराती भाषा के लिए, महाराष्ट्र को मराठी के लिए, कर्नाटक को कन्नड़ के लिए, उड़ीसा को उड़िया के लिए और आसाम को आसामी भाषा के लिए विश्व-विद्यालय चाहिए। मुझे लगता है कि अगर प्रान्तों की इन सम्पन्न भाषाओं और उन्हें बोलनेवाले लोगों को पूरी-पूरी उन्नति करनी हो, तो ऐसे विश्व-विद्यालय होने ही चाहिए।

लेकिन ऐसा मालूम होता है कि इन विचारों पर अमल करने में जरूरत से ज्यादा उतावलापन दिखाया जा रहा है। इसके लिए सबसे पहले भाषावार प्रान्तों की रचना की जानी चाहिए। उनका राज-तंत्र अलग होना चाहिए।

बम्बई प्रान्त में गुजराती, मराठी और कन्नड़ तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। मद्रास प्रान्त में तामिल, तेलगु, मलयाली और कन्नड़ चार भाषाएँ बोली जाती हैं। आन्ध्र देश का अपना अलग विश्व-विद्यालय है। उसे कायम हुए थोड़ा समय हो गया। लेकिन उसने काफी उन्नति की है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनामली विश्व-विद्यालय तामिल भाषा के लिए माना जा सकता है। लेकिन मैं नहीं समझता कि उससे तामिल भाषा का पोषण होता है या उसका गौरव बढ़ा है।

नये विश्व-विद्यालय के लिए ठीक-ठीक वातावरण होना चाहिए। उसे जमाने के लिए ऐसे स्कूल और कॉलेज होने चाहिए, जो अपने-अपने प्रान्त की भाषाओं के जरिये तालीम दें। तभी विश्व-विद्यालय का पूरा वातावरण खड़ा हुआ माना जा सकता है। विश्व-विद्यालय चोटी की शिक्षण-संस्था है। लेकिन अगर नींव मजबूत न हो, तो उस पर इमारत की मजबूत चोटी खड़ी करने की आशा नहीं रखी जा सकती।

हालाँकि हम राजनैतिक दृष्टि से आजाद हैं, फिर भी पश्चिम के प्रभाव से अभी आजाद नहीं हुए हैं। जो यह मानते हैं कि पश्चिम में ही सब कुछ है और हर तरह का ज्ञान वहीं से मिल सकता है, उनसे मुझे कुछ नहीं कहना है। न मेरा यही विश्वास है कि पश्चिम से हमें कोई अच्छी चीज मिल ही नहीं सकती। वहाँ क्या अच्छा है और क्या बुरा है, यह समझने लायक प्रगति अभी हमने नहीं की है। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि परदेशी हुकूमत से आजाद हो गये हैं, इसलिए हम परदेशी भाषा या परदेशी विचारों के असर से भी आजाद हो गये हैं। क्या यह समझदारी की बात नहीं होगी, क्या देश के प्रति रहने-वाले हमारे फर्ज का यह तकाजा नहीं है कि नये विश्व-विद्यालय कायम करने के पहले हम थोड़ी देर ठहरें और अपनी नयी मिली हुई आजादी के जीवन देने-वाले वातावरण में कुछ सोचें? विश्व-विद्यालय सिर्फ पैसों से या बड़ी-बड़ी इमा-रतों से नहीं बनते। विश्व-विद्यालयों के पीछे जनता की जाग्रत राय का होना सबसे जरूरी है। उनके लिए पढ़ानेवाले योग्य शिक्षकों की जरूरत है। उन्हें कायम करनेवाले लोगों में काफी दूरंदेशी होनी चाहिए।

मेरे विचार से विश्व-विद्यालय कायम करने के लिए पैसे का प्रबन्ध करने का काम लोकशाही हुकूमत का नहीं है। अगर लोग उन्हें कायम करना चाहेंगे, तो वे उनके लिए पैसे भी देंगे। लोगों के पैसे से कायम किये जानेवाले विश्व-विद्यालय देश की शोभा बढ़ायेंगे। जिस देश का राज-काज विदेशियों के हाथ में होता है, वहाँ सब कुछ ऊपर से टपकता है; और इसलिए लोग दिनोंदिन पराधीन या गुलाम बनते जाते हैं। जहाँ जनता की हुकूमत होती है, वहाँ हर चीज नीचे से ऊपर उठती है; और इसलिए वह टिकती है, शोभा पाती है और लोगों की शक्ति बढ़ाती है। जिस तरह अच्छी जमीन में बोया हुआ बीज दस-गुनी उपज देता है, उसी तरह विद्या की उन्नति के लिए खर्च किया हुआ पैसा कई गुना लाभ पहुँचाता है। विदेशी हुकूमत के मातहत कायम किये गये विश्व-विद्यालयों ने इससे उलटा काम किया है। उनका दूसरा कोई नतीजा हो भी नहीं सकता था। इसलिए हिन्दुस्तान जब तक नयी मिली हुई आजादी को अच्छी तरह पचा नहीं लेता, तब तक नये विश्व-विद्यालय कायम करने में मुझे बड़ा डर मालूम होता है।

इसके अलावा, हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े ने ऐसा भयंकर रूप ले लिया है कि आज पहले से यह कहना मुश्किल हो गया है कि हम कहाँ जाकर रुकेंगे। मान लीजिये कि अनहोनी बात हो जाय और हिन्दुस्तान में सिर्फ हिन्दू और सिक्ख ही रहें और पाकिस्तान में सिर्फ मुसलमान, तो हमारी शिक्षा जहरीला रूप ले लेगी। अगर हिन्दू-मुसलमान और दूसरे धर्म के लोग हिन्दुस्तान में भाई-भाई बनकर रहेंगे, तो स्वभावतः हमारी शिक्षा सौम्य और सुन्दर रूप लेगी। या तो हमारे देश में अलग-अलग धर्मों के लोगों के मित्रता और भाई-चारे से रहते आने के कारण जो मिली-जुली सुन्दर सभ्यता पैदा हुई है, उसे हम मजबूत बनायेंगे और ज्यादा अच्छा रूप देंगे, या फिर हम ऐसे समय की खोज करेंगे, जब हिन्दुस्तान में सिर्फ हिन्दू धर्म के लोग ही रहते थे। इतिहास में ऐसा कोई समय शायद न मिल सके। लेकिन ऐसा कोई समय मिला और हम उसके पीछे चले, तो हम कई सदी पीछे हट जायँगे और दुनिया हमसे नफरत करेगी और हमें कोसेगी। उदाहरण के लिए, अगर हम इतिहास के मुगल-

काल को भूलने की बेकार कोशिश करेंगे, तो हमें दुनिया में सबसे अच्छी दिल्ली की जामा मसजिद को भूल जाना होगा, या अलीगढ़ की मुस्लिम युनिवर्सिटी को भूलना होगा, या दुनिया के सात आश्चर्यों में से एक आगरा के ताज को, या मुगल-काल में बने हुए दिल्ली और आगरा के बड़े-बड़े किलों को भूलना पड़ेगा। तब हमें उसी दृष्टि से अपना इतिहास फिर से लिखना होगा। आज का वातावरण सचमुच ऐसा नहीं है, जिसमें हम इस बारे में किसी सही नतीजे पर पहुँच सकें। अपनी दो महीने की आजादी को अभी हम गढ़ने में लगे हैं। हम नहीं जानते कि आखिर में वह क्या रूप लेगी। जब तक हम ठीक-ठीक यह नहीं जान लेते, तब तक अगर हम मौजूदा विश्व-विद्यालयों में ही भरसक फेरफार करें और आज की शिक्षण-संस्थाओं में आजादी के प्राण फूँकें, तो इतना काफी होगा। इस तरह हमें जो अनुभव होगा, वह नये विश्व-विद्यालय कायम करने में हमारी मदद करेगा।

अब रही बात बुनियादी तालीम की। इस तालीम को शुरू हुए अभी आठ बरस हुए हैं। इसलिए उसके अमल में जो अनुभव हुआ है, वह हमें मैट्रिक के दरजे से आगे नहीं ले जाता। फिर भी, जो लोग इसके प्रयोग में लगे हैं, उनके मन में बुनियादी तालीम का विकास होता ही रहता है। जिस संस्था के पीछे आठ साल का ठोस अनुभव है, उसकी सिफारिशों को कोई भी शिक्षाशास्त्री ठुकरा नहीं सकता। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बुनियादी तालीम देश के वातावरण में से पैदा हुई है और देश की जरूरतों को पूरा कर सकती है। यह वातावरण हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों में और उनमें रहनेवाले करोड़ों लोगों में छाया हुआ है। उनको भुलाकर आप हिन्दुस्तान को भी भूल जायँगे। सच्चा हिन्दुस्तान शहरों में नहीं, बल्कि इन सात लाख गाँवों में बसा है! शहर विदेशी हुकूमत की जरूरतें पूरी करने के लिए खड़े हुए थे। आज भी वे पहले की तरह निभ रहे हैं। क्योंकि विदेशी हुकूमत हिन्दुस्तान से चली गयी, लेकिन उसका असर अभी बना हुआ है—इतनी जल्दी वह जा भी नहीं सकता।

यह लेख मैं नयी दिल्ली में लिख रहा हूँ। यहाँ बैठे-बैठे मैं गाँवों को क्या

खयाल कर सकता हूँ ? जो बात मुझ पर लागू होती है, वही हमारे मंत्रि-मंडल पर भी लागू होती है। फर्क यही है कि उस पर यह विशेष रूप से लागू होती है।

यहाँ हम बुनियादी तालीम के खास-खास सिद्धान्तों पर विचार करें :

१. पूरी शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। यानी, आखिर में पूँजी को छोड़कर अपना सारा खर्च उसे खुद निकालना चाहिए।

२. इसमें आखिरी दरजे तक हाथ का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय। यानी, विद्यार्थी अपने हाथों से कोई न कोई उद्योग-धंधा आखिरी दरजे तक करें।

३. सारी तालीम विद्यार्थियों की प्रान्तीय भाषा द्वारा दी जानी चाहिए।

४. इसमें साम्प्रदायिक धार्मिक शिक्षा के लिए कोई जगह नहीं होगी। लेकिन बुनियादी नैतिक तालीम के लिए काफी गुंजाइश होगी।

५. यह तालीम, फिर उसे बच्चे लें या बड़े, औरत लें या मर्द, विद्यार्थियों के घरों में पहुँचेगी।

६. चूँकि इस तालीम को पानेवाले लाखों-करोड़ों विद्यार्थी अपने आपको सारे हिन्दुस्तान के नागरिक समझेंगे, इसलिए उन्हें एक आन्तरप्रान्तीय भाषा सीखनी होगी। सारे देश की यह एक भाषा नागरी या उर्दू में लिखी जानेवाली हिन्दुस्तानी ही हो सकती है। इसलिए विद्यार्थियों को दोनों लिपियाँ अच्छी तरह सीखनी होंगी।

इस बुनियादी विचार के बिना या इसको ठुकराकर जो नये विश्व-विद्यालय कायम किये जायँगे, वे मेरे विचार से देश को कोई फायदा नहीं पहुँचायेंगे; उलटे नुकसान ही करेंगे। इसलिए सब शिक्षाशास्त्री इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि नये विश्व-विद्यालय खोलने से पहले थोड़ी देर ठहरना और सोच-विचार करना जरूरी है।

हरिजनसेवक, २-११-'४७

नयी तालीम

रूपरेखा : १ :

बापूजी ने सन् १९२१ से ही रचनात्मक कार्यक्रम को अपनी सारी क्रान्तिकारी योजना का आधार माना था। शुरू में ही जब उन्होंने स्वराज की लड़ाई छेड़ी, तब सबसे पहला 'प्रोग्राम' उन्होंने यही रखा कि ३० जून तक देश के लोग पचीस लाख चरखा चलाने लगें, एक करोड़ सदस्य हो जायँ और एक करोड़ रुपया "तिलक स्वराज-फण्ड" में इकट्ठा कर लें। इस प्रकार आजादी की लड़ाई को देश के सामने रखकर जहाँ वे सत्याग्रह-संग्राम द्वारा स्वराज की ओर बढ़ते रहे, वहाँ इन विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा वे बढ़े हुए कदम को मजबूती के साथ जमाते भी जा रहे थे।

'नयी तालीम' का जन्म

इस प्रकार वे समय-समय पर चरखा, ग्रामोद्योग, हरिजन-सेवा आदि विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रम की स्थापना करते गये। उन्हें संगठित रूप देने के लिए वे चरखा संघ, ग्रामोद्योग संघ, हरिजन-सेवक संघ जैसी संस्थाएँ भी कायम करते रहे। अन्त में जब सन् '३७ में कांग्रेस के हाथ में शासन की बागडोर आयी और उन्होंने देखा कि अब मुल्क करीब-करीब स्वराज के दरवाजे पर आ गया है, तब उन्होंने देश के सामने 'नयी तालीम' के रूप में अपनी अन्तिम योजना रखी। उन्होंने कहा था कि यदि मुल्क को सच्चे स्वराज की प्राप्ति और रक्षा करनी है तो 'नयी तालीम' को पूरी तरह से अपनाना होगा। **मुल्क की आजादी** का अर्थ है **जनता की आजादी**। अगर जनता की आजादी सही माने में स्थापित करनी है, तो देश में सात लाख गाँवों के प्रत्येक नर-नारी को ऐसी तालीम देनी होगी, जिससे वे प्रत्यक्ष रूप से अपनी जिम्मेदारी सँभाल सकें; साथ ही वे स्वावलम्बी हो सकें ताकि लोग केन्द्रीय-शासन-यन्त्र का भरोसा किये

बिना स्वतन्त्र रूप से देश की बागडोर सँभाल सकें। इस प्रकार कांग्रेस के प्रथम मन्त्रिमण्डल के साथ ही मुल्क में 'नयी तालीम' का जन्म हुआ।

'नयी तालीम' का उद्देश्य

बापू ने जितनी योजनाएँ दीं, उनमें 'नयी तालीम' सबसे आखिरी और सबसे अधिक क्रान्तिकारी योजना है। यह आधुनिक शिक्षितजनों को सबसे अधिक चक्कर में डालनेवाला 'प्रोग्राम' है। आचार्य कृपालानी ने 'नयी तालीम' पर जो पुस्तक लिखी है उसका नाम ही 'अन्तिम नादानी' रखा है, क्योंकि वह पुस्तक अंग्रेजी में थी और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए बापूजी के रचनात्मक कार्यक्रम की सारी योजना ही "पागलपन" की-सी दिखलाई पड़ती रही है। परन्तु बापू मुल्क को अपने स्वप्न के अनुसार बनाना चाहते थे। किसी मुल्क को बनाने के लिए मुख्य साधन शिक्षा का ही होता है। देश और समाज को एक निश्चित दिशा में संगठित करने के उद्देश्य से ही शिक्षा-पद्धतियाँ बनती हैं।

अतः नयी तालीम के सिद्धान्त और उसकी रूपरेखा समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस बात को समझें कि इस तालीम, इस शिक्षण-योजना के पीछे बापू का उद्देश्य क्या था और उसके द्वारा वह दुनिया को किस साँचे में ढालना चाहते थे ? वस्तुतः संसार में तालीम की, शिक्षा की, जो भी पद्धति निकली उन सबके पीछे निश्चित रूप से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था कायम करने की नीयत और उसके अनुकूल नागरिक तैयार करने का उद्देश्य रहा है। स्वभावतः 'नयी तालीम' के पीछे बापू का भी यही उद्देश्य रहा।

मेकॉले की अंग्रेजी शिक्षा पद्धति और भारत का बाबू समाज

प्राचीन काल में भारत, मध्य एशिया तथा रोम आदि देशों में जब धार्मिक आधार पर समाज-व्यवस्था का संगठन हुआ था, तब उनकी शिक्षा-पद्धति उसीके अनुरूप रही। मध्यकालीन भारत में ब्राह्मणप्रधान वर्णाश्रम के आधार पर समाज-व्यवस्था के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की जो पद्धति चली उसमें सारे शिक्षण का तर्ज और तरीका ऐसा था, जिससे आश्रम से निकले हुए शिक्षार्थी समाज में अनुकूल स्थान ले सकें। उसी प्रकार अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में मेकॉले साहब ने

जब वर्तमान शिक्षा-पद्धति की शुरुआत की थी, तब उस समय उनको भारत में एक विशेष प्रकार के बाबू रूपी गुलाम-समाज की आवश्यकता थी। उसी नीयत से उन्होंने अपनी शिक्षण-प्रणाली का विधान किया। वे चाहते थे कि भारत में कुछ अंग्रेजी संस्कारवाले लोग हों जो अंग्रेजी शासन के पुर्जे बनकर काम करें, जिनमें किसी प्रकार की मौलिक बुद्धि का विकास न होने पाये और परिणामतः लोगों में निर्माण-कार्य की प्रेरणा, प्रवृत्ति या योग्यता का समावेश न हो सके।

इस प्रकार उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा द्वारा देश में बाबू और साहबों का एक समाज तैयार किया जो हाथ-पैर से न केवल कुछ करने में असमर्थ थे, बल्कि इसमें वे अपना अपमान भी समझते थे।

अंग्रेजी शिक्षा का घातक परिणाम

दूसरी ओर मेकॉले की शिक्षा-पद्धति ने देश के प्राचीन ग्राम-शिक्षालयों को बर्बाद और सारे शिक्षा-संगठन को केन्द्रित करके उसे अपने नियंत्रण में लेकर इतना खर्चीला बना दिया कि देश का गरीब जनवर्ग शिक्षा से कतई वंचित हो गया। इस प्रकार योजनापूर्वक इस देश की आबादी को दो श्रेणी में विभाजित कर दिया गया। पहली : हाथ-पैर से अपंग, अकर्मण्य और निष्क्रिय बैठनेवाली; दूसरी : दिमाग से बिलकुल पंगु, केवल शरीर-श्रम करनेवाली। इसका मतलब यह कि देश में दो प्रकार के जीव रह गये। एक 'कोढ़ी' और दूसरा 'गोरू' (बैल)। कोशिश यह थी कि मुल्क में मनुष्य नाम का कोई प्राणी बाकी न रह जाय, क्योंकि वही मनुष्य मनुष्य कहलाता है जो प्रकृति से मिली हुई बुद्धि और शरीर, दोनों का पूर्णरूपेण संचालन करके उनका सम्यक् विकास करे और समाज-सेवा में दोनों का पूर्ण रूप से इस्तेमाल करता रहे। मूल उद्देश्य यह था कि भारतीय लोग कुछ कर न सकें और अंग्रेजों का साम्राज्यवादी शोषण हमेशा निर्विघ्न रूप से चलता रहे।

शिक्षा-पद्धतियों के उद्देश्य

आज बड़े-बड़े शिक्षाशास्त्री और जननायक जी भरकर आधुनिक शिक्षा-पद्धति की आलोचना करते हैं कि इस पद्धति ने हमारे देशवासियों को नपुंसक बना

दिया है। लेकिन उनको यह समझना चाहिए कि जो लोग भारत पर सदैव कब्जा जमाये रखना चाहते थे, क्या वे कभी ऐसी भूल कर सकते थे कि यहाँ के युवकों को ऐसी शिक्षा दें, जिससे वे सच्चे मर्द बनकर दो दिन में अंग्रेजी साम्राज्य को समाप्त कर दें ?

इस तरह प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में एक निश्चित प्रकार की समाज-व्यवस्था चलाने और कायम रखने के लिए भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा-पद्धतियाँ बनती हैं। अतः अपनी कल्पना के अनुसार नयी समाज-व्यवस्था कायम रखने के लिए गांधीजी के लिए बिलकुल आवश्यक था कि वे भी वैसी ही शिक्षा-पद्धति का आविष्कार करते जिसके द्वारा सहज ही देश और दुनिया में उनकी कल्पना की समाज-क्रान्ति सफल हो सके। अतएव पहले हम यह समझ लें कि गांधीजी भारत में और भारत द्वारा संसार में किस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था कायम रखना चाहते थे, क्योंकि इसके बिना हम 'नयी तालीम' के मौलिक सिद्धांतों को ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे। ● ● ●

राजनीतिक आधार : २ :

(१)

यह मानव-समाज का राजनीतिक युग है। आज प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव बन गया है कि वह हर चीज को राजनीतिक दृष्टिकोण से देखता है। अतः गांधीजी देश में राजनीतिक व्यवस्था कैसी बनाना चाहते थे, पहले इसी पर विचार करने की आवश्यकता है। साथ-साथ यह भी सोचने की बात है कि गांधीजी भावी समाज की जो कल्पना करते हैं, क्या वह उनकी एक कपोल-कल्पित चीज है और उसका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है ? या उनकी सारी विचारधारा मानवता के इतिहास के विकासक्रम की एक कड़ी मात्र है।

अवतार और महापुरुष

युग-युग में मनुष्य अपने सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता के लिए जो प्रयोग और चेष्टाएँ करता आया है, वे ऐतिहासिक परम्परा की निश्चित कड़ियाँ ही होती हैं। वस्तुतः समाज में जो परिकल्पनाएँ होती हैं वे सदैव पुराने प्रयोगों के परिणाम और पिछले अनुभवों के आधार पर ही होती हैं। कोई अवतार या कोई महर्षि ख्वाहमख्वाह मनमानी बात नहीं करता। सच तो यह है कि संसार में जितने भी महर्षि और अवतार हुए हैं, उन्हें समाज की सम्मिलित इच्छा-शक्ति की प्रतिमूर्ति ही समझना चाहिए। अवतार, आसमान में बैठे हुए किसी भगवान् के अवतार नहीं, बल्कि सारे मानव-समाज की उच्चतर आकांक्षाओं के ही अवतार होते हैं। इसलिए वे समाज के अनुभव-समुच्चय से बाहर नहीं जा सकते। वे मानव-समाज के पिछले प्रयोगों से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने के लिए ही संसार में जन्म लेते हैं।

प्राणी की मूल चेष्टा

अतएव गांधीजी समाज में किस प्रकार की समाज-व्यवस्था लाना चाहते थे, इसे समझने के लिए यह भी जानना होगा कि मनुष्य आदिकाल से अपनी

समस्याओं को हल करने के लिए जो प्रयत्न करता रहा है उसका इतिहास कैसा है ? मानव इतिहास के आदिकाल में जब किसी किस्म का सामाजिक संगठन नहीं था तब मनुष्य प्रकृति-माता की गोद में अकेला ही विचरता रहा। उस वक्त अपने को जीवित रखने की चेष्टा करना ही उसका प्रमुख काम था; क्योंकि सृष्टि का व्यापक रूप से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि प्राणिमात्र की मूल प्रवृत्ति है कि वह अपनी स्थिति को कायम रखने की कोशिश करे। यह प्रकृति का एक सामान्य नियम है। हम यह भी देखते हैं कि प्राणी अपनी स्थिति को हूबहू अपनी शकल में ही कायम रखना चाहता है। जब तक जिन्दा रहकर अपनी रक्षा कर सके, वह इसी चेष्टा में लीन रहता है; इसके बाद वह अपनी स्थिति को अपनी सन्तान के रूप में कायम रखने की कोशिश करता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि मानवसृष्टि के प्रारम्भ में अपने को जीवित रखने का सामान जुटाना ही मनुष्य का एक प्रमुख कार्य रहा होगा। विशाल भू-खंडों में स्वच्छन्द रूप से विचरते हुए ही वह इस काम को पूरा करता होगा। बाद में, सम्भवतः, आबादी की वृद्धि के साथ-साथ ऐसी स्थिति आयी होगी, जब एक मनुष्य की चेष्टा ने दूसरे की चेष्टा के साथ टक्कर खायी होगी। इस टक्कर में संघर्ष और फिर हिंसा की वृत्ति का पैदा होना स्वाभाविक था। **परिणाम यह हुआ कि जिन्दगी के साधन जुटाने के सिलसिले में मनुष्य एक-दूसरे पर हिंसा के प्रयोग से स्वयं का नाश करने लगा।** आबादी थोड़ी रही तो नाश का अवसर थोड़ा ही रहा होगा। आबादी के बढ़ने के साथ-साथ इस संघर्ष का अवसर भी जल्दी-जल्दी आने लगा और अन्त में एक दिन यह संघर्ष इतना बढ़ गया कि मनुष्य के लिए अपनी स्थिति कायम रखने की ही समस्या खड़ी हो गयी। जीवन-रक्षा की चेष्टा ने ही उसकी जिन्दगी को खतरे में डाल दिया। तब प्राकृतिक स्वधर्म यानी अपनी स्थिति को कायम रखने की चिन्ता उसके सामने नये ढंग से आ खड़ी हुई। उसने देखा कि संघर्ष और हिंसा को जब तक सीमित न किया जायगा और उन्हें किसी नियन्त्रण में न रखा जायगा, तब तक अपने को कायम रखना भी असम्भव होगा। तभी

से मानव-समाज हिंसा पर विजय पाने के लिए विभिन्न प्रयोगों में लगा हुआ है।

केन्द्रवाद का प्रारम्भ

भागवत की कथा है कि जब लोग "मत्स्य न्याय" से परेशान होकर ब्रह्मा के पास पहुँचे और मानव-समाज के खतरे की बात कही तो ब्रह्मा ने उनकी रक्षा के लिए मनु महाराज को पृथ्वी पर राजा बनाकर भेजा। भागवत की कथा सम्भवतः उपर्युक्त परिस्थिति की परिचायिका है। वस्तुतः मनुष्य ने जब देखा कि आपस के संघर्ष से सारा समाज ही नष्ट हो जाना चाहता है, तो वह उससे बचने का उपाय सोचने लगा और समाज-व्यवस्था का एक नया प्रयोग प्रारम्भ हुआ यानी सहयोग के आधार पर समाज का संगठन किया गया और इसे निश्चित और निर्विघ्न रूप से चलाने के लिए एक मुखिया या सरदार की सृष्टि हुई। लोगों ने सोचा कि अगर वे अपने में से थोड़ी-थोड़ी शक्ति-संग्रह करके उसे एक व्यक्ति में केन्द्रित कर दें, तो वह विशेष शक्तिशाली व्यक्ति बाकी लोगों को काबू में रख सकेगा और कम-से-कम उतने दायरे में मनुष्य-समाज के अन्दर हिंसा सीमित होकर शांति, शृंखला कायम रह सकेगी। इस प्रकार मनुष्य ने शांति, शृङ्खला और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए पहले-पहल राजतंत्र की सृष्टि की। यही था केन्द्रवाद का प्रारम्भ।

शासक-वर्ग और शोषण

साफ है कि यह "केन्द्रीय मानव" यानी राजा आम जनता से कुछ विशेष शक्ति और कुछ बड़ी हैसियत रखता था। अपनी रहन-सहन आदि के कारण वह एक विशेष और भिन्न श्रेणी का मनुष्य गिना जाने लगा। इस प्रकार समाज में दो वर्ग हुए : "केन्द्रवर्ग" (राजवर्ग) और "जन-वर्ग"। कालक्रम में राजा को सन्तति हुई। प्रकृति की मूल प्रवृत्ति यानी अपने ही स्वरूप में अपनी स्थिति को कायम रखने की वृत्ति राजवर्ग की इन सन्तानों में भी होनी स्वाभाविक थी। इधर व्यवस्था या शासनक्षेत्र में अधिक आदमियों को स्थान देने

की आवश्यकता नहीं थी। अतः अपनी हैसियत को कायम रखने के लिए उन्हें दूसरे क्षेत्रों पर अधिकार करना पड़ा। समाज में ऊँची हैसियत में रहने के लिए शासन के सिवा दूसरा क्षेत्र आर्थिक ही हो सकता था। अतः इन राजवर्गवालों ने आर्थिक क्षेत्र में कुछ लेन-देन करके आमदनी का ऐसा सिलसिला आरंभ किया जिसमें उत्पादन तो हो पर स्वयं श्रम न करना पड़े। इस तरह शासकों ने अपने वर्ग में विस्तार करके आर्थिक क्षेत्र में भी अपना स्थान बना लिया। परिणामतः, मनुष्य ने अपनी रक्षा के लिए जिस विशेष केन्द्रीय वर्ग (राजवर्ग) की सृष्टि की थी उसने राजकीय और आर्थिक, दोनों क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया और जन-स्वातंत्र्य का आन्दोलन राजनीतिक से आर्थिक क्षेत्र में न फैल सका।

मैंने "राजा की सन्तान" शब्द का प्रयोग किया है। इसका मतलब यह नहीं है कि जितने अनुत्पादक वर्गों की सृष्टि हुई, वे सब राजाओं के वास्तविक वंशधर थे। लेकिन उनकी सृष्टि राज-काज के सिलसिले से ही हुई। राजा को मदद करने के लिए गुमाश्ता यानी व्यवस्थापकों का जन्म हुआ। फिर राजवंश, व्यवस्थापकवंश आदि अनेक अनुत्पादक वर्ग की सृष्टि हुई। इनके लिए आवश्यक था कि उत्पादन किये बिना भी उपभोग का उपाय करें। बहुमुखी व्यापार का क्षेत्र तैयार करके इन्होंने इसके लिए वाञ्छित अवसर प्राप्त किया। प्रकृति का नियम है कि किसी चीज का जन्म होने पर वह स्वाभाविक रीति से फैलती रहती है। राज-काज के बहाने जिस अनुत्पादक वर्ग की सृष्टि हुई, वह फैलकर इतना विशाल हो गया कि मानव-समाज में शासन और शोषण की एक संकटपूर्ण समस्या खड़ी हो गयी।

अतः एक बार फिर वह दिन आया कि मनुष्य ने सुख और शान्ति की नीयत से जिस केन्द्र, जिस राज की स्थापना की थी वह उसीको हड़पने लगा। जिस हिंसा को उसने केन्द्रीय शक्ति द्वारा सीमित करना चाहा था वही शोषण के रूप में अधिकाधिक फैलती हुई नजर आयी। प्रजा के सामने आत्म-रक्षा की समस्या आ खड़ी हुई; उसकी जिन्दगी भारी खतरे में पड़

चुकी थी। प्रजा ने सोचा और महसूस किया कि उसने 'केन्द्रवाद' की सृष्टि करके भूल की। 'केन्द्र' को बनाया गया था सिर्फ व्यवस्था और शासन के लिए, लेकिन आर्थिक क्षेत्र में फैल जाने से वह मनुष्य की जिन्दगी पर ही हावी हो गया; क्योंकि उसने मनुष्य की आवश्यकताओं का अधिकार अपने हाथ में ले लिया था।

प्रजातन्त्र का उदय

राजनीतिक के साथ ही आर्थिक जीवन पर भी कब्जा कर लेने के कारण शासक-वर्ग प्रजा का निर्दलन करने में अधिक समर्थ हो गया था। फिर दास-प्रथा ने जोर पकड़ा जिससे प्रजा की हालत और भी शोचनीय हो गयी। मनुष्य की मौलिक स्वतन्त्रता का भी लोप हो गया। परिणामतः वह इस बात पर विचार करने लगा कि किसी तरह उस 'केन्द्र' को विघटित किया जाय अर्थात् जिस सत्ता को प्रजा ने अपने में बटोरकर एक केन्द्रीय व्यक्ति के हाथ में सौंपा था उस सत्ता को फिर से अपने हाथ में लेने का उसने निश्चय किया। मतलब यह कि मनुष्य ने केन्द्रीय सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात सोची। इस बात को हम राजनीतिक भाषा में लोकतन्त्र की स्थापना कहते हैं। लेकिन केन्द्र को प्रजा ने जो सत्ता दी थी उसका उपभोग करते हुए केन्द्र की कई पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। इस उपभोग को छोड़ देना सरल और स्वाभाविक न था क्योंकि केन्द्र को भी तो प्रकृति की मूल प्रवृत्ति के अनुसार अपने को अपनी ही शकल में कायम रखना था। अतः केन्द्र ने अपनी रक्षा के लिए सदियों के संचित साधन और शक्तियों का लोकतन्त्र को दबाने में उपयोग किया। फलतः राजा और प्रजा में संघर्ष हुआ और इस संघर्ष ने राजनीतिक क्रान्ति का रूप धारण किया। यह क्रान्ति फ्रांस के राज-विप्लव से शुरू होकर यूरोप भर में फैल गयी। इस क्रान्ति के सामने राजशक्ति ठहर न सकी। एक तरह से प्रजा की सफल क्रान्ति ने प्रजातन्त्र कायम किया। लोकतन्त्र की लहर ने केन्द्रीय राजतन्त्र का विध्वंस किया।

औद्योगिक क्रान्ति और उसका परिणाम

राजनीतिक सफलता के बाद प्रजातन्त्र की लहर का आर्थिक क्षेत्र में फैलना स्वाभाविक था क्योंकि विश्व की कोई वस्तु एक ही स्थान पर रुकी नहीं रह सकती। प्रकृति के नियम के अनुसार उसे तब तक प्रगति करना ही होगा जब तक कोई दूसरी शक्ति उसे रोक न दे।

हुआ भी वही। यह लहर आर्थिक क्षेत्र तक फैल न सकी। एक दूसरी परिस्थिति के कारण उस आन्दोलन की सहज प्रगति रुक गयी। जिस समय राजनीतिक क्षेत्र में शासन-सत्ता को विकेन्द्रित करने का आन्दोलन चल रहा था, ठीक उसी समय वैज्ञानिक जेम्स वाट ने बाष्पीय शक्ति का आविष्कार किया। बाष्पीय शक्ति के आविष्कार से केन्द्रवादी वर्ग को अपनी स्थिति को संगठित करने के लिए बहुत बड़ा साधन मिल गया। पहले वे कोठियों में दस्तकारों को गुलाम रखकर समाज के जरूरी सामानों का उत्पादन करते थे। अब वे कारीगरों के मुहताज न रहे। उत्पादन बड़े-बड़े यन्त्रों से होने लगा। उत्पत्ति के प्रकार में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। श्रमिक वर्ग बेकार हुआ और उनकी कठिनाइयाँ बढ़ीं। एक ओर तो राजनीतिक क्रान्ति द्वारा शासकीय केन्द्रवाद को नष्ट किया जा रहा था और उसी समय दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति द्वारा उत्पादन के तरीकों को केन्द्रीभूत किया जा रहा था। केन्द्रीकरण की यह प्रक्रिया इतनी प्रबल, इतनी मोहक थी कि सारा समाज इसके लोभ और लिप्सा में फँस गया।

दस्तकार उत्पादन यन्त्र का मालिक नहीं रह गया। उसे अब अपना-अपना यन्त्र लेकर उत्पादन के कार्य को चलाने की आजादी नहीं रह गयी। उसे बड़े-बड़े कारखानों में खाली हाथ आकर विराट् बाष्पीय यन्त्रों के द्वारा काम करना पड़ता था। बाष्पीय यन्त्रों के आविष्कार से कारीगर (उत्पादन के श्रमिक) का आर्थिक निःशस्त्रीकरण हो गया। परिणाम यह हुआ कि समाज ने विराट् क्रान्ति करके जैसी प्रगति करने की कल्पना की थी, वह निष्फल गयी। मूल क्रान्ति की सारी दिशा ही बदल गयी और समाज की सारी समस्याएँ ज्यों की त्यों पड़ी रह गयीं।

पूँजीपति सत्ताधारी कैसे बने

जीवन के साधन प्राप्त करने की चेष्टा मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है। इस चेष्टा का परिणाम ही उत्पत्ति है। अतः यह स्वाभाविक है कि उत्पत्ति का प्रकार जैसा होगा, समाज का ढाँचा हूबहू वैसा ही होगा। बाष्पीय यन्त्र के आविष्कार से उत्पत्ति के प्रकार में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। विकेन्द्रित उत्पादन-पद्धति बदलकर केन्द्रित हो गयी। उत्पादन के तरीके केन्द्रित हो जाने के कारण केन्द्रीय राजतन्त्र का विनाश हो जाने के बावजूद भी शासन-पद्धति केन्द्रित ही रह गयी। अन्य दिशाओं में भी समाज का संगठन केन्द्रित ढंग से होने लगा। शासन-यन्त्र के केन्द्रित होने के कारण इसको चलानेवाला, कोई निर्दिष्ट व्यक्ति होना चाहिए, क्योंकि समाज के सभी मनुष्य आकर उसे चला नहीं सकते। अतः लोकतन्त्र ने प्रतिनिधि-व्यवस्था का रूप धारण किया; अर्थात् लोगों की राय से किसी व्यक्ति को प्रतिनिधि बनाकर उसके द्वारा शासन-सूत्र का संचालन होने लगा। इसीका नाम प्रजातन्त्र रखा गया।

सत्ताधारी वर्ग ने जब यन्त्रों पर कब्जा करके समाज की उत्पत्ति पर कब्जा कर लिया, तो उसके लिए यह आसान हो गया कि वह उत्पादित सम्पत्ति की ताकत से लोगों की राय खरीदकर खुद प्रतिनिधि बन जाय। इस तरह उसने शासन-यन्त्र पर भी कब्जा कर लिया। जिसके कब्जे में उत्पादन का यन्त्र था, उसके हाथ में शासन का यन्त्र भी आ गया। कहने का मतलब यह कि शासन-यन्त्र से उत्पादन-यन्त्र, उत्पादन-यन्त्र से शासन-यन्त्र—इसी प्रकार कब्जे बदलते रहे, परंतु प्रजा तो जहाँ थी वहीं पड़ी रही। बल्कि उत्पादन और शासन दोनों के अतिकेन्द्रित हो जाने के कारण पूँजीपति ही सत्ताधारी बन गये और प्रजा इस पूँजीवादी समाज में सामन्त-व्यवस्था से भी अधिक शोषित और पददलित हो गयी।

दास-प्रथा का अन्त और मजदूर-प्रथा का आरम्भ

यह सही है कि सामन्तवादी समाज में श्रमिक गुलाम था। उसे किसी किस्म की स्वतन्त्रता न थी। वह मालिक के कहने पर उठता और बैठता था।

पूँजीवादी समाज में पूँजीपतियों ने स्वतन्त्रता की मीठी-मीठी बातों के साथ दास-प्रथा को मिटाकर श्रमिक को स्वतन्त्र कर दिया, क्योंकि उन्होंने हिसाब लगाकर देखा कि दास-प्रथा का अन्त किये बिना स्वार्थ सिद्ध होना कठिन था। भाप के यन्त्रों द्वारा उत्पादन होने से श्रमिकों की पहली जैसी अधिक आवश्यकता नहीं रह गयी थी। अतः गुलामों को सपरिवार खिलाकर पालने में बड़ा नुकसान था। उन्होंने देखा कि अगर वे गुलामों को आजाद कर दें तो जरूरत पड़ने पर मजदूरों को बुलाकर काम में ले लेने में पड़ता बराबर रहेगा। इस तरह दास-श्रमिकों की अपेक्षा आजाद-मजदूरों से काम लेने में उन्हें अधिक लाभ होने लगा। नतीजा यह हुआ कि बेकार श्रमिक-परिवार भूखों मरने लगे।

कल-कारखानों से उत्पादन होने के कारण बेकारों की संख्या बढ़ती गयी और पूँजीपतियों के लिए उनका मनमाना शोषण आसान हो गया, क्योंकि अगर कोई मजदूर अत्याचार सहने से इनकार करता, तो उसके बदले में असंख्य बेकार और भूखे लोग किसी भी शर्त पर काम करने को तैयार हो जाते थे।

स्वावलम्बी उत्पादन का नाश : लोकतन्त्र का नाश

मजदूर ही नहीं, किसान और दूसरे लोग भी पूँजीवादी व्यवस्था के कारण पहले से अधिक तकलीफ में पड़ गये। सामन्तवादी समाज में सामन्तों की संख्या अधिक होने के कारण साधारण प्रजा उनके आपसी झगड़ों से लाभ उठा सकती थी। उनकी व्यक्तिगत प्रकृति और प्रवृत्तियों में स्वाभाविक विभिन्नता होती थी। इससे भी समय-समय पर प्रजा की दशा में परिवर्तन होने की गुंजाइश रहती थी। सामन्त और प्रजा के बीच कुछ व्यक्तिगत सम्बन्ध भी रहता था। इसलिए समय-समय पर प्रजा को कुछ-न-कुछ राहत मिल जाया करती थी। उत्पत्ति के साधन उत्पादक के हाथ में होने से कारीगर लोग कोठियों के बाहर भी थोड़ा-बहुत अपनी आवश्यकता के अनुसार उत्पादन कर लेते थे। कोठियों में केन्द्रित होते हुए भी उत्पादन बहुत

हद तक विकेन्द्रित था। प्रजा को अपनी जिन्दगी की आवश्यकता के लिए पूर्ण रूप से सामन्तों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता था। सामन्त-प्रथा में शासन का आकार-प्रकार केन्द्रित था, पर सामन्तों की संख्या बहुत होने के कारण वह केन्द्र भी विकेन्द्रित दशा में ही चलता था। पूँजीवादी व्यवस्था में केन्द्रीकरण बढ़ता ही गया। धीरे-धीरे धनिकों का गुट बनता गया। छोटी कम्पनियाँ टूट-कर बड़ी कम्पनी में मिलने लगीं। प्रजा और पूँजीपतियों में अन्तर बढ़ता गया। उत्पादन के साधन प्रजा के हाथ से निकलकर केन्द्रित होने लगे और प्रजा का सम्पूर्ण रूप से आर्थिक निःशस्त्रीकरण हो गया। इस तरह स्वतन्त्र और स्वावलम्बी प्रथा को छोड़कर प्रजा अपनी आवश्यकताओं के लिए पूर्ण रूप से इन धनिकों के सहारे हो गयी और उनकी बनायी हुई प्रत्येक शर्त को मानने के लिए मजबूर हो गयी। परन्तु कहा यह जाता था कि जो कुछ होता है प्रजा की राय से ही, प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा ही होता है। भला ऐसे मजबूर लोगों के "प्रतिनिधि-तंत्र" को लोकतंत्र कहना लोकतन्त्रता का मजाक नहीं तो और क्या है? क्योंकि गरज से दबी हुई जनता स्वतन्त्रतापूर्वक राय ही कैसे दे सकती है?

इस तरह औद्योगिक क्रान्ति ने पूँजीवाद को जन्म दिया और उसने लोक-तन्त्र की ही जान ले ली। प्रजातंत्र की पवित्र कल्पनाएँ वैधानिक पुस्तकों के पन्नों में बँधी रहीं। उनमें असलियत आ ही नहीं सकी। प्रजा की दशा ठीक वैसी ही रही, जैसे किसी किसान को मुकदमे में अपनी डिग्री के बावजूद भी जमीन पर अपना कब्जा नहीं मिलता।

स्वच्छन्द उत्पत्ति का नतीजा

पूँजीवादी व्यवस्था में अन्धाधुन्ध उत्पादन के कारण उपभोग्य सामग्री का अपव्यय होने लगा। मनमाना उत्पादन करते समय कोई यह नहीं देखता कि समाज को कौन-सी सामग्री कितनी और किस किस्म की चाहिए। प्रत्येक उत्पादक तात्कालिक स्थिति के अनुसार जिस सामग्री के उत्पादन में अधिक लाभ देखता है, उसीमें सारा कच्चा माल समाप्त कर देता है। बेकारी बढ़ने से

प्रजा की क्रयशक्ति क्षीण हो गयी और परिणामतः उपभोक्ताओं की संख्या घटती गयी। चीजों की माँग का कोई निश्चय न रह गया, इसीलिए कच्चा माल पैदा करनेवाले किसानों के लिए उत्पादन के अनुपात का कोई सही सिलसिला या सही अनुमान रखना कठिन हो गया। किसी साल किसी माल की अधिक माँग होने पर किसान ने दूसरे माल उस माल की पैदावार बढ़ाकर जब देखा कि उस साल उसके पैदा किये हुए माल की माँग कतई नहीं है, तो उसकी हालत शोचनीय हो जाती है; वह किंकर्तव्यविमूढ़ और हतोत्साह हो जाता है। उसको जिन्दगी से कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती; पैदावार बढ़ाने के प्रति भी वह उदासीन हो जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में संसार की हालत ऐसी हो गयी कि जहाँ एक ओर अत्यधिक उत्पत्ति के कारण लोग उसे विनष्ट करते रहे, वहीं दूसरी ओर लाखों और करोड़ों नर-नारी भूख से तड़प-तड़पकर मरते रहे। साफ बात तो यह है कि मानव-समाज ने जिस हिंसा, शोषण, गुलामी तथा भुखमरी से बचने के लिए सामन्त-प्रथा का नाश किया, पूँजीवादी समाज में उसका संकट घटने के बजाय और भी बढ़ गया। मनुष्य की जिन्दगी अधिक खतरे में पड़ गयी। अतः समाज को अपनी स्थिति की रक्षा के लिए फिर से उपाय सोचना पड़ा। इसी सिलसिले में उसने कई प्रयोग किये जिनमें "समष्टिवाद" और "फासिस्टवाद", दो प्रमुख प्रयोग कहे जा सकते हैं।

(२)

कार्ल मार्क्स

सौ वर्ष पहले की बात है। प्रजा पूँजीवाद से त्रस्त और व्याकुल हो उठी थी। परिणामतः उसकी सामूहिक अधीरता ने कार्ल मार्क्स को जन्म दिया। कार्ल मार्क्स बहुत बड़ा पण्डित और अद्भुत विद्वान था। उसने सारी स्थिति का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया।

मार्क्स का दर्शन

सबसे पहले शासन-यन्त्र को विकेन्द्रित करने की पिछली क्रान्ति की विफलता के कारण ढूँढ़ते हुए मार्क्स ने देखा कि प्रजा की सम्पत्ति पूँजीपतियों के कब्जे में होने से वे जनता को निर्दयतापूर्वक पीसते रहे हैं। उसने यह भी देखा कि जब तक जिन्दगी की आवश्यक सामग्री पूँजीपतियों के हाथ में रहेगी तब तक प्रजा को उन्हींके अधीन रहना होगा। अतः उसने यह निष्कर्ष निकाला कि जब तक भोग्य पदार्थों पर समाज का कब्जा नहीं होगा, तब तक समाज उनका सही उपभोग नहीं कर सकता। और तब तक शासन-सत्ता पर भी उसके सही कब्जा होने की सम्भावना नहीं हो सकती। भोग्य पदार्थों पर कब्जा तभी हो सकता था, जब सामग्री के उत्पादन और साधन पर प्रजा की सत्ता कायम हो, क्योंकि इतिहास बतलाता है कि शासकीय या आर्थिक केन्द्र में से किसी एक पर जिस वर्ग का कब्जा हो जाता है वह दूसरे पर भी फैल जाता है। इसलिए आवश्यक यह बताया गया कि शासन-यन्त्र और उत्पादन-यन्त्र, दोनों पर प्रजा की सत्ता कायम हो। इतिहास के आधार पर ऐसा सोचना स्वाभाविक ही था। अतः मार्क्स की बातें लोगों के मन में बैठने लगीं और प्रजा ने फिर क्रान्ति की। पहली क्रान्ति जिस प्रकार शासन-यन्त्र पर कब्जा करने के लिए थी, उसी प्रकार यह दूसरी क्रान्ति उत्पादन-यन्त्र पर कब्जा करने के लिए हुई। कहीं यह सफल हुई, कहीं आंशिक रूप से सफल हुई और कहीं विफल भी हुई। लेकिन जहाँ तक सिद्धान्त और विचारों का सवाल था, बहुत से लोगों ने सोचना शुरू किया कि संसार में स्वतन्त्रता और शान्ति की स्थापना के लिए मार्क्स के रास्ते ही जाना होगा।

फासिस्टवाद का जन्म

दूसरी ओर कुछ लोगों ने ऐसा देखा कि सारी खुराफात की जड़ पूँजी-पतियों के स्वच्छन्द और निर्बन्ध उत्पादन में छिपी हुई है। उन्होंने यह भी

सोचा कि प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली के कारण प्रजा में गैरजिम्मेदारी की भावना फैल गयी है और सारे समाज में, सारे संसार में, घोल-घपला उत्पन्न हो गया है क्योंकि प्रजा अपना प्रतिनिधि चुनकर उसके भरोसे अपनी सारी जिम्मेदारियों से निश्चिन्त हो बैठती है। इस निश्चिन्तता के कारण प्रजा की विचार-शक्ति भी पंगु हो जाती है और धीरे-धीरे लोग निश्चेष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार समाज में दो ही वर्ग रह गये—एक तो स्वच्छन्द पूँजीपति और दूसरा प्रतिनिधि पर भरोसा करनेवाला अनुत्तरदायी और निश्चेष्ट प्रजावर्ग (जो स्वयं अपनी बेहोशी के कारण चतुर पूँजीपतियों द्वारा खरीदा जा चुका था)। अतः आवश्यक यह था कि समाज-व्यवस्था को चेतन, कुशल तथा परिस्थिति के अनुकूल बनाने का उपाय हो। प्रजा के निश्चेष्ट होने के कारण प्रजातन्त्र का कोई मूल्य नहीं रहता। इसलिए प्रजातन्त्र में इन लोगों की कोई आस्था भी न थी। अतः उनके विचार से एक जबरदस्त, सुयोग्य और जागरूक दल के द्वारा प्रजा और पूँजीपति, दोनों पर नियन्त्रण रखकर लोगों को सक्रिय और सुव्यवस्थित रखने की आवश्यकता थी। लेकिन यह कोई आसान काम न था। पूँजीपतियों के कब्जे में शक्ति और सम्पत्ति पहले ही से मौजूद थी; वे भला कब स्वीकार कर सकते थे कि उन पर दूसरे दल की हुकूमत हो ? उधर प्रजा के दिमाग में वहम बैठा हुआ था कि सारी व्यवस्था उनकी राय से ही चल रही है। इसलिए प्रजा भी यह स्वीकार करने को तैयार न थी कि उसके ऊपर, उसकी राय के बिना, किसी एक दल की हुकूमत हो। बात भी ठीक थी कि ऐसे किसी शक्तिशाली दल की हुकूमत से प्रजा और पूँजीपति, दोनों की स्थिति नीचे गिरती थी (यद्यपि उसमें से एक की स्थिति वास्तविक और दूसरे की काल्पनिक थी)। अतएव जो लोग इस तरह समाज-संचालन के लिए चिन्तित थे, उनके लिए आवश्यक था कि वे एक बलवान् और दृढ़संकल्प दल बनाकर सारे समाज पर जबरदस्ती अपना अधिकार कायम करें ताकि समाज की व्यवस्था तथा उत्पादन और बँटवारे का प्रबन्ध ठीक तरह से हो सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजीवादी संकट से उद्धार पाने के लिए समाज में दो विचारधाराएँ चलीं—एक थी रूस (मार्क्स) की समष्टिवादी योजना और दूसरी थी इटली की फासिस्टवादी व्यवस्था।

निराशाजनक स्थिति

ये दोनों प्रयोग करीब एक ही समय चले, लेकिन कुछ दिनों के बाद से ही यह देखने में आ रहा है कि समाज का प्रथम उद्देश्य जो कि हिंसा और गुलामी से बचकर, सुख-चैन से जिन्दा रहना तथा प्रजातंत्र को कायम रखना है, सिद्ध नहीं हो रहा है।

ऐसा क्यों? इसका भी गहराई से विचार करना आवश्यक है। यद्यपि फासिस्टवादी नेताओं की भावना, मुख्यतः अपने मुल्क का कल्याण करने की थी, उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति ऐसी रही जिससे वे एक निश्चित जाल में फँस गये। उन्होंने अपनी जिन्दगी एक छोटे-से शक्तिशाली एवं क्रान्तिकारी दल के रूप में शुरू की थी। लेकिन चूँकि उनकी दृष्टि जनवाद के खिलाफ थी, उनकी सारी संगठित शक्ति पूँजीवाद के हाथ का खिलौना बन गयी। पूँजीवाद व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण आपसी विश्रृंखलता तथा जनवाद बनाम समष्टिवाद से भयभीत था। उनके सामने अपने को सुदृढ़ और संगठित रूप से समाज की छाती पर प्रतिष्ठित करना था। वे फासिस्टवादी नेतृत्व तथा उसके संगठन में अपना उद्धार देखने लगे और उन्हें मदद कर सफलता की ओर आगे बढ़ाने का कार्यक्रम उठाया। फासिस्टवादी नेतृत्व भी पूँजीवादी इमदाद के कारण उन्हें अपना सहज हितैषी समझने लगा। इस प्रकार पूँजीवाद का साधन तथा फासिस्टवाद का व्यक्तित्व और संगठन एक साथ मिलकर इतना भयंकर और शक्तिशाली गुट बन गया कि राष्ट्र का कोई भी तबका या दल उसका मुकाबला नहीं कर सका। फलतः इस गुट ने फासिस्टवाद के नाम से राष्ट्र की सारी विरोधी शक्तियों को दबाकर एक तानाशाही तन्त्र की स्थापना कर दी। जनता इसकी वज्रमुष्टि के नीचे दब गयी।

समष्टिवादी सिद्धान्त वैज्ञानिक तथा जनवादी आदर्श के ही आधार पर बना था। लेकिन इसकी स्थापना करने का साधन और ढंग ऐसा था कि इस

सिद्धान्त के अनुसार जो समाज बना, उसमें तानाशाही का ही संगठन हुआ। उत्पत्ति के साधन केन्द्रित होने के कारण श्रमिकों के नाम से एक संगठित दल ने उस पर कब्जा किया और श्रमिकों की ओर से उसे चलाने लगे। ये दल दूसरे सबको दबाकर उसी तरह से एकतन्त्री हो गये जिस तरह से फासिस्टवादी हुए। वस्तुतः हिंसा के आधार पर जबरदस्ती दबाने का यह एक स्वाभाविक नतीजा था।

अतः हिंसा की प्रगति को सीमित करने का कोई लक्षण नहीं दिखायी पड़ रहा है। समष्टिवादी राष्ट्रों में भी फासिस्टवादी राष्ट्रों के जैसा ही अधिनायक-तंत्र का बोलबाला है। अन्तर केवल इतना ही है कि फासिस्टवादी तानाशाही अपने नग्न रूप में सामने आती है और समष्टिवादी तानाशाही लोकतंत्रीय शब्दजाल से ढँकी रहती है।

फासिस्टवाद में प्रजा जानती है कि वह निर्दलित और परतंत्र है इसलिए वहाँ यह भी मुमकिन हो सकता है कि किसी दिन जनता की पीड़ानुभूति तानाशाह को ही चाट जाय, परंतु समष्टिवादी राष्ट्रों में प्रजा अपने ही भ्रम में दबी रहती है—इसी आशा से कि एक दिन प्रकृति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण यह शासन-सत्ता अपने-आप मुरझाकर मर जायगी और वह स्वतंत्र हो जायगी। 'विश्वास रखो, आखिर मुक्ति मिलेगी'—ऐसा ही एक भ्रम उन्हें सदा के लिए निश्चिन्त बनाये रखता है और अधिनायक-तंत्र को खतम करने की ओर उनकी प्रवृत्ति आसानी से जाती ही नहीं। वस्तुतः यह सोचने की बात है कि समष्टिवाद की धारणा तथा कल्पना इतने ऊँचे आदर्श के आधार पर होते हुए भी प्रजा उसके नीचे फँस कैसे गयी। अतः इसके बारे में थोड़ी जानकारी कर लेनी चाहिए।

समष्टिवादी समस्या : व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश

समष्टिवादी ने देखा कि समाज में सारी हिंसा और सारे संघर्ष की जड़ मनुष्य में स्वार्थ का आधिक्य। वस्तुतः हिंसा ही समाज को नष्ट करने का एकमात्र कारण है और मानव-समाज के प्रारंभ से ही यह देखा जा रहा है

कि हिंसा के जन्मदाता हैं स्वार्थ और संघर्ष। अतः समष्टिवादी ने हिंसा को निर्मूल करने की बात सोची। फिर उसने यह देखा कि सम्पत्ति से ही स्वार्थ पैदा होता है, क्योंकि सारा स्वार्थ सम्पत्ति में ही निहित रहता है। अतः व्यक्ति को सम्पत्ति-हीन बनाया जा सके तो स्वार्थ के लिए कोई गुंजाइश ही न रह जायगी। इसीलिए समष्टिवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति को कोई स्थान नहीं दिया गया है।

वर्गविहीन समाज की आवश्यकता

हिंसा का दूसरा रूप है, शोषण। उन्होंने देखा कि समाज कई वर्गों में बँटा हुआ है और यह शोषण तब तक जारी रहेगा, जब तक भिन्न-भिन्न वर्गों का अस्तित्व बना रहेगा। जब तक समाज पूँजीवर्ग, मध्यमवर्ग, श्रमिकवर्ग आदि विभिन्न श्रेणियों में बँटा रहेगा तब तक एक के शोषण से ही दूसरे का स्वार्थ सिद्ध होगा। अतः उनकी दृष्टि में यह आवश्यक था कि समाज में किसी किस्म का वर्ग-भेद न रहे। इस प्रकार समष्टिवादी सिद्धान्त के अनुसार दुनिया में वर्गहीन समाज का संगठन अत्यावश्यक है।

शासनहीन समाज की आवश्यकता

उन्होंने इतिहास के पन्नों से यह भी समझा कि मनुष्य की आपसी हिंसा को सीमित करने की चेष्टा में ही समाज में शासन-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था। मतलब यह कि व्यक्तियों की छोटी हिंसा का दमन करने के लिए एक बड़ी हिंसा के रूप में शासन की आवश्यकता पड़ी। **शासन का अर्थ है : जबर-दस्ती यानी स्वातंत्र्य-विहीनता;** क्योंकि मनुष्य पर जिस हद तक शासन रहेगा उसी हद तक वह उस शासन के अधीन होगा और उसी हद तक उसमें स्वतन्त्रता की कमी होगी। अतः समष्टिवादी समाज के अनुसार संसार को हिंसा और शोषण से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि समाज शासन-हीन हो।

समष्टिवादी का साध्य

इस प्रकार हम देखते हैं कि समष्टिवादी कल्पना के अनुसार दुनिया को हिंसा-रहित, शोषण-रहित और स्वतन्त्र बनाने के लिए यह आवश्यक है कि समाज शासन-हीन और वर्ग-हीन व्यवस्था के आधार पर संगठित हो। उनकी कल्पना के अनुसार न कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति रहनी चाहिए और न समाज में किसी प्रकार से वर्ग-विषमता या शासन का स्थान होना चाहिए। वस्तुतः इस प्रकार का समाज बन जाने पर ही प्रजा की चिरकाल की चेष्टा सार्थक होगी। कार्ल मार्क्स ने भावी समाज की इस प्रस्तावना से मानवता का बड़ा उपकार किया। उन्होंने केन्द्रसत्ता के विकट जाल से प्रजा को छुड़ाने के लिए एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया, जिसका एक निश्चित स्वरूप और जिसमें भविष्य की एक निश्चित धारणा थी। इस प्रकार हम मार्क्सवादी यानी समष्टिवादी साध्य का एक स्पष्ट चित्र प्राप्त करते हैं।

समष्टिवादी नीति-रीति

लेकिन प्रश्न यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था पर पहुँचने का तरीका क्या हो? कार्ल मार्क्स ने बताया है कि सम्पत्ति अर्थात् उत्पादन के साधनों पर प्रजा की सत्ता कायम करके श्रमिक यानी उत्पादक के हाथों में सारी सत्ता दे देने से ऐसे समाज का संगठन हो सकेगा। अतः मार्क्स के अनुयायी उत्पादन के साधनों पर से औरों का कब्जा हटाकर उस पर श्रमिक का कब्जा कराने की चेष्टा में लग गये।

अब तक समाज में पूँजीपति और किसान, दोनों संपत्तिवाले थे। श्रमिकों की ही एक ऐसी श्रेणी थी जो शुद्ध श्रम से अपनी जीविका उपार्जन करती थी और जिसके पास कोई संपत्ति न थी। मार्क्सवादियों के अनुसार व्यक्तिगत-सम्पत्तिहीन, शासनहीन तथा वर्गहीन समाज की सही स्थापना ही श्रमिक-वर्ग कर सकता था और ऐसे समाज तक पहुँचने की जिम्मेदारी और जमानत भी वही श्रेणी कर सकती थी। अतएव यह आवश्यक था कि पहले सारी सत्ता उसी

वर्ग को सौंपी जाय ताकि वह अधिकारपूर्वक शासनहीन और वर्गहीन समाज की स्थापना करने में समर्थ हो सके। लेकिन यह न तो आसान बात थी और न सारा देश इसके लिए राजी हो सकता था, क्योंकि पूँजीपति और किसान-वर्ग, दोनों अपनी साम्पत्तिक स्थिति को त्याग कर मजदूरों को आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार नहीं थे। अतः जबरदस्ती की आवश्यकता पड़ी, जिसकी सफलता के लिए यह जरूरी था कि शुरू में एक जागरूक तथा सुसंगठित दल श्रमिकों की ओर से सब पर कब्जा करे। मार्क्सवादी समझते थे कि कोई दूसरा इस सिद्धान्त के प्रति वफादार नहीं रह सकता, क्योंकि वह आदर्श का सही प्रतिपालन नहीं कर सकेगा। फलतः इस दल ने मजदूरों की ओर से पहले समाज के सम्पूर्ण जीवन पर कब्जा किया; प्रजा की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेने के बाद इसने स्वयं प्रजा का ठीक उसी प्रकार दमन शुरू किया, जैसे पुराने जमाने में प्रजा की धर्मरक्षा के ठेकेदार लोग प्रजा की आध्यात्मिक सभ्यता की रक्षा करने के हेतु उन्हें जिन्दा जला देना भी उन पर करुणा और आशीर्वाद बरसाने के समान मानते थे।

दो धाराएँ

इस तरह समाज को पूँजीवादी संकट से छुड़ाने के लिए दो प्रयोग शुरू हुए : पहले की कोशिश थी कि एक सचेष्ट, सबल और सुयोग्य दल के द्वारा पूँजीवर्ग और जनवर्ग, दोनों पर कब्जा करके समाज के सुव्यवस्थित संचालन के द्वारा सुख और चैन की स्थापना की जाय। दूसरे की चेष्टा यह थी कि श्रमिकों की ओर से पूँजीपति और किसान, इन सभी वर्गों को जबरदस्ती मिटाकर सारी सत्ता श्रमिक-वर्ग की ओर से एक सुयोग्य और शक्तिशाली दल के हाथ में सौंप दी जाय, ताकि एक ही वर्ग के अधिनायकत्व के कारण शोषण और संघर्ष का लोप हो सके। परन्तु इन दोनों की कामयाबी व्यापक हिंसा और एक ही दल की तानाशाही पर आधृत थी। यही कारण है कि आज दुनिया में तानाशाही तंत्र इतने जोरों से फैल रहा है; पूँजीवाद के स्वच्छन्द शोषण से घबड़ाये हुए लोगों को दूसरा कोई रास्ता ही नजर नहीं आता, लोग कड़ाही से निकलकर भट्ठी में कूद पड़ने के लिए उद्यत हैं।

पूँजीवादी और समष्टिवादी विधान

उत्पादन के तरीके और तत्सम्बन्धी व्यवस्था ने इस तानाशाही को फैलने में काफी मदद पहुँचायी है। समाज के तौर तरीके सदा वैसे ही होते हैं जैसे उत्पादन के तरीके होते हैं। समष्टिवादी समाज की उत्पादन-विधि में पूँजीवादी तरीकों से कोई भिन्नता नहीं थी। दोनों का ढंग केन्द्रीय था। समष्टिवादियों ने केवल उन केन्द्रीय यंत्रों का संचालन श्रमिकों की ओर से चलनेवाले एक दल के हाथ में सौंप दिया। पूँजीवादी समाज में प्रतिनिधि द्वारा संचालित शासन-यंत्र को पूँजीपति ने प्रतिनिधित्व पर कब्जा करके अपने अधीन रखा था। इस प्रकार शासन और उत्पादन, दोनों पर पूँजीपतियों का कब्जा था। समष्टिवादी विधान में अन्तर इतना ही हुआ कि दोनों यंत्रों का नियन्त्रण पूँजीपति के हाथ से निकलकर एक दल के हाथ में आ गया (यह दल श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने की और अन्त में सत्ता उन्हींको सौंप देने की बात करता है)।

संपत्ति के मोह से अधिकार का मोह अधिक बलवान् है

समष्टिवादी कहते हैं कि जिसके पास एक बार सम्पत्ति इकट्ठी हो जाती है, वह उसे छोड़ना नहीं चाहता, बल्कि उसे बढ़ाने में ही लगा रहता है जो दूसरों के शोषण से ही सम्भव हो सकता है। लेकिन मनुष्य का स्वार्थ केवल सम्पत्ति पर कब्जा करने तक ही सीमित नहीं रहता। समष्टिवादी यह भूल गये कि अधिकार का मोह सम्पत्ति के मोह से अधिक बलवान् होता है। जो व्यक्ति या दल एक बार सत्ता पर कब्जा कर लेगा वह उसे जनता को न देकर अपने हाथों में केन्द्रीभूत करने की कोशिश में नित्य लगा रहेगा और यह दूसरों के निर्दलन से ही पूरा हो सकता है। फलतः जो दल प्रारम्भ में श्रमिकों का राज कायम करने चलता है, वह सफल होने पर श्रमिकों की ओर से सत्ता ग्रहण करता है और फिर अपने को मजबूत बनाकर 'श्रमिक-शाही' नाम से राज करने लगता है। यही कारण है कि जो दल जनता को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए शासनारूढ़ हुआ था, उसे आज किसी-न-किसी तरह अपना अधिकार कायम रखने की ही फिक्र लग गयी है।

केन्द्रीकरण का परिणाम

जब समष्टिवादियों ने बहुत से पूँजीपतियों को खत्म करके एकदलीय शासन बनाया, तब उन्होंने यह नहीं देखा कि वे मनुष्य की जिन्दगी के साधन-प्राप्ति के जरिये को पहले से भी अधिक केन्द्रित कर रहे थे। नतीजा यह हुआ कि जहाँ पहले बहुत से केन्द्रों में से चुनाव करने की स्वतंत्रता थी, वहाँ आज एक संचालक के अलावा दूसरे किसीके पास जाने की गुंजाइश ही नहीं रह गयी। जब संचालक ने देखा कि उसके सिवा प्रजा के लिए जिन्दगी कायम रखने का दूसरा रास्ता ही नहीं, तो वह उन पर पूरी तरह जमकर उनका अधिनायक बन बैठा। परिणामतः समष्टिवादी राष्ट्रों में भी प्रजा फासिस्टवादी राष्ट्रों के समान ही अधिनायक की वज्रमुष्टि और उसकी लाल आँखों के नीचे दबी हुई है।

(२)

लोकशाही

मानव-इतिहास के प्रारंभ से लेकर आज तक की घटनाओं को देखने से हमें मालूम होता है कि प्रजा एक बार जिस केन्द्र के कब्जे में फँस गयी, उससे छूटने की कोशिश करने पर वह उसमें अधिकाधिक जकड़ती जाती है। इसलिए खोज इस बात की करनी है कि वह कौन-सी बात है जो बार बार लोकतंत्र की चेष्टा को विफल करती जा रही है। जनक्रान्ति की सफलता के लिए आवश्यक था कि शासन-सत्ता विकेन्द्रित होकर प्रजा के हाथ में आये। प्रजा को इस कार्य में सफलता मिली भी, परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के कारण ठीक उसी समय उत्पादन के साधन केन्द्रित हो गये और पूँजीपतियों ने उन्हें हथिया लिया। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन के साधनों पर कब्जा हो जाने से शासन-यंत्र पर भी

पूँजीपतियों का कब्जा हो गया और उसने नवजात लोकतंत्र को शैशवावस्था में ही कुचल दिया। मतलब यह कि सत्ता विकेन्द्रित नहीं हो पायी, केवल उसके संचालक बदल गये। इस तरह राज्याधिकार सामंतवर्ग के हाथ से पूँजी-वर्ग के हाथ में आ गया। इस स्थिति को देखकर कार्ल मार्क्स ने समाज को उत्पादन-यंत्र पर अधिकार करने को कहा। मार्क्स की इस सलाह के अनुसार सौ वर्ष तक लोगों ने काम किया और कुछ अनुभव भी प्राप्त किया। इसके बाद गांधीजी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने देखा कि मार्क्स के बताये तरीकों से समाज का काम चलनेवाला नहीं है, क्योंकि जब तक उत्पादन और शासन-यंत्र केन्द्रवत् रहेगा, सत्ता प्रजा के हाथ में आ ही नहीं सकती। यह साफ है कि केन्द्रीय यन्त्रों पर जिसका कब्जा रहेगा, वह चाहे प्रतिनिधि हो या पूँजीपति, वास्तविक सत्ता उसीके हाथ में रहेगी और वह येन-केन प्रकारेण साधनों का स्वेच्छानुसार उपयोग करके लोगों पर हमेशा कब्जा जमाये रखेगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उत्पादन और शासन, दोनों पर प्रजा का केवल वैधानिक ही नहीं, वास्तविक कब्जा हो और केन्द्रीय यंत्र को विकेन्द्रित करके उसे जनता को सौंप दिया जाय। परन्तु सत्ता का विकेन्द्रीकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक यंत्रों का विकेन्द्रीकरण न हो जाय, यानी शासन तथा उत्पादन, दोनों विकेन्द्रित होकर प्रत्यक्ष रूप से प्रजा के हाथ में आने पर ही सही लोकशाही कायम हो सकती है।

कार्ल मार्क्स के कुछ अनुयायी इस बात को नहीं मानते हैं। वे लोकशाही पर आस्था रखते हैं। वे कहते हैं कि रूस में समष्टिवाद के कारण जो तानाशाही फैली, उसका कारण स्टालिन द्वारा मार्क्सवाद का धोखा होना है। लोकशाही के माननेवाले मार्क्स के ये समाजवादी अनुयायी पार्लियामेण्ट के तरीके पर आस्था रखते हैं। वे भूमि और उद्योग का राष्ट्रीयकरण करके पार्लियामेण्टरी जनतन्त्र चलाना चाहते हैं अर्थात् वे राजनीति में अधिकारी दल के साथ-साथ एक विरोधी दल को रखना चाहते हैं। पार्लियामेण्टरी लोकशाही में विरोधी दलवालों की निरन्तर चेष्टा यह होती है कि वे अधिकारी दल को सत्ता से हटाकर खुद सत्तारूढ़ हो जायँ। और यह उद्देश्य जनता के

वोट से ही पूरा करना चाहते हैं। इसका मतलब यह है कि वे निरन्तर जनता के सामने इस बात को साबित करने की कोशिश करें कि सरकारी व्यवस्था निकम्मी है अतएव उन्हें वोट न देकर विरोधी दल को वोट दे। केन्द्रीकरण के आधार पर भूमि और उद्योग के राष्ट्रीयकरण का मतलब है, सरकार द्वारा दोनों पर सम्पूर्ण नियन्त्रण। इसका मतलब यह है कि जनता की दैनिक आवश्यकता के वितरण की व्यवस्था सरकार की ओर से ही हो सकेगी। विरोधी दल स्वभावतः सरकार को निकम्मा साबित करने की कोशिश में इस व्यवस्था में घपला पैदा करेंगे। कोई भी सरकार इस स्थिति को बरदाश्त नहीं कर सकती। अतः अगर भूमि और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना है, तो यह स्वाभाविक है कि सरकार विरोधी दल के अस्तित्व को कायम ही न होने दे, नहीं तो वे अपनी व्यवस्था सुचारु रूप से न चला सकेंगे। अतः यह स्पष्ट है कि अधिकारी दल द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक जिम्मेदारी तभी निभ सकती है, जब अधिकारी दल राज-नीति पर एकाधिपत्य कर सके। वस्तुतः रूस में जो तानाशाही चल रही है, वह स्टालिन के विकृत मस्तिष्क का फल नहीं है; बल्कि वह केन्द्रीकरण का लाजमी नतीजा है। यही कारण है कि हमने ऊपर बताया है, बिना **विकेन्द्रीकरण** के लोकशाही सम्भव नहीं है।

स्वतंत्रता : सम्पूर्ण विकेन्द्रीकरण

केन्द्रीय शासन और उत्पादन-यंत्र का प्रत्यक्ष रूप से प्रजा के हाथ में आने का अर्थ यह है कि प्रजा जिन्दगी की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की व्यवस्था के लिए स्वावलंबी हो। अतः शासन-यंत्र तथा उत्पादन-यंत्र का सम्पूर्ण विकेन्द्रीकरण ही प्रजा की सम्पूर्ण स्वतंत्रता है और प्रजा की पूर्ण स्वतंत्रता की हालत में केन्द्रीय शासन या केन्द्रीय व्यवस्था की गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

समष्टिवादी भी यही कहते हैं। वे भी कहते हैं कि संसार शासनहीन हो जाय। लेकिन ऐसा कैसे हो? क्या सारी चीज केन्द्रीय शासन के अधिकार में रखकर उसे दिन-ब-दिन मजबूत बनाते जाने से उसका अन्त हो जायगा?

हिंसा की समाप्ति के लिए शासन की समाप्ति जरूरी है

जो लोग अहिंसात्मक समाज-रचना के आधार पर सोचते हैं, उनकी दृष्टि से भी आवश्यक है कि शासन यानी सरकार के अस्तित्व को खतम कर दिया जाय। हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यक्तियों की अलग-अलग छोटी-छोटी हिंसाओं को दबाने के लिए ही एक बड़ी हिंसा के रूप में शासन-यंत्र की स्थापना हुई थी। शासन का काम है प्रजा को दबाकर उस पर नियंत्रण रखना यानी **शासन-यंत्र का स्वरूप स्वभावतः हिंसात्मक होता है।** इसलिए संसार से हिंसा को खतम करने के लिए जरूरी है कि संसार से सरकारों का खातमा हो जाय। लेकिन यह बात सरकार का हाथ मजबूत करने से नहीं हो सकती है। उसके लिए समाज को स्वशासन तथा स्वव्यवस्था के योग्य होना चाहिए। यह योग्यता जनता में तभी आ सकती है, जब वह अपनी दैनिक व्यवस्था के लिए स्वावलंबी हो।

लेकिन इसका उपाय क्या? सदियों से मनुष्य किसी व्यक्ति, वर्ग या दल द्वारा संचालित होने का आदी हो गया है। उसके चरित्र में स्वावलम्बन की वृत्ति या योग्यता नहीं रह गयी। केवल यह कहकर कि शासन-संस्था समाज के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् हानिकारक है, उसे विघटित कर दिया जाय, काफी नहीं है। इसके लिए सारे समाज का संस्कार ही बदलने की आवश्यकता है। नहीं तो यूरोप में प्रिन्स क्रोपाटकिन आदि के नेतृत्व में अराज्यवादी आन्दोलन जिस प्रकार विफल हुआ, उसी तरह यह शासनहीन समाज-रचना की चेष्टा भी व्यर्थ हो जायगी। स्वावलम्बन की आर्थिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा मनोवैज्ञानिक तैयारी के बिना जबरदस्ती राज्य को तोड़ देने से समाज में "अराजक स्वतन्त्रता" की स्थापना न होकर "स्वच्छन्द अतन्त्रता" फैल जायगी। और इस स्थिति से ऊबकर मनुष्य किसी तानाशाह के गोद में अपना आत्म-समर्पण कर देगा।

स्वच्छंदता और स्वतंत्रता

ऐसी स्वच्छन्द स्थिति तो शुरू में थी ही। लेकिन उसकी स्वच्छन्दता से पारस्परिक हिंसा पैदा हुई और सारा समाज ही खतरे में पड़ गया।

अतः समाज को शासनहीन बनने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य की स्वच्छंदता के स्थान पर स्वतन्त्रता का विकास हो। जब तक लोगों में स्वतंत्रता की योग्यता न हो, वे स्वतंत्र रह ही नहीं सकते। इसके लिए लोगों में स्वावलम्बी वृत्ति की नितान्त आवश्यकता है।

शिक्षा का सच्चा उद्देश्य

यह तभी हो सकता है, जब हमारी शिक्षा की पद्धति ऐसी हो कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति में अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त स्वावलम्बन और समाज-व्यवस्था के लिए पर्याप्त योग्यता पैदा हो सके; क्योंकि शिक्षा का सच्चा उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तैयार करना ही होता है।

नयी तालीम—उद्देश्य और पद्धति

'नयी तालीम' के द्वारा गांधीजी ने इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक निश्चित कदम उठाया। उन्होंने सामाजिक वातावरण और प्रकृति-परिचय के साथ उद्योग को इस तालीम का माध्यम बनाया। स्वावलम्बी समाज की स्थापना हो ही नहीं सकती जब तक लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं न कर सकें और इसके लिए आवश्यक है कि लोग बचपन से ही कारीगरी में अभ्यस्त हों और उन्हें इसका शास्त्रीय ज्ञान भी प्राप्त हो। पुराने जमाने में भी उत्पादन का काम दस्तकारी से ही होता था, लेकिन पहले का दस्तकार शास्त्रीय नहीं होता था। ब्राह्मण और शूद्र, दोनों का दो अलग हिस्सों में बँटे रहने से ज्ञान और उद्योग का समवाय नहीं हो सका था। ज्ञान अनुभव के अभाव से डूब गया और उद्योग शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में जड़ हो गया। यह ठीक है कि समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने निश्चित दायरे में ही कर लेता था और इस दृष्टि से उसे स्वावलम्बी कहा जा सकता है, परन्तु ज्ञान-विज्ञान, व्यवस्था और संचालन एक विशिष्ट वर्ग के ही जिम्मे होने के कारण प्रजा स्वावलम्बी होकर भी स्वतन्त्र नहीं थी। उसे बचपन से ही हर

बात के लिए केन्द्र-तन्त्र का मुँह ताकते रहना पड़ता था। अतः गांधीजी जहाँ गृह-उद्योग की शिक्षा द्वारा प्रजा को अपनी भौतिक आवश्यकताओं के लिए स्वावलम्बी बनाना चाहते थे, वहीं औद्योगिक प्रक्रिया के माध्यम से बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास द्वारा उन्हें सुविकसित, जाग्रत और स्वतन्त्र नागरिक भी बना देना चाहते थे। इस प्रकार औद्योगिक प्रक्रियाओं के द्वारा वस्तु और विषय का ज्ञान कराकर गांधीजी लोगों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना को जाग्रत रखना चाहते थे। इस तरह लोगों का बौद्धिक तथा सामाजिक विकास इतना सुस्पष्ट रहता है कि वे केन्द्र का मुँह ताके बिना ही सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का समयानुकूल हल निकालकर बदलती हुई दुनिया में अपनी प्रगति को कायम रख सकते हैं। सामान्यतः लोगों में इस प्रकार की योग्यता न होने के कारण वे विशेषज्ञों के चंगुल में फँसकर उनके गुलाम बन जाते रहे। अतः उद्योग-वृत्ति और विज्ञान को मनुष्य के जीवन का एक अंग बना देने की आवश्यकता है। यह तभी हो सकता है, जब इन बातों का बचपन से ही चेष्टापूर्वक सचेतन अभ्यास किया जाय और इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से मनुष्य के संस्कार में ही स्वावलम्बन का समावेश हो जाय। गांधीजी की 'नयी तालीम' का यही उद्देश्य और उसकी यही पद्धति है।

नयी तालीम की आवश्यकता

बच्चों की एक कहानी है कि कई राक्षस अपनी जान को एक भौंरे के अन्दर रखकर निश्चिन्ततापूर्वक विचरते थे। एक दिन एक राजकुमार ने राक्षसों की गैरहाजिरी में उस भौंरे को मुट्ठी में रख लिया। राक्षसों की जान ही जब मुट्ठी में थी, तो राक्षस अपने आप मुट्ठी में हो गये। फिर तो राजकुमार उन राक्षसों पर निर्द्वन्द्व होकर हमेशा राज करता रहा। है तो यह कहानी, पर इससे एक बहुत बड़ी बात का ज्ञान होता है। अगर जनता किसी मिल की चिमनी या ट्रैक्टर के पहिये रूपी भौंरे में अपनी जान रखकर निश्चिन्त रहेगी, तो उसकी निश्चिन्तता के समय कोई-न-कोई इस भौंरे को अपनी मुट्ठी में करके उन पर राज्य करने लगेगा। अतः यह

जरूरी है कि जनता अपनी जान अपने शरीर में ही रखे यानी जीवन की आवश्यकता को अपने शरीर-श्रम से पैदा करे। लेकिन ऐसा करने में अगर जनता को तकलीफ हो, अगर उत्पादन की प्रक्रिया में उसे रस न मिले, या अत्यधिक समय तक उसीमें फँसे रहने से ऊब जाय, तो मुमकिन है कि वह इस प्रकार से प्राप्त अपनी कीमती आजादी से गुलामी में रहकर कुछ सहूलियत को अधिक पसंद करने लग जाय। इसलिए आवश्यक है कि दस्तकारी का काम कलापूर्ण हो, उसकी गति तेज और उसका कौशल सुगम हो तथा प्रक्रिया के साथ-साथ उसका वैज्ञानिक रहस्य और आर्थिक तथा सामाजिक आधार की जानकारी होती रहे। कौशल सुगम तभी होगा, जब बचपन से ही इसकी आदत डाली जाय। 'नयी तालीम' से न केवल यह अभ्यास दृढ़ होता है, बल्कि इस अभ्यास की आवश्यकता और उसके रहस्य का भी प्रेरणात्मक बोध होता जाता है।

नयी तालीम से समाज-विज्ञान का बोध होता है

इस तालीम में सामाजिक वातावरण को भी शिक्षण का माध्यम बनाया गया है। इस तरह बच्चों को शुरू से ही समाज की समस्याओं का ज्ञान और अनुभव प्राप्त होता है। समाज-व्यवस्था और वातावरण के अध्ययन के साथ-साथ बच्चों में समस्याओं का हल ढूँढ़ने की शक्ति पैदा होती है, क्योंकि चाहे बच्चा हो या बूढ़ा, जब उसका मस्तिष्क किसी समस्या पर विचार करने लगता है, तो उसमें स्वभावतः तह तक पहुँचने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः नयी तालीम के बच्चों को समाज-विज्ञान का अभ्यास होता है और वे अपनी व्यवस्था का भार सहयोगिता के आधार पर अपने आप ग्रहण करने के योग्य बनते हैं।

स्वयं विकेन्द्रीकरण

शिक्षा सार्वजनिक होने के कारण जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी उत्पादक और स्वावलम्बी व्यवस्थापक होने लगता है, तो वह धीरे-धीरे शासन को पूर्णरूपेण विघटित करने में भी समर्थ सिद्ध होता है। प्रजा अपनी आवश्यकता

की पूर्ति और समाज की व्यवस्था खुद कर ले तो उसे किसी केन्द्रीय शासन का भरोसा ही क्यों करना पड़ेगा ? इस तरह सारा समाज स्वयं विकेन्द्रित हो जाता है ।

गांधी और समष्टिवादी

समष्टिवादी भी प्रजा को स्वतंत्र तथा समाज को शान्तिपूर्ण बनाने के लिए संसार में शासनहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं । लेकिन उनका रास्ता गांधीजी से भिन्न है । वे शासन-यंत्र को उत्तरोत्तर संघटित करके ही शासन को विघटित करना चाहते हैं । गांधीजी का कहना है कि हमें जिस ओर जाना है, हमारी दिशा भी उसी ओर होनी चाहिए । प्रतिकूल दिशा में चलकर कोई अपने मन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकता । अतः अगर शासन को खतम करना है, तो यह काम उसी शासन को संगठित करने से नहीं बनेगा । विघटन का काम तो विघटन के रास्ते से ही होगा । यही कारण है कि गांधीजी 'नयी तालीम' के द्वारा प्रजा की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की व्यवस्था, दोनों के लिए स्वावलंबन का अभ्यास कराकर शासन के दायरे को क्रमशः घटाना चाहते थे ताकि अन्त में वह घेरा बिलकुल खतम हो जाय और प्रजा शासन-चक्र से मुक्त होकर पूर्णतः स्वावलम्बी हो जाय । इस तरीके से लाभ यह होता है कि इस विघटन की प्रगति के साथ-साथ प्रजा की स्वतंत्रता में भी प्रगति होती रहती है और अंत में वह पूर्णतः स्वतंत्र हो जाती है। लेकिन अगर हमारा रास्ता शासन को क्रमशः अधिकाधिक संगठित करने का हो, तो ज्यों-ज्यों यह संगठन घनीभूत होगा त्यों-त्यों प्रजा की स्वतंत्रता स्वभावतः घटती जायगी । इस साधारण विवेक के विरुद्ध यह समझ में नहीं आता कि यह अति संगठित केन्द्रीय शासन-यन्त्र कब और कैसे अपना काम खतम करके अपने आप सूखकर प्रजा को मुक्त कर सकेगा । कहा जा सकता है कि जब यह केन्द्रीय शासन पूर्णत्व को प्राप्त होगा, तो वह प्रकृति के नियमानुसार अन्त में पंचत्व को प्राप्त हो ही जायगा । यह वैज्ञानिक नियम हर चीज़ में लागू होता है । लेकिन यह एक वैज्ञानिक आदर्श की स्थिति है

जो समाज की अंतिम स्थिति होगी और जिसके बाद समाज का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। उस समय प्रजा मुक्त होकर ही क्या करेगी? प्रजा को इस बात में दिलचस्पी नहीं होती कि किसी अनंतकालीन आदर्श स्थिति में उसकी क्या दशा होगी, बल्कि उसे तो इस बात में दिलचस्पी होती है कि उस आदर्श तक पहुँचने के रास्ते में उसकी हालत क्या रहेगी। वस्तुतः आदर्श तो रेखा-गणित के बिन्दु जैसी कल्पना की वस्तु है, दिखायी देने की नहीं। इस तरह गांधी और मार्क्स की योजनाओं का अन्तर अपने आप समझ में आ जाता है। समष्टिवादी योजना में प्रजा संगठित केन्द्र की वज्रमुष्टि में दबी पड़ी रहती है, परन्तु गांधीजी की योजना में वह शासन को तोड़ती हुई और अपनी स्वतंत्रता को स्थापित करती हुई आगे बढ़ती है।

आदर्श और व्यवहार

समष्टिवादी कहते हैं कि पहले शासन को अधिकाधिक संगठित करके प्रजा की स्वार्थ-बुद्धि को नियंत्रित कर लिया जाय और जब शासन का दायरा पूर्ण हो जायगा, तो वह प्रकृति के अबाध नियमों के अनुसार अपने आप खतम हो जायगा और तब प्रजा स्वतंत्र और शासनहीन हो जायगी। परन्तु यह कोरा आदर्शवाद (Utopia) है, व्यवहार से इसका कोई संबंध नहीं, क्योंकि जो आदर्श है वह अन्तिम है, वह पकड़ की चीज यानी प्राप्य वस्तु नहीं हो सकती। समाज जितना ही उस ओर बढ़ेगा उतना ही वह भी मरुभूमि की मरीचिका के समान आगे बढ़ता जायगा। व्यवहारवाद उसे कहते हैं कि जिसके अनुसार चेष्टा की प्रगति में ही उद्देश्य की प्रगति का अनुभव हो।

अभ्यास और स्थायित्व

केवल कल्पना या स्वप्न-लोक में विचरा जाय, तो भी ये बातें युक्ति-संगत नहीं मालूम होतीं। थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि शासन-सत्ता की ओर से दुनिया के सर्वस्व पर कब्जा करके केन्द्र द्वारा समाज के संपूर्ण दायरे की व्यवस्था की जाय और इस शासन का संगठन पूर्ण होने

पर मानव-समाज के पकड़-काल में ही शासन सूख जायगा, तो जनता के ऊपर से जिस दिन एकाएक शासन हटेगा, उस दिन जनता किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायगी। सारा कर्तृत्व, सारा उत्तरदायित्व केन्द्र को सौंपकर निश्चिंत पड़ी रहने के बाद एकाएक वह प्रेरणा-शक्ति कहाँ से आयगी? विज्ञान का यह एक खास नियम है कि जिस शक्ति का अभ्यास न किया जाय, उसको लकवा मार जाता है। अतः समाज को यदि वह कल्पित स्वतंत्रता प्राप्त भी हो जाय तो भी जनता में प्रेरणा-शक्ति का अभाव होने के कारण वह समाज चल नहीं सकेगा।

नयी तालीम—एकमात्र वैज्ञानिक रास्ता

इस तरह हम देखते हैं कि 'नयी तालीम' से जनता स्वावलंबी, शान्तिमय और अहिंसात्मक तरीकों से संसार को शासन-हीनता की ओर सफलतापूर्वक ले जा सकेगी। यह रास्ता अधिक वैज्ञानिक, अधिक व्यावहारिक, अधिक प्रगतिशील और अधिक सुनिश्चित है। इस रास्ते में प्रजा को किसी अनंतकालीन मुक्ति की आशा लेकर बैठे नहीं रहना पड़ता, बल्कि उसे अपनी स्वयं प्रेरणा और स्वतंत्र चेष्टा से आगे बढ़ने का निरन्तर मौका मिलता है। ● ● ●

आर्थिक और सामाजिक आधार : ३ :

हमने देखा है कि 'नयी तालीम' द्वारा गांधीजी किस तरह वास्तविक जनतन्त्र की स्थापना करना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्वावलम्बी समाज की योजना जनतन्त्र के इतिहास में एक बड़ी क्रान्तिकारी कल्पना है और शासन-यन्त्र से तानाशाही के भय को दूर रखने का केवल यही एकमात्र उपाय है। लेकिन सिर्फ राजनीतिक स्वराज्य से ही समाज का सन्तुलन कायम नहीं हो सकता। इतिहास को देखने से पता चलता है कि एकांगी क्रान्ति से प्रजा कभी अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर पायी है, इसलिए यह आवश्यक है कि जनता अपने आदर्श पर पहुँचने के लिए और फिर उस आदर्श पर स्थायी रूप से कायम रहने के लिए सभी क्षेत्र में सर्वांगीण क्रान्ति करे, और हर क्षेत्र की वही दिशा होनी चाहिए। इस बात पर जोर देने की आवश्यकता इसलिए है कि प्रायः जोश में आकर क्रान्तिकारी लोग सर्वांगीण दृष्टि और क्षेत्र-सामंजस्य की बात भूल जाते हैं और विभिन्न क्षेत्र के लिए विभिन्न दिशा में कदम उठाते हैं। यही कारण है कि गांधीजी शुरू से ही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक, सभी क्षेत्रों में एक साथ क्रान्तिकारी आन्दोलन करते रहे; यद्यपि भारत के राष्ट्रीय नेता और साधारण लोग गांधीजी की इस सर्वांगीण योजना में से उतने ही हिस्से को समझ पाये जितना उनकी गुलामी की समस्या से सम्बन्ध रखता था और उन्होंने सारे कार्यक्रम में से राष्ट्रीय आजादी के पहलुओं पर ही उत्साह से अमल किया। नतीजा यह हुआ कि जहाँ गांधीजी त्रिसूत्री योजना द्वारा देश के राजनीतिक जीवन को साम्राज्यवाद के हाथ से, सामाजिक जीवन को प्रतिक्रियावाद के हाथ से और आर्थिक जीवन को पूँजीवाद के हाथ से एक साथ छुड़ाना चाहते थे, वहाँ देश ने केवल राजनीतिक दिशा में चलकर सिर्फ राजनीतिक मुक्ति पायी और बाकी दो दिशाएँ

शून्य ही रह गयीं। राजनीतिक क्षेत्र में भी केवल विदेशी राज्य हटा, लेकिन राज्यव्यवस्था तथा पद्धति उसी तरह की रह गयी जिसे साम्राज्यवाद ने शोषण के उद्देश्य से कायम किया था। इन लोगों ने इस बात पर गौर नहीं किया कि सन् '२१ से ही गांधीजी असहयोग और सत्याग्रह द्वारा अंग्रेजी सल्तनत से लड़ते हुए रचनात्मक कार्यक्रम पर अत्यधिक जोर देते रहे और जनता का ध्यान आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति की ओर अन्तिम क्षण तक खींचते गये। एक ओर तो वे राजनीतिक क्षेत्र में एक नये ढंग की क्रान्ति द्वारा एक नया राजनीतिक ढाँचा कायम करना चाहते थे और दूसरी ओर वे संसार के वर्तमान आर्थिक और सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन करके उसे स्थायी रूप से शोषणहीन यानी अहिंसात्मक रूप देने की चेष्टा कर रहे थे। अतएव यह आवश्यक है कि हम नयी तालीम के आर्थिक और सामाजिक आधार पर भी ठीक से विचार कर लें।

उत्पादन यन्त्रों का विस्तार

पहले समाज की व्यवस्था आज जैसी जटिल नहीं थी। पहले मनुष्य प्रकृति की गोद में रमता था। प्रकृति माता के आँचल से जो कुछ आसानी के साथ मिल जाता था, मनुष्य उसीमें सन्तोष कर लेता था। फिर श्रम और समय लगाकर अपनी साधारण बुद्धि के द्वारा वह कुछ पैदा करने लगा। इस प्रकार उसने कृषि, पशु-पालन और उद्योग के द्वारा अपनी उपभोग्य सामग्री के दायरे का विस्तार किया। धीरे-धीरे जब उसने देखा कि प्रकृति के अनन्त साधनों को उपयोग में लगाने से जिन्दगी में अधिक आराम और सुख मिल सकता है तो उसकी तृष्णा बढ़ने लगी; उसका सन्तोष खतम हो गया; वह अधिकाधिक पैदा करने की फिक्र में पड़ गया और उसने तरह-तरह के उत्पादन यन्त्रों की सृष्टि की। यन्त्रों के आविष्कार से मानव-समाज में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की लालसा के साथ-साथ श्रम बचाने की तृष्णा तीव्र हो उठी। इस लालसा और तृष्णा को तृप्त करने के लिए लोग यन्त्रों के आकार और प्रकार को अधिकाधिक विशाल और जटिल बनाते गये। भाप,

बिजली—तरह-तरह की शक्तियों को इस्तेमाल करने के तरीके निकले और उत्पादन के तरीकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। परिवर्तनों ने नये परिवर्तनों को जन्म दिया और यंत्र दिनोंदिन विशालतर होते गये।

युगीन समस्याएँ और महापुरुषों का आगमन

समाज की व्यवस्था उत्पादन के तरीकों पर निर्भर करती है और उत्पादन के तरीके उसके साधनों के स्वरूप से ही बनते हैं। अतः यंत्रों की जटिलता और विशालता के कारण उत्पादन के तरीके जटिल और केन्द्रित हुए और फिर समाज-व्यवस्था ने जटिल केन्द्रीकरण का रूप धारण किया। केन्द्रित समाज की समस्याएँ धीरे-धीरे जटिल होती गयीं। एक समस्या के अन्दर ही दूसरी समस्या खड़ी होने लगी और मनुष्य उन समस्याओं के हल में उलझता गया। इन समस्याओं को हल करने के लिए भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न महापुरुषों का जन्म हुआ। इन लोगों ने समय और परिस्थिति के अनुसार समाधान प्रस्तुत किया। मार्क्स और गांधी को इन्हीं युगीन समस्याओं का प्रतिफल कहना होगा।

वस्तुस्थिति को समझने की जरूरत है

पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि सामन्तवाद के बाद पूँजीवाद और पूँजीवाद के बाद समष्टिवाद का उदय हुआ। उन तमाम राजनीतिक परिवर्तनों में आर्थिक और सामाजिक उलट-फेर के कारण अन्तर्निहित थे, क्योंकि समाज का हर पहलू आर्थिक सूत्रों से बँधा हुआ रहता है। जैसा कि पहले कहा है, जब मनुष्य को अधिक सामग्री-प्राप्ति की तृष्णा बलवती हुई, तब उसने विशाल केन्द्रीय यंत्रों का आविष्कार किया और उसीकी जड़ से सभी केन्द्रीकरण की सृष्टि हुई। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या इस भयंकर यन्त्रीकरण के साथ ही मानव-समाज अधिक सामग्री-प्राप्ति की उद्देश्य-सिद्धि की दिशा में बढ़ पाया

है ? समाज ने अपनी उद्देश्य-सिद्धि की ओर प्रगति की होती, तो आज का मनुष्य अभावों का शिकार नजर न आकर भरा-पूरा नजर आता। अतः वस्तुस्थिति को गंभीरतापूर्वक समझने की जरूरत है।

(१)

केन्द्रीय उद्योग से अनुपभोग्य एवं बेकार वस्तुओं की सृष्टि

वास्तविक स्थिति को समझने के लिए सबसे पहले हमें केन्द्रीय उद्योग के रूप और गुण को ठीक तरह से समझना होगा। मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं को देखकर उसके सुख और संपत्ति का अन्दाज लगाया जा सकता है। मोटरकार, साबुन तथा अन्य सामग्री की प्रचुरता होने पर भी अन्न, वस्त्र और आश्रय की कमी हो अथवा मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की सुविधाएँ न हों तो शेष सभी चीजों के भरे रहने पर भी लोगों को उनसे लाभ के बजाय हानि ही अधिक होगी। यह सभी जानते हैं कि हर प्रकार की वस्तु या पदार्थों का मूलस्रोत पृथ्वी है। पृथ्वी से जो कच्चा माल पैदा होता है उसीसे हमारी उपभोग्य सामग्रियों का उत्पादन होता है। केन्द्रीय उद्योगों की प्रगति के साथ-साथ अनेक अनुपभोग्य वस्तुओं की आवश्यकता हुई। विस्तृत भूभाग में पैदा किये हुए कच्चे माल को एक केन्द्र में लाने और फिर वहाँ से पक्के माल को जनता तक पहुँचाने की जरूरत के कारण संसार में माल बाँधने के लिए बारदाने की आवश्यकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। इसके अलावा चीजों को बार-बार एक स्थान से दूसरे स्थानों पर भेजने के लिए यातायात का जो विराट् संगठन करना पड़ता है, उसके लिए भी ऐसी ही अनेक चीजों की जरूरत होती है। फिर उद्योगों को बढ़ाकर उस माल को खपाने के उद्देश्य से उद्योगवादियों द्वारा जीवन-मान ऊँचा करने का जो वहम दुनिया में फैलाया जाता है, उसके फलस्वरूप संसार में ऐसी वस्तुओं की माँग बढ़ती जा रही है जिनसे वासनाओं की भले ही तृप्ति हो जाय, लेकिन यथार्थतः, वे जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं। केवल उद्योगवादियों के प्रचार से ही नहीं,

बल्कि औद्योगिक केन्द्रीकरण की अप्राकृतिक स्थिति के कारण भी शृंगार और मनोरंजन के लिए बेकार चीजों की आवश्यकता बढ़ती जाती है। श्रम के कारण मनुष्य में जो थकावट पैदा होती है, उसको दूर करने के लिए उसे आराम की आवश्यकता होती है। देहाती को खुले वातावरण में वह सहज ही प्राप्त हो जाता है। लेकिन औद्योगिक केन्द्रों की घनी आबादी एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण के कारण बड़े-बड़े नगरों की आबादी ऐसे प्राकृतिक वातावरण से वंचित रहती है। अतः लोगों को विश्रान्ति के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता महसूस होने लगती है, जिसके लिए उन्हें नाना प्रकार की फजूल चीजें पैदा करनी पड़ती हैं, ताकि अँधेरी कोठरियों की दिन भर की थकान से मन को भुलाया जा सके।

समाज का दीवालियापन

इस सम्बन्ध में खास बात ध्यान में रखने की यह है कि आज के औद्योगीकरण के द्वारा उत्पादन की गति बढ़ सकती है, परन्तु उसके परिमाण में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। एक मन धान से जो चावल निकलेगा, वह चाहे मिल से निकाला जाय या ढेंकी से, हर हालत में वह एक ही मन रहेगा। यह लोगों का वहम है कि कारखानों से पैदावार बढ़ती है। उल्टे, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, औद्योगीकरण के कारण बेकार चीजों की जरूरत पैदा हो जाती है। इन सबका घूम-फिरकर धरती पर असर पड़ता है। इस दबाव का सामना करने के लिए जनता की मौलिक आवश्यकताओं को छोड़कर ऐसी चीजों की पैदावार शुरू होती है, जो कल-कारखानों के मानदण्ड पर थोड़े में भी अधिक "रुपया" बना सके—इसे 'मनी क्राप' या पैसा देनेवाली फसल कहा जाता है। इस तरह धरती अनाज के बखारों से छूटकर गन्ने और जूट के रेशों में फँसती जा रही है, धान को छोड़कर वह नारियल की झुरमुट में लोप हो रही है और जब बंगाल का रौरव अकाल मानवता को हड़प जाने के लिए दहाड़ता हुआ सामने आता है, तो अन्न के बजाय हमारे पास जूट के खाली बोरों और हम्माम

साबुन की टिकियों का ही सहारा शेष रहता है। समाज के बौद्धिक दीवालियेपन का इससे अधिक स्पष्ट स्वरूप क्या हो सकता है ?

भयंकर आर्थिक उपहास

इसी तरह बंगाल में चावल की भूमि पाट की खेती में, बिहार और उत्तर प्रदेश में गेहूँ की जमीन गन्ने की पैदावार में, मद्रास में धान की जमीन नारियल के पेड़ों में और आन्ध्र का शस्य-श्यामल भूखंड तम्बाकू में इसलिए लगाया जा रहा है कि उससे अधिक-से-अधिक बारदाना, मिठाई, साबुन, बीड़ी, सिगरेट आदि पैदा हो सकें। फलतः यदि एक ओर देश में ऊपरी वस्तुओं की प्रचुरता है, तो दूसरी ओर लोग खाने के लिए भी तरस रहे हैं। आज दिल्ली की सड़कों पर डेढ़ आने में सुन्दर कंघी चाहे जितनी मिल सकती हैं लेकिन रुपये में १२ छटाक चावल मिलना कठिन है। फिर यह कैसी प्रचुरता ? यह कैसा भयंकर आर्थिक उपहास है ?

अत्यंत शोचनीय स्थिति

गत दो सौ वर्षों से प्रचुरता की यह मरीचिका, मनुष्य की अनवरत चेष्टा के बावजूद भी हाथ नहीं लग रही है। बल्कि उल्टे समाज में अनेकों जटिल समस्याएँ पैदा होकर विश्वयुद्ध के रूप में घनीभूत होती जा रही हैं। संसार महाप्रलय के गर्त में डूब मरने पर आ गया है। निस्संदेह, स्थिति अत्यंत शोचनीय है।

केन्द्रीकरण : युद्ध और संघर्ष का जनक

युद्ध तो प्राचीन काल में भी हुआ करते थे, लेकिन तब युद्धों की सीमा राजनीतिक प्रभुता में ही समाप्त हो जाती थी; क्योंकि विजेता की प्रभुता स्वीकार कर लेने पर वह खतम हो जाता था। परंतु जब इसके दायरे ने जनता के आर्थिक और सामाजिक जीवन को भी घेर लिया, तो स्वभावतः युद्धों के कारण जनता के जीवन में बड़ी उथल-पुथल होने लगी। यह स्थिति केन्द्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही उत्पन्न होती है जब कि लोक-जीवन का आर्थिक और

सामाजिक स्वावलंबन नष्ट हो चुका होता है। साम्पत्तिक विकेन्द्रीकरण की स्थिति में न तो नित्य प्रतिदिन की सुरक्षा की आवश्यकता होती है और न युद्ध की समस्या ही इतनी जटिल होती है। जब देश भर में फैली हुई सम्पत्ति को बटोरकर केन्द्रों में उसकी ढेरियाँ लगा दी जाती हैं तो, स्वभावतः, उन ढेरियों पर लोलुप दृष्टि पड़ती है। मतलब यह कि जैसे-जैसे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण होता है, वैसे-वैसे उस पर दूसरों के हमले का खतरा यानी उसकी सुरक्षा की समस्या बढ़ती जाती है। सुरक्षा की यह समस्या ज्यों-ज्यों जटिल होती जाती है, सेना और शस्त्रीकरण की वृद्धि भी अनिवार्य होती जाती है। केवल केन्द्रित सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही युद्ध होता है सो बात नहीं; औद्योगीकरण के कारण कच्चे माल की संघटित खोज और फिर उसके केन्द्रीकरण से भी युद्ध की समस्या उत्पन्न होती है; युद्ध की भावना और युद्ध के कारणों को भी यहीं से जन्म मिलता है।

सृष्टि का अकाट्य नियम है कि प्रत्येक प्राणी का अपना स्वभाव और अपना स्वधर्म होता है। सम्पत्ति के केन्द्रित होने से सुरक्षा के कारण जो सेना तथा अस्त्रीकरण की वृद्धि होती है, उसका स्वधर्म अनिवार्यतः युद्धवृत्ति होता है। वह युद्ध के लिए कोई न कोई कारण ढूँढ़ता है। कोई कारण न मिलने पर युद्ध का अन्त करने के लिए ही वह युद्ध करने लगता है। एक स्थान पर पूँजीभूत सम्पत्ति पर कोई हमला करता है, तो उसकी हिफाजत के लिए लड़ना ही पड़ता है—यह मनुष्य का स्वधर्म और स्वभाव है। आज इसी हिफाजत के बहाने सारा संसार सेना और शस्त्रीकरण की होड़ में लग रहा है। इसके लिए नैतिक कारण भी खोज निकाला जाता है। कभी दूसरों पर अपना धर्म लादने के लिए यानी दूसरों की आत्मा का कल्याण करने के लिए और कभी दूसरों पर अपने "वाद" लादने के लिए युद्ध किया जाता है, क्योंकि जब दूसरे अपनी भलाई नहीं समझते, तो गोली मारकर उन्हें भलाई समझाना ठीक उसी तरह जरूरी है, जैसे पुराने जमाने में किसीकी आत्मा कलुषित होने पर उसकी मुक्ति के हेतु उसे जिन्दा जला देना भी जरूरी बताया जाता था।

उद्योगवाद और युद्ध का विषचक्र

इस प्रकार जब युद्ध संसार की एक स्थायी आवश्यकता बन जाता है, तो फिर भूमि पर बोझ बढ़ जाता है; क्योंकि लड़ाई के लिए खाद्य-पदार्थ के बजाय युद्ध-पदार्थ पैदा करना जरूरी हो जाता है। केवल भूमि ही फँसती है सो बात नहीं; पैदा किये हुए खाद्य-पदार्थों को भी युद्ध के सामान बनाने में लगाना पड़ता है। इसके अलावा युद्ध के सफल संचालन के लिए उद्योग-धन्धों का विस्तार जरूरी हो जाता है। इस तरह आज दुनिया में भयंकर "विषचक्र" चल पड़ा है—उद्योग का विस्तार, उस विस्तृत उद्योग की रक्षा के लिए युद्ध और युद्ध के संचालन के लिए उद्योग का विस्तार। इस विषैले चक्र ने दुनिया को ऐसा घेर लिया है कि लोगों को दूसरी तरफ ध्यान देने की फ़ुरसत ही नहीं। फलतः संसार की सारी शक्ति (शारीरिक तथा मानसिक) इसी चक्र के फेर में लग रही है और मूक जनता जीवनावश्यकताओं के अभाव में त्राहि-त्राहि कर रही है। जब औद्योगिक मुल्कों में धरती की शक्ति कच्चा माल पैदा करने की हद को पार कर जाती है, तो इन राष्ट्रों की नजर दूसरे देशों पर पड़ती है। उन देशों पर कब्जा किये बगैर मतलब हासिल नहीं होता और यह युद्ध का कारण बनता है। केवल युद्ध ही नहीं, औद्योगीकरण के विस्तार से संसार में नाना प्रकार के दुर्नीतिपूर्ण सौदे भी होते रहते हैं। मैनचेस्टर के कपड़े के कारखानों की खुराक जुटाने में अमेरिकी कपास की खेती के लिए किस प्रकार गुलामों के कुत्सित व्यापार का विस्तार हुआ और औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों के प्रति किस प्रकार अत्याचार होता रहा, इसकी जानकारी इतिहास के किस पाठक को नहीं है? आज भी सारे श्रमिक-संगठनों और आन्दोलनों के बावजूद इस दिशा में कुछ नैतिक प्रगति हुई दीख नहीं पड़ती। जब आजाद श्रमिक से दास श्रमिक महँगा पड़ने लगा, तो दास-प्रथा अपने-आप खतम हो गयी। लेकिन ज्यों-ज्यों यन्त्रों का विकास होता गया बेकारी बढ़ती गयी और परिणामतः मजदूरों पर अत्याचार भी बढ़ता गया। इसकी करुण कहानी अखबारों में रोज सुनायी देती है। मालिक और मजदूर का संघर्ष बढ़ता जा रहा है। समाज

की स्थिति दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक अनिश्चित होती जा रही है। नतीजा यह है कि युद्ध हो या शान्ति, दुनिया से संघर्ष का अन्त होता दीखता नहीं। सारी सृष्टि युद्धमय हो चली है। युद्ध के समय तो युद्ध चलता ही है; जब युद्ध बंद भी रहता है, तो संघर्षरूपी आन्तरिक युद्ध का क्रम चलता रहता है। आज तो दुनिया में कितने ही स्थानों में आपसी झगड़े के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध भी चल रहे हैं। परिणामतः समाज का नैतिक स्तर नीचे गिरा जा रहा है। दशा बड़ी दयनीय है।

(२)

स्वावलंबन और सहयोग

जनता जब स्वावलंबी थी, तो वह शान्तिपूर्वक अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेती थी। लोगों को जब अपनी जरूरत अपने श्रम से ही पूरी करनी पड़ती है, तो यह कठिन हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही अपनी सारी जरूरतें अपने हाथों से पैदा कर ले। अतः स्वावलंबी समाज-व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि सहयोग यानी साझेदारी के ढंग से सामाजिक उत्पादन का कार्य चले। वस्तुतः उत्पादन के तरीकों से ही सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा बनती है। जब हम लोग स्वावलंबी तरीकों से उत्पादन करते थे, तो समाज के सारे काम उसी साझेदारी के तरीके से चलते थे। साझे का मतलब है कि समाज के प्रत्येक सदस्य को एक-दूसरे का भरोसा हो यानी लोग आपस में इन्सानी नाते से बँधे रहें। सहयोगी समाज तभी चल सकता है, जब मनुष्य एक-दूसरे को धोखा न दे यानी वह ईमानदार रहे; क्योंकि साझे में बेईमानी चल ही नहीं सकती और साझे के बिना जनता स्वावलंबी नहीं हो सकती। अतः स्वावलंबी समाज में जनता का नैतिक स्तर, स्वभावतः, ऊँचा रहता है।

केन्द्रीय समाज में पारस्परिक सहयोग का अभाव

आर्थिक और सामाजिक केन्द्रीकरण में समाज की वह स्थिति नहीं रह जाती; लोगों की आवश्यकताओं की सामग्री औद्योगिक केन्द्रों से और समाज की व्यवस्था राजकीय केन्द्रों से वितरित होती है। ऐसी हालत में मनुष्य अकेला रहकर पड़ोसी की बिलकुल परवाह न करके भी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं होता कि कोई किसीके भरोसे रहे या लोग दूसरों की फिक्र करें, क्योंकि सभी लोग अलग-अलग केन्द्रीय यंत्र-तंत्र के भरोसे रहने लगते हैं। ऐसी दशा में आपसी सहयोग, साझेदारी या इन्सानी नाते का टूट जाना स्वाभाविक है। अब जिन्दा रहने के लिए पारस्परिक रिश्तों की उतनी आवश्यकता नहीं रही। फिर इस केन्द्रीय व्यवस्था में जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति भी कई एजेन्सियों के पेचदार माध्यम से होने लगी। परिणामतः मूल वितरण-कर्ता और जनता का कोई प्रत्यक्ष संबंध भी नहीं रह गया। इससे समाज में सभी पराये हो गये। फिर धोखा देना, लूट लेना, शोषण कर लेना आदि प्रवृत्तियों के लिए हिचक या लेहाज की गुंजाइश कहाँ? आज समाज में चोर-बाजारी, धोखा, बेईमानी, रिश्वतखोरी का बाजार इस कदर गरम है कि मनुष्य-मनुष्य का इन्सानी नाता बिल्कुल खतम-सा दीख रहा है; मानवता का कोई मतलब ही नहीं रह गया है।

जनता का नैतिक ह्रास

वस्तुतः स्वतंत्र रूप से सिर्फ अपने विवेक के भरोसे मानवी प्रवृत्तियों की पवित्रता की रक्षा करना सबके लिए कठिन होता है। दुनिया में बहुत थोड़े आदमी ऐसे हैं जो नैतिक आधार पर जीवन में सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, सहयोग आदि सद्वृत्तियों को स्थायी रूप से अपना सकते हैं। इन प्रवृत्तियों को अगर आम जनता में कायम रखना है, तो व्यक्तिगत शिक्षण के साथ तदनुकूल समाज-व्यवस्था की टेक लगाना होगा; क्योंकि आम जनता की मूल सद्वृत्तियों को अगर परिस्थिति के अनुसार उनकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के

द्वारा जाग्रत न रखा जाय तो दूसरी शैतानी वृत्तियाँ उन्हें दबा देती हैं। मनुष्य के अन्दर सुर और असुर का संघर्ष तो चलता ही रहता है। यही कारण है कि जब से दुनिया की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था आपसदारी का आधार छोड़कर व्यक्ति-व्यक्ति के स्वतंत्र आधार पर सीधे केन्द्रों से बँधी रहने लगी, तब से संसार में असत्य, हिंसा, बेईमानी, द्वेष, घृणा आदि दुर्गुणों का विस्तार बढ़ता गया। नतीजा यह हुआ कि पहले साधारण गृहस्थ के लिए जिन सद्गुणों की आवश्यकता थी, आज वे ही महात्मा के लक्षण बताये जाने लगे। इस तरह हम देखते हैं कि उत्कर्ष के बजाय जनता का भीषण नैतिक ह्रास हो रहा है।

चर्खा: स्वावलंबी उत्पादन का केन्द्रबिन्दु है

औद्योगिक केन्द्रीकरण के कारण युद्धरूप घोर हिंसा और वर्ग-संघर्ष की विनाशक स्थिति कैसे पैदा होती है इसे हम समझ चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि यंत्र और तंत्र के केन्द्रीकरण से मनुष्य का एक-दूसरे के साथ मानवता का सम्बन्ध टूट जाता है और लोग मशीनों के पुर्जे बन जाते हैं। सारा समाज सजीव समष्टि के बजाय एक विशाल जड़तंत्र का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य की अन्तर्हित सद्वृत्तियाँ अनुकूल परिस्थिति के अभाव में नष्ट-भ्रष्ट होती जाती हैं। समाज में असत्य, द्वेष तथा हिंसा का जमघट होता जा रहा है। इस घातक स्थिति का निराकरण स्वावलंबी अर्थनीति और समाज-व्यवस्था से ही हो सकता है। यही कारण है कि गांधीजी ने चर्खे को अहिंसा का प्रतीक माना है, क्योंकि वह स्वावलम्बी उत्पादन का केन्द्रबिन्दु है।

'नयी तालीम': भावी समाज का ढाँचा

अब प्रश्न यह है कि ऐसी समाज-व्यवस्था कायम करने का तरीका क्या हो? एक स्थायी समाज-व्यवस्था के लिए उचित वातावरण पैदा करने के उद्देश्य से साधारणतः कुछ तात्कालिक कार्यक्रम बन सकता है और लोगों पर उसका कुछ प्रभाव पड़ सकता है, परन्तु जिस आदर्श समाज की हम कल्पना

करते हैं, उसकी जरूरत के मुताबिक नागरिक तैयार करने के लिए शिक्षा-पद्धति में ही ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की जरूरत है, जिससे भविष्य के नागरिक बचपन से ही उस ढाँचे में ढल सकें। गांधीजी 'नयी तालीम' के जरिये जनता को उसी ढाँचे में ढालना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्वावलंबी समाज तभी संभव हो सकता है, जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति में स्वतंत्र रूप से जिन्दगी की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज-व्यवस्था चलाने की योग्यता हो। सिर्फ योग्यता से ही ऐसा समाज कायम नहीं रह सकता। उनके संस्कार और उनकी प्रवृत्ति भी स्वावलंबी होनी चाहिए।

'नयी तालीम' : स्वावलंबन की क्रियात्मक शक्ति

इसलिए नयी शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का माध्यम अक्षर न रखकर सामाजिक वातावरण तथा उत्पादन की प्रक्रिया रखी गयी है। सामाजिक वातावरण के अध्ययन से उनको समस्याओं का ज्ञान होता है। समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का अभ्यास होता है। इस अभ्यास से समाज-व्यवस्था की जिम्मेदारी महसूस करना भविष्य के इन स्वतंत्र नागरिकों का स्वभाव बन जाता है। जब तक जनता में इस प्रकार की जिम्मेदारी की स्वयं प्रेरणा नहीं होगी, लोग अपनी आन्तरिक व्यवस्था और सुरक्षा के लिए किसी बाहरी शक्ति के मुहताज बने रहेंगे। बचपन से ही उत्पादन की प्रक्रियाओं का अभ्यास होने पर मनुष्य आसानी से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय यंत्रों का भरोसा छोड़ देता है। बचपन से ही कठिन होते हुए भी इन प्रक्रियाओं के माध्यम से विभिन्न विषयों का ज्ञान कराने के कारण उत्पादन क्रम की जड़ता नष्ट हो जाती है, लोग उसके वैज्ञानिक तत्त्व को भी समझते हैं और लगातार प्रगति होती रहती है। इस प्रकार नयी तालीम की पद्धति से जनता की प्रवृत्ति केन्द्रीय यंत्र-तंत्र का भरोसा करने के बजाय अपने पर भरोसा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। अतः नयी तालीम स्वावलंबन की एक परम क्रियात्मक शक्ति है।

केवल भरोसे की बात नहीं। मौलिक आवश्यकताओं की प्राप्ति की वैज्ञानिक कुंजी अपने हाथों में होने के कारण आज जनता के श्रम का जो शोषण हो रहा है, वह नहीं हो पायेगा और उनका अभावजनित उत्पीड़न भी खतम हो जायगा।

(२)

नयी तालीम के शिक्षण-केन्द्र स्वावलम्बी होने चाहिए

गांधीजी ने 'नयी तालीम' के लिए यह भी जरूरी कहा है कि इसके शिक्षण-केन्द्र स्वावलम्बी होने चाहिए, ताकि स्वावलम्बन की धारणा बच्चों की प्रकृति में, उनके संस्कार और व्यवहार में प्रविष्ट हो जाय। शिक्षण-केन्द्रों को स्वावलम्बी बनाने के लिए बच्चों को इस बात का विचार करना पड़ता है कि वे कौन उपाय करें, जिनसे उनकी शाला स्वावलम्बी हो। इस सिलसिले में उनको यह भी सोचना पड़ता है कि वे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए किस-किससे सहायता लें। सहायता की यह खोज ही उन्हें सामाजिक सहयोग की ओर प्रेरित करती है।

शाला की व्यवस्था और शिक्षक

इस पद्धति के अनुसार शाला की व्यवस्था भी बच्चों को ही करनी होती है। शिक्षक केवल मार्ग-दर्शक के रूप में रहते हैं। इस तरह बच्चे जब अपनी शाला की सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले लेते हैं, तो शाला उनके लिए एक समाज बन जाती है और शिक्षक वहीं के वातावरण को सामाजिक विषयों का ज्ञान कराने के लिए एक सहज माध्यम बना लेते हैं। इस प्रकार बच्चों में आत्म-विश्वास और आपसदारी के संस्कारों का विकास होता है। वे सहयोगी और स्वावलम्बी समाज की उपयुक्त नागरिकता की ओर बढ़ते हैं।

प्राचीन शिक्षण-पद्धति

हमने पहले ही कहा है कि मनुष्य को जब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने आप करनी पड़ती है तो उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों का विकास सहज

हो जाता है। लोग कह सकते हैं कि पुराने जमाने में भी स्वावलम्बी उत्पादन-पद्धति थी; फिर लोग परावलम्बी क्यों हो गये ? पहली बात तो यह है कि उस काल में लोग केन्द्रीकरण की बुराइयों से परिचित न थे, इसलिए उन्होंने विकेन्द्रीकरण के वैज्ञानिक आधार पर समाज-व्यवस्था की स्वावलम्बी योजना नहीं बनायी थी। दूसरी बात यह थी कि उत्पादन की प्रक्रिया शिक्षा का माध्यम न होकर अलग से यन्त्रवत् चलती थी और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा लोग अलग बैठकर किया करते थे। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन का कार्य विज्ञान से शून्य हो गया और उसमें जमाने की आवश्यकता के अनुसार प्रगति न हो सकी; दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान की चर्चा के पीछे व्यावहारिक अनुभव का अभाव हो गया और उसका स्तर गिर गया।

नयी तालीम : वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील समाज की एक संयोजित चेष्टा है

गांधीजी ने इस घातक स्थिति के निराकरण के लिए कहा कि यदि स्वावलम्बन तथा विकेन्द्रीकरण के आधार पर समाज की नींव अटल बनानी है, तो उत्पादन की प्रक्रियाओं को सजीव, वैज्ञानिक और प्रगतिशील बनाये रखना जरूरी होगा। नयी तालीम की पद्धति इसी दिशा में एक संयोजित चेष्टा है।

श्रम से बचने की प्रवृत्ति

मनुष्य के लोभ ने केन्द्रीय यन्त्रवाद और उद्योगवाद का प्रसार किया। केवल उपभोग्य वस्तु की प्रचुरता की तृष्णा ही नहीं, बल्कि मनुष्य की एक और प्रवृत्ति ने मशीनों के प्रभाव को बढ़ने में मदद की। वह है मनुष्य की श्रम से बचने की प्रवृत्ति। मशीनों का प्रयोग करके उसने देखा कि थोड़ी मेहनत से ही अधिक उत्पादन हो जाता है। इससे मनुष्य में एक ऐसी प्रबल तृष्णा उत्पन्न की कि वह अपनी सारी बुद्धि इसी दिशा में लगाने लगा।

पूँजीवाद : प्रचुरता की लालसा और मेहनत न करने की इच्छा—इन दो विरोधी बातों के एक साथ होने का दुष्परिणाम है

वस्तुतः श्रम न करने की प्रवृत्ति की कहानी बहुत पुरानी है। इतिहास के प्रारम्भ काल में पारस्परिक हिंसा से त्रस्त होकर मनुष्य ने जब केन्द्रीय शासन-प्रथा की शुरुआत की थी, तभी से समाज में वर्ग या श्रेणियों का बीज पड़ गया था। शासक, व्यवस्थापक और व्यापारी वर्ग की जिन्दगी स्वयं श्रम न करके उत्पादक-वर्ग के श्रम पर चलने लगी। इस प्रकार श्रम करनेवालों से श्रम न करनेवालों की प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण श्रम से बचने में शान समझी जाने लगी और ऐसे आलसी लोगों की समाज में प्रतिष्ठा भी होने लगी। श्रम की प्रतिष्ठा खतम हो जाने से श्रम को बचाने की प्रवृत्ति का विकास होना स्वाभाविक था। इस प्रकार एक ओर तो प्रचुरता याने भरे-पूरे रहने की लालसा और दूसरी ओर श्रम से बचने की प्रवृत्ति, इन दो विरोधी बातों के मेल से जिस उद्योगवाद की सृष्टि हुई, उससे पूँजीवादी समाज का विकास हुआ और परिणामतः, वर्ग-विषमता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

बाबू-वर्ग

केन्द्रीय व्यवस्थापक-वर्ग तथा पूँजीपति-वर्ग के लिए क्रमशः इस बात की आवश्यकता हुई कि उन्हें एक ऐसा वर्ग मिले, जो उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं से छुट्टी पाकर शासन तथा उद्योग-संचालन में सहायता कर सके। इस उद्देश्य से उन्होंने ऐसी शिक्षा-पद्धति बनायी जिसमें शरीर-श्रम तो न करना पड़े, परन्तु व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ जाय (इसे काहिल और कोढ़ियों की पूजन-विधि कह सकते हैं)। ऐसे लोग सिर्फ लिखने-पढ़ने की योग्यता रख सकते हैं और वे यान्त्रिक व्यवस्था के पुर्जे बनने के सिवा दूसरा स्वतन्त्र कर्म कर ही नहीं सकते। इस तरह समाज में पढ़ी-लिखी एक मध्यम श्रेणी यानी बाबू-वर्ग की सृष्टि हुई। ज्यों-ज्यों इस किताबी शिक्षा का प्रसार हो

रहा है त्यों-त्यों इस वर्ग की संख्या बढ़ती जा रही है और आज यह संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि संसार में इस बाबू-वर्ग की समस्या ने एक भीषण वर्ग-समस्या खड़ी कर दी है। इस समस्या के हल हुए बिना संसार की समस्याएँ सुलझ ही नहीं सकतीं। गांधीजी 'नयी तालीम' के जरिये इसी दिशा में एक निश्चित और क्रान्तिकारी कदम उठाना चाहते थे।

वस्तुतः सत्य और अहिंसा के आधार पर समाज तभी टिक सकता है, जब दुनिया में कोई किसीका शोषण न करे यानी मानव-समाज में एक ही वर्ग हो, क्योंकि एक वर्ग का दूसरे वर्ग के शोषण से ही वर्ग-विषमता का अस्तित्व कायम होता है। यही कारण है कि भारत के शास्त्रकारों ने कहा है कि सतयुग में एक ही वर्ग था और जब तक फिर से दुनिया में एक ही वर्ग न हो जायगा तब तक सतयुग का पुनरागमन असम्भव है।

समाज ज्यों-ज्यों सत् से विरत होता गया, सामाजिक जटिलता बढ़ती गयी। दूसरी ओर समाज में ज्यों-ज्यों विषमता बढ़ती गयी वैसे ही सत्य का भी लोप होता गया और अन्त में आज संसार एक भयंकर स्थिति में पहुँच गया है। अतः सबसे पहले इस घातक स्थिति का ही अन्त करना है। गांधीजी 'नयी तालीम' के द्वारा यही करना चाहते थे।

श्रेणीहीन समाज

श्रेणीहीन समाज का मतलब तो यही है कि संसार में एक ही श्रेणी का अस्तित्व रहे। फिर सवाल उठता है कि एक श्रेणी कौन-सी हो? हम देखते हैं कि संसार में, मुख्यतः, तीन ही श्रेणियाँ हैं: (१) रईस (श्रीमान्), (२) बाबू और (३) श्रमिक। अगर समाज को श्रेणी-हीन बनाना है तो यह जरूरी है कि इन तीनों में से किन्हीं दो को खतम करके एक को रखा जाय। फिर प्रश्न यह होता है कि इनमें से किसे रखा जाय और किसे खतम किया जाय? उत्तर स्पष्ट है—यदि एक ही वर्ग को रखना है, तो वह वर्ग ऐसा होना चाहिए, जो अपने भरोसे टिक सके। किसी वर्ग के अपने

भरोसे टिकने का मतलब यह है कि वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके यानी जिन्दगी की आवश्यकताओं को वह स्वयं पैदा कर सके या यों कि पैदा करने के लिए श्रम कर सके। वह एकमात्र श्रमिकों का वर्ग है। रईस और बाबुओं का अस्तित्व तो श्रमिक के शोषण पर ही खड़ा होता है। इस प्रकार श्रेणी-हीन समाज का मतलब ही यह है कि समाज में केवल वही रहे, जो अपने श्रम से उत्पादन कर सकता हो। इसका सीधा मतलब यही है कि जो लोग शोषण पर जिन्दा हैं, उन्हें खतम कर दिया जाय।

पाश्चात्य देशों में भी लोगों ने इसी प्रकार श्रमिकों के श्रेणी-हीन समाज की कल्पना की है। इस दिशा में उन्होंने काफी चेष्टा भी की है। यह चेष्टा श्रमिकों द्वारा, हिंसात्मक तरीके से रईस और बाबू-वर्ग का नाश करने की थी, क्योंकि उन लोगों ने सोचा कि दो वर्ग का नाश कर देने से सिर्फ तीसरा वर्ग ही समाज में बच रहेगा। लेकिन इस प्रकार वर्ग-संघर्ष के हिंसात्मक तरीके का नतीजा क्या होगा? यह तो बिलकुल सर्वविदित बात है कि हिंसा से प्रतिहिंसा की सृष्टि होती है। हिंसा तथा प्रतिहिंसा के घात-प्रतिघात से मानव-समाज हमेशा छिन्न-भिन्न होता है और समाज अपनी अभीष्ट सुख-शान्ति की आकांक्षाओं में कभी सफल नहीं हो सकता। सुख-शान्ति को तिलाञ्जलि भी दे दी जाय, पर क्या इष्ट सिद्ध हो जायगा? हिंसात्मक तरीकों से क्या शोषक वर्गों का अंत हो सकेगा? जो लोग हिंसात्मक तरीके से इनका नाश करने की सलाह देते हैं वे अपने को बहुत बड़ा वैज्ञानिक समझते हैं, लेकिन वे भूल जाते हैं कि विज्ञान का प्रथम नियम यह है कि **"संसार में किसी चीज का लोप नहीं हो सकता।"** वस्तुओं का सिर्फ रूप-परिवर्तन ही हो सकता है। वैज्ञानिक यूरोप ने ऊपर की श्रेणियों का लोप करने की चेष्टा करते समय विज्ञान के इस मौलिक नियम की उपेक्षा कर डाली और नतीजा यह हुआ कि वहाँ इन वर्गों का नाश न होकर वे परिवर्तित रूप में पूँजीपति का रूप बदलकर व्यवस्थापक-वर्ग के नाम से अपने स्थान पर बने रहे और चूँकि यह परिवर्तन हिंसात्मक तरीकों से हुआ इसलिए स्वभावतः उससे प्रतिहिंसा उत्पन्न हुई।

नयी तालीम : समाज को उत्पादक वर्ग का रूप देती है

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है। इस नवजात व्यवस्थापक-वर्ग ने समाज को बौद्धिक और शासकीय शिकञ्जों में इतनी कड़ाई से जकड़ रखा है, जैसा कि वह अपने पहले रईस और बाबू के रूप में कभी सोच भी नहीं सकता था। अतएव समाज यदि यह चाहता है कि संसार में उत्पादकों का केवल एक ही वर्ग रह जाय, तो उसको ऐसी व्यवस्था ढूँढ़ निकालनी होगी जिससे शेष दो वर्गों का लोप होकर सारा समाज सीधे स्वयं उत्पादकों के रूप में परिवर्तित हो जाय। गांधीजी नयी तालीम के जरिये समाज को इसी रास्ते पर ले जाना चाहते थे। उनका तरीका उत्पादकों द्वारा रईस और बाबुओं के हिंसात्मक नाश का नहीं, बल्कि वह उनको उत्पादक-श्रेणी में मिला देने का अहिंसात्मक तरीका था। हिंसात्मक तरीकों से कोई किसीको मिला नहीं सकता, क्योंकि सम्मेलन तो प्रेम और सहयोग से ही हो सकता है।

हिंसा : निराशा का प्रमाण

हिंसा से दुनिया में क्रांति नहीं हो सकती। वस्तुतः हिंसा और क्रांति दो परस्पर विरोधी बातें हैं। क्रान्ति का अर्थ है, समूल परिवर्तन। जो मनुष्य परिवर्तन में विश्वास रखता है, वह हिंसा नहीं कर सकता; क्योंकि हिंसा केवल निराशा का प्रमाण है। जिसे यह विश्वास नहीं रह जाता कि लोगों में परिवर्तन हो सकता है, वही नाश की बात सोचता है। इस तरह हिंसा एक निराशावादी प्रवृत्ति है और निराशावादी प्रवृत्ति द्वारा क्रान्ति की सफलता की आशा करना स्वयं को धोखा देना है। अतः समाज में अगर वास्तविक और समूल क्रान्ति करना है, तो वर्ग-संघर्ष की हिंसात्मक और निष्फल चेष्टा न करके वर्ग-परिवर्तन के अहिंसात्मक तरीके से निश्चित क्रान्ति की ओर कदम उठाना होगा।

अहिंसात्मक मार्ग : सच्ची और सम्पूर्ण क्रान्ति का एकमात्र रास्ता

तर्क के खातिर ही सही, अगर थोड़ी देर के लिए हम ऊपर बताये मार्ग को छोड़ दें, तो भी आज के वैज्ञानिक युग में हिंसात्मक तरीके से किसी समस्या का व्यावहारिक समाधान नहीं हो सकता। इस युग में तो हिंसा के द्वारा समस्याओं का हल करने की चेष्टा में मानव-समाज का ही अन्त हो जायगा। पुराने जमाने में जब विज्ञान का आज जैसा अत्यधिक "विकास" नहीं हुआ था, उस समय हिंसात्मक तरीके से मामलों का फैसला करने पर भी समाज के लिए बचत की गुंजाइश थी। पत्थर, डण्डा, धनुष-बाण, तलवार और बन्दूक से भी मनुष्य चाहे जितनी कोशिश करता था, ध्वंस का परिणाम एक हद के अन्दर ही रहता था। लेकिन आज अणुशक्ति और कॉस्मिक शक्ति के जमाने में अगर हिंसा का प्रयोग किया गया, तो उसका परिणाम क्या होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस तरह आज के वैज्ञानिक युग में हिंसा की सभी योजनाएँ नितान्त अव्यावहारिक होने के कारण उन पर विचार भी नहीं किया जा सकता। अतएव सच्ची और सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए गांधीजी के अहिंसात्मक मार्ग के सिवा कोई दूसरा विश्वसनीय रास्ता रह ही नहीं जाता।

आत्मशुद्धि

ऊपर बताया गया है कि गांधीजी की क्रान्ति का तरीका रईस और बाबुओं को संशोधित करके उत्पादक-श्रेणी में सम्मिलित करने का है। यही कारण है कि उन्होंने अपने तमाम आन्दोलनों को आत्मशुद्धि का आन्दोलन कहा है। इसके लिए पहले तो वह नैतिक तरीके से शोषक वर्ग के विवेक को जाग्रत करते हुए कहते हैं, "तुम शोषक का रूप त्याग कर स्वेच्छा से उत्पादक-श्रेणी में मिल जाओ और उनके साथ उत्पादन के काम में लग जाओ।" अपने रचनात्मक कार्यक्रम की सारी प्रवृत्तियों को गांधीजी ने इसी दिशा में लगाया। ऊँचे वर्ग के नौजवानों को ग्रामीण बनकर अपने श्रम से उपार्जन करके समग्र ग्राम-सेवा का कार्यक्रम तैयार करना, खादी पहनने के लिए अष्टमांश सूत

कातने का नियम बनाना, बम्बई जैसे शहर के लोगों को भी जमीन न मिले तो गमले में ही अपने हाथ से अन्न पैदा करके अन्न ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त करने की सलाह देना, सेवक विद्यालयों में उत्पादक शरीर-श्रम को ही पहला स्थान देना, प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी तरह उत्पादन-कार्य में प्रवृत्त करके उसे श्रमिक-वर्ग में मिला देने की ही गांधीजी की ये सारी चेष्टाएँ थीं।

यों तो गांधीजी के सभी कार्य श्रेणी-हीन समाज की पूर्व-पीठिका स्वरूप रहे हैं, लेकिन "नयी तालीम" के द्वारा दुनिया में केवल उत्पादकों का एक श्रेणी-हीन समाज रखने का जो ढंग है, वह उनकी अन्तिम परन्तु अत्यन्त व्यापक और संयोजित चेष्टा थी।

"नयी तालीम" की बुनियाद

इस शिक्षा-पद्धति में उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा ही प्रत्येक विषय की जानकारी होती है, यानी इसमें उन्होंने शिक्षा का माध्यम ही शरीर-श्रम द्वारा उत्पादन कार्य बना दिया है। इस पद्धति में अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम करते हुए मनुष्य की सारी बौद्धिक शिक्षा पूरी होती है। इसीलिए उसका नाम 'बुनियादी तालीम' रखा गया है, क्योंकि इस पद्धति में जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की चेष्टा में मनुष्य को अपने स्वाभाविक कार्यों के साथ-साथ आवश्यक ज्ञान प्राप्त होता है।

पुरानी तालीम—श्रेणी परिवर्तन परन्तु उल्टी दिशाएँ

इसका अर्थ यह है कि समाज में वही व्यक्ति शिक्षित कहलाता है जिसमें उत्पादन के कार्यों का अभ्यास हो, यानी जो स्वयं उत्पादक हो। पुरानी तालीम कोठरियों में बैठकर केवल पुस्तकों को घोंटने की पद्धति थी, जिसका परिणाम यह होता था कि बच्चों को विद्यालय में भेजने के लिए उन्हें उत्पादन-कार्य से मुक्त कर देना पड़ता था यानी उत्पादक वर्ग के बच्चे अपनी श्रेणी से छूटकर बाबू-वर्ग की श्रेणी में मिल जाते थे। इस तरह पुरानी तालीम भी श्रेणी परिवर्तन की ही पद्धति थी, लेकिन उल्टी दिशा

में। फलतः पुरानी तालीम की प्रगति के साथ बाबुओं की संख्या बढ़ने लगी और उत्पादकों के कन्धों पर शोषकों का बोझ बढ़ता गया, जिसने आज संसार में वर्ग-विषमता को इतना जटिल बना दिया है। अगर यही रफ्तार रही, तो बहुत जल्द दुनिया में शोषकों की संख्या इतनी बढ़ जायगी कि उनके बोझ से उत्पादक दबकर मर जायगा और उत्पादक के मरने से बाबू लोग भी सूखकर मर जायेंगे।

नयी तालीम से बाबुओं का ह्रास होकर उत्पादकों की वृद्धि होती है; क्योंकि यह शिक्षा-पद्धति हल, कुदाल, चर्खा तथा निहाई और हथौड़ी के साथ जुड़ी होने के कारण प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति सहज ही उत्पादक बन जाता है और प्रत्येक उत्पादक को अपना उत्पादन कार्य करते हुए ही शिक्षित बन जाने का मौका मिलता है। इस तरह जब बौद्धिक-वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक बनना पड़ता है और प्रत्येक उत्पादक को बौद्धिक विकास का संपूर्ण अवसर मिलता है, तो समाज में वर्ग-भेद स्वतः समाप्त हो जाता है। इस क्रम से हिंसात्मक संघर्षों के अशान्तिकर दलदलों में फँसने की आवश्यकता ही नहीं होती।

श्रम बनाम श्रेणी विभाजन–जन्मना या कर्मणा ?

आजकल जो लोग श्रेणी-हीन समाज की बातें करते हैं, वे स्वयं शुद्ध बौद्धिक-वर्ग के ही जीव हैं, लेकिन धोखा तो यह है कि वे अपने को श्रमिक-वर्ग का ही एक सदस्य मानते हैं। उनका कहना है कि आखिर सभी लोग सब काम स्वयं नहीं कर सकते और समाज में श्रम-विभाजन की आवश्यकता तो है ही। अतएव जो लोग किताब लिखते हैं, भाषण करते हैं या ऐसे ही दूसरे बौद्धिक श्रम करते हैं तो फिर शरीर-श्रम पर ही क्यों जोर दिया जाय! इन लोगों की दलील है कि यह भी उत्पादन ही है। इस तरह वे कहते हैं कि कोई बौद्धिक श्रम और कोई शरीर-श्रम को अपनाये। इस बात को वे श्रेणी-विभाजन न कहकर श्रम-विभाजन कहते हैं। उनका कहना है कि जो लोग बौद्धिक कार्यक्रम में लगे हैं, उन्हें शरीर-

श्रम में फँसाकर समय और शक्ति का अपव्यय करने से क्या लाभ ! वे कहते हैं कि जो बौद्धिक कार्य के लायक हैं वे बौद्धिक श्रम करें और जो शरीर-श्रम के लायक हों वे शरीर-श्रम करें। ऐसा करने से ही, उनकी राय में, समाज श्रेणी-हीन हो जायगा। आश्चर्य की बात यह है कि वे ही लोग भारत के प्राचीन वर्णभेद की प्रथा के सबसे अधिक खिलाफ हैं। वे कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था एक प्रतिगामी व्यवस्था है। इससे समाज की प्रगति रुक जाती है। वे समाज को ब्राह्मण या शूद्र की श्रेणियों में बाँटने के घोर विरोधी हैं। बौद्धिक कार्यक्रम करनेवालों को शरीर-श्रम की आवश्यकता नहीं और उनके व्यक्तिगत आराम और दूसरे कार्यों के लिए दूसरे लोगों को मुकर्रर किया जांय जो इसके लायक हों। यह ब्राह्मण और शूद्र का दूसरा रूप नहीं तो क्या है ? फर्क सिर्फ इतना है कि आजकल लोग वर्णभेद को जन्मना न मानकर कर्मणा मानते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि अगर श्रमिक को बौद्धिक और शारीरिक दो श्रेणी में बाँटना ही है तो समाज की प्रगति के लिए जन्मना श्रेणी ही अधिक वैज्ञानिक होगी, क्योंकि उससे समाज को पूर्णरूपेण पैतृक संस्कार का लाभ मिल सकेगा। हो सकता है कि कोई एकाध व्यक्ति अपवाद रूप में ऐसा प्रतिभावान निकले जिसके लिए यह पद्धति अन्याय का रूप हो, लेकिन समाज की वैज्ञानिक व्यवस्था एकाध अपवाद की ओर न देखकर सारे समाज के हित को ही देखेगी।

वस्तुतः यह धारणा गलत है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने-वाले एक ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि इन दो प्रकार के श्रमों में एक रुचिकर और दूसरा अरुचिकर है और रुचिकर श्रम ही श्रेष्ठ है। अतः प्रत्येक मनुष्य चाहेगा कि उसे रुचि-कर श्रम का ही मौका मिले। इसलिए अगर समाज को अरुचिकर श्रम की भी आवश्यकता है, तो उसे यह काम व्यवस्था या परिस्थिति के दबाव से ही लेना होगा; क्योंकि स्वेच्छा से कोई भी उस काम को पसंद नहीं करेगा। आज के पैसे के लोभ या परिस्थिति की मजबूरी से भी भंगी का काम करने के लिए उच्च वर्ण के लोग तैयार नहीं होते। अतः अगर समाज में न्याय

और स्वतंत्रता के आधार पर श्रमिक का एक ही वर्ग कायम रखना है, तो प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और शारीरिक, दोनों काम करने होंगे।

अगर मजबूरन ब्राह्मण और शूद्र की दो श्रेणी कायम रखना है, तो मानव विकास के एक मूल सिद्धान्त का फायदा समाज की प्रगति के लिए क्यों न प्राप्त हो ? यह "सन्तान को पैतृक स्वभाव की प्राप्ति" या संस्कारों का सिद्धान्त है। किसी शिक्षित परिवार का पाँच साल का लड़का स्कूल जाकर किसान और मजदूर के उसी उम्र के लड़के से पढ़ने में हमेशा आगे ही रहता है और किसी किसान और मजदूर का लड़का उसी उम्र के शिक्षित श्रेणी के लड़के से खेत खोदने में या बोझा उठाने में आगे रहता है; क्योंकि दोनों में पैतृक संस्कार की भिन्नता है। अतः बौद्धिक और शारीरिक श्रमिकों के रूप में समाज के लोगों को बाँटना है, तो हित उसीमें है कि वह जन्मगत हो। "जन्मना" ही वैज्ञानिक सिद्धान्त है। अतः जो लोग जाति-भेद के खिलाफ हैं, उन्हें श्रम के श्रेणी-विभाग के भी खिलाफ होना पड़ेगा। क्योंकि यदि श्रम का श्रेणी-भेद रखना है, तो "जन्मना" का सिद्धान्त हटाकर "कर्मणा" के सिद्धान्त की बात करना समाज को योग्यता और कुशलता से वंचित कर देना होगा।

श्रेणीहीन समाज का श्रमविभाग

लोग प्रश्न कर सकते हैं कि बिना श्रम-विभाजन के फिर समाज का उत्पादन-कार्य कैसे चलेगा ? यह सही है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला प्रत्येक काम नहीं कर सकता। अतः श्रम-विभाजन का कुछ आधार होना ही चाहिए। वास्तविक श्रेणीहीन समाज में वह आधार गुणसंबंधी न होकर वस्तुसंबंधी होगा, यानी कोई किसी वस्तु को पैदा करेगा, तो कोई दूसरी वस्तु को। लेकिन उत्पादन-कार्य में तो प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक और बौद्धिक, दोनों श्रम करने होंगे। श्रम-विभाजन के नाम पर किसी को टट्टी फिरने का श्रम और किसी को उसे साफ करने के श्रम की जो प्रथा चल गयी है, गांधीजी की कल्पना के श्रेणीहीन समाज में इसकी गुंजाइश नहीं है। उनकी कल्पना के अनुसार

श्रेणीहीन समाज में प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और शारीरिक श्रम, दोनों ही करने पड़ेंगे, नहीं तो यह सिद्धान्त कोरी बात ही रह जायगी। इस प्रकार श्रेणी-हीन समाज-रचना की दिशा में भी गांधीजी की 'नयी तालीम' का तरीका दूसरे सभी तरीकों से अधिक व्यावहारिक, वैज्ञानिक और वास्तविक है।

(४)

समान अवसर का सच्चा मतलब

शिक्षित समाज में इधर 'समान अवसर' का नारा चल पड़ा है। कहते हैं कि शिक्षा के लिए प्रत्येक मनुष्य को बराबर मौका मिले। अगर शिक्षा की पद्धति ऐसी हुई कि मनुष्य को उत्पादन का कार्य छोड़ देना पड़े, तो प्रत्येक को शिक्षा का मौका देने का मतलब यह होता है कि हर व्यक्ति को उत्पादन-कार्य छोड़ देने का मौका दिया जाय। इसका मतलब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति शिक्षाकाल की समाप्ति के बाद ही उत्पादन-कार्य में लगे। फिर शिक्षा-समाप्ति के बाद लोगों को इस बात का कभी समान अवसर देना होगा कि वे अपने लिए स्वेच्छा से रुचिकर या अरुचिकर श्रम को पसन्द करें। इससे लोग किस ओर झुकेंगे, यह प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है। यदि सभी लोग अपनी शिक्षा के अनुसार रुचिकर श्रम की ओर झुकेंगे, तो क्या समाज इसके लिए समुचित व्यवस्था कर सकेगा? इस प्रकार उत्पादन-कार्य समाप्त हो जाने से समाज का काम कैसे चलेगा? लोग कहते हैं कि हम इस बात को बहुत दूर तक खींच ले गये। समान अधिकार का मतलब यह नहीं है कि ख्वाहमख्वाह सब लोग अधिकार का इस्तेमाल करके शिक्षा के क्रम को पूरा ही कर दें। बहुत से ऐसे लोग होंगे जो शिक्षा की ओर जायँगे ही नहीं, या कुछ दिन बाद पढ़ाई छोड़कर हल चलाने लगेंगे। स्वभावतः शायद ऐसा ही होगा। लेकिन इसका कारण यह नहीं होगा कि अधिकांश लोगों की रुचि ही पढ़ाई की ओर नहीं, बल्कि अगर वे पढ़ने नहीं जाते, तो इसका कारण परिस्थिति की

मजबूरी ही है और अगर परिस्थिति की मजबूरी के कारण कोई पढ़ने नहीं जाता, तो समान अवसर की बात कहाँ रही ? अतः अगर समान अवसर देना है, तो पद्धति ऐसी बनानी होगी कि जिससे प्रत्येक मनुष्य अपनी मौजूदा परिस्थिति में रहकर भी शिक्षा का अवसर पा सके।

आज प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति की जबान से एक दूसरी बात भी सुनायी पड़ रही है। वह यह कि शिक्षा अनिवार्य की जाय। अगर शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय, तो उसका मान इतना होना चाहिए कि जिससे बाद को उसकी शिक्षित स्थिति कायम रह सके, यानी उसे १५ साल की उम्र तक तो शिक्षा देनी ही चाहिए। १५ साल की उम्र तक पाठशाला की कोठरी में बैठकर किताब पढ़ने के बाद, जब वह अपने खेत का हल पकड़ेगा तब उसकी क्या दशा होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मौलिक उत्पादन की प्रक्रिया का अभ्यास बचपन से हुए बिना उस काम में कुशलता तथा गति भी नहीं आ सकती। अतः यह साफ है कि पुरानी पद्धति से १५ साल की उम्र तक स्कूलों में पढ़ने के बाद ही प्रत्येक आदमी को उत्पादन-कार्य में लगने से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं है।

विकेन्द्रित समाज में उत्पादन-कार्य के अभ्यास की बचपन से ही आवश्यकता

दूसरे औद्योगिक मुल्कों में जहाँ यन्त्रों से ही उत्पादन होता है, वहाँ यन्त्रचालक को हाथ, आँख और दिमाग चलाकर उत्पादन नहीं करना पड़ता। वहाँ चालक भी यन्त्र का पुर्जा बनकर चलता रहता है। वहाँ बचपन से अभ्यास का कोई सवाल ही नहीं उठता। अतः वहाँ इस प्रकार पढ़ाई के बाद भी यन्त्र चलाना सम्भव हो जाता है। लेकिन गांधीजी के विकेन्द्रित और स्वावलम्बी समाज में उत्पादन-कार्य के लिए बचपन से उत्पादन की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अभ्यास अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब उन प्रक्रियाओं को शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय।

बापू की 'नयी तालीम' विश्व की श्रेष्ठतम पद्धति

अगर दुनिया के सारे उत्पादन-कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करते हुए एक श्रेणी-हीन समाज बनाना है, तो यह जरूरी है कि प्रत्येक मनुष्य उत्पादन-कार्य करते हुए बौद्धिक विकास कर सके, वरना जन-हित के सारे सिद्धान्त जनता का वोट पकड़ने के लिए कोरे राजनीतिक नारे रह जायँगे। उन्हें व्यवहार में लाना या वास्तविक रूप देना सम्भव नहीं होगा। अतएव अगर हमारा ध्येय संसार में शासन-हीन और श्रेणी-हीन समाज की रचना करना है, अगर मानवता को हिंसा और शोषण से मुक्त करके पूर्णतः स्वतंत्र बनाना है, तो उसके लिए बापू की बताई हुई 'नयी तालीम' के सिवा शिक्षा का दूसरा व्यावहारिक और वैज्ञानिक तरीका अब तक किसी ने बताया ही नहीं।

● ● ●

परिशिष्ट—१

नयी तालीम के प्रयोग और परिणाम

प्रश्न यह है कि यह नयी तालीम की प्रवृत्ति चले कैसे ? उसका स्वरूप क्या हो ? और किस दृष्टि से उसका संगठन किया जाय ? शिक्षा-पद्धति कैसी हो ? इसका निर्णय करने की दो दृष्टियाँ होती हैं। एक दृष्टि यह है कि किस तरीके से तालीम दी जाय, जिससे बच्चों के दिमाग पर कम-से-कम बोझ डालते हुए, उन्हें आसानी से विषयों की जानकारी करायी जा सके। दूसरी दृष्टि यह है कि बचपन से ही ऐसे तरीके से तालीम दी जाय कि बालकों का मानस सामाजिक क्रांति की दिशा में सहज ही बढ़ता रहे। तालीम के तरीके में वे लोग भी हेरफेर करते रहते हैं, जिनके मन में समाज-व्यवस्था में हेरफेर करने का कतई विचार नहीं रहता। उनकी दृष्टि पहले प्रकार की है। वे केवल शिक्षण की सहूलियत का विचार करते हैं। इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप किंडरगार्टन, मौंटेसरी, डाल्टन तथा प्रोजेक्ट-पद्धति का आविष्कार हुआ। इन शिक्षा-पद्धतियों के आविष्कारकों के विचार में समाज के आमूल परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं था। वे इतना ही सोचते थे कि किस तरह बच्चों को आसानी से दुनिया के ज्ञान-भण्डार से अवगत कराया जाय।

एक ओर संसार के शिक्षा-शास्त्री तालीम को गहरी करने के उद्देश्य से नयी-नयी शिक्षा-पद्धतियों पर विचार कर रहे थे; और दूसरी ओर गांधीजी तालीम के मसले पर दूसरे दृष्टिकोण से अपने ढंग से सोच रहे थे। गांधीजी के सामने शिक्षार्थियों के लिए वास्तविक मनोविज्ञान के आधार पर तालीम का सहज तरीका ढूँढ़ना मात्र ही काम नहीं था। इस बात का चिन्तन तो उन्हें था ही; लेकिन उनके लिए उससे भी ज्यादा महत्त्व की बात यह थी कि किस तरह नये समाज के लिए नये मानव का निर्माण हो। अहिंसक समाज के लिए शासन-हीन तथा वर्गहीन समाज कायम करना जरूरी है; इस सिद्धान्त को सामने रख-कर उन्हें तालीम का तरीका ढूँढ़ना था।

नयी तालीम के दृष्टिकोण

जिस तरह १९२१ में गांधीजी के साथियों ने चरखे को विभिन्न दृष्टि से अपनाया था; उसी तरह वे १९३८ में भी नयी तालीम को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखने लगे। किसी ने उसे शिक्षण-कला को वास्तविकता के साथ जोड़ने का जो विचार चलता आ रहा था, उसीके एक अगले कदम मात्र रूप में सोचा है। (वस्तुतः सारे संसार के शिक्षा-शास्त्रियों ने इसे इसी दृष्टि से देखा।) किसी ने इसे देश की आजादी के संग्राम की दिशा में आगे बढ़ने के लिए जन-सम्पर्क स्थापित करने का एक विस्तृत साधन समझा। कुछ लोगों ने तो इसे चरखा चलाने का एक नया बहाना माना। थोड़े ऐसे लोग भी जरूर थे, जो इसे नयी क्रान्ति के वाहन के रूप में देख सकते थे। लेकिन उनकी संख्या नगण्य थी।

क्रमशः शिक्षा-शास्त्रियों ने भी महसूस किया कि शिक्षा को वास्तविक रूप देने की दिशा में यह एक बड़ा कदम है और इसके पक्ष में अपनी राय जाहिर करने लगे। देश के नेताओं ने गांधीजी को भले ही पागल समझा, परन्तु शास्त्रियों की बात वे नहीं टाल सके। अस्तु, वे नयी तालीम के प्रचार पर विचार करने लगे। कई प्रान्तों में कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल होने के कारण, सरकारी तौर पर भी जगह-जगह बुनियादी शिक्षा का प्रयोग होने लगा और आखिर में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इसके प्रसार की प्रगति कुछ बढ़ी।

नयी तालीम व्यापक क्यों न हो सकी

यह सब हुआ। लेकिन शिक्षण-कला का प्रयोग मात्र मानने के कारण, किसी सरकार को इसके व्यापक प्रसार के हेतु जोश नहीं रहा। उन्होंने इसे कहीं-कहीं चलाकर पुराने तरीके से इस तरीके का तुलनात्मक अध्ययन मात्र करना चाहा। नयी तालीम के पीछे नव-समाज-निर्माण की जो निश्चित धारणा थी, उस पर आस्था न होने के कारण, वे इससे अधिक और कुछ नहीं सोच सके। यही कारण है कि अंगरेजी-राज के समय देश के जिन नेताओं ने उसकी

चलाई हुई पद्धति को मुल्क के लिए घातक माना था, उन्हें आजादी हासिल करने के बाद, इस घातक पद्धति को रद्द करना तो अलग रहा, उसके अत्यधिक प्रसार की प्रगति को रोकने की भी हिम्मत नहीं हुई; हालाँकि वे आज भी इस तालीम की बुराई की गाथा गाने का कोई मौका नहीं छोड़ते। पुरानी तालीम से सन्तोष नहीं, नयी तालीम पर आस्था नहीं, किसी तीसरे तरीके की कल्पना नहीं; ऐसी हालत में वे लाचार रहे। और "जैसा चलता था वैसा चलता रहे" के सुगम रास्ते पर पुराने रूढ़िग्रस्त शिक्षा-शास्त्रियों के हाथों में तालीम को छोड़ कर निश्चिन्त रहे।

नयी तालीम के वेश में पुरानी तालीम

नयी तालीम के लिए लोगों पर गांधीजी के व्यक्तित्व का असर है। उसे कुछ स्वतन्त्र विचारक व शिक्षा-शास्त्रियों की मान्यता भी हासिल है। अतः विभिन्न राज्यों की सरकारों ने पुरानी तालीम को ही राजकीय शिक्षा की रीढ़ मानते हुए भी, अपने कार्यक्रम की सूची में बुनियादी तालीम के नाम को भी कहीं-कहीं स्थान दिया है। इसका स्थान भी उसी तरह का है, जिस तरह सरकारी आर्थिक योजना में केन्द्रित बृहत् उद्योगों के मुकाबले में खादी और ग्रामोद्योग का है। जिस तरह राष्ट्र की मूल आर्थिक नीति केन्द्रित औद्योगीकरण को रखते हुए थोड़ा-बहुत खादी और ग्राम-उद्योग चलाने के कारण वे (खादी, ग्राम-उद्योग) पनप नहीं सके, उसी तरह राष्ट्रीय शिक्षा-नीति पुरानी तालीम के होते हुए कहीं-कहीं बुनियादी शाला चलाने से नयी तालीम पनप नहीं सकी। केवल पनप नहीं सकी, ऐसी बात नहीं। जो कुछ भी बुनियादी तालीम का काम चल रहा है; पुराने रूढ़िग्रस्त शिक्षा-शास्त्रियों के संचालन और परिचालन में रहने के कारण, रह-रह कर उसमें आमूल परिवर्तन करने की कोशिश होती रहती है, जिससे वह नयी तालीम की पोशाक में वस्तुतः पुरानी तालीम ही रही।

नयी तालीम का नतीजा

देश में व्यापक रूप से जो बुनियादी शिक्षा चल रही है, वह जनता की दृष्टि

आकर्षित नहीं कर सकी; बल्कि आकांक्षित नतीजे की ओर न चल सकने के कारण वह निश्चित रूप से बदनाम हो रही है। शुरू में ऐसी बात नहीं थी। जिस समय गांधीजी द्वारा नयी तालीम के सिद्धान्त तथा जीवन-दर्शन की बात की गयी थी, उस समय जनता ने उसका बड़े प्रेम से स्वागत किया था। यही कारण था कि बिहार की राज्य-सरकार ने जब यह एलान किया कि जिस गाँव के लोग बुनियादी शाला के लिए आवश्यक भूमि का दान देंगे, उसी गाँव में वह खोली जायगी, तब राज्य के देहातों से इतने अधिक दान-पत्र आने लगे कि उतनी संख्या में शालाएँ खोलना राज्य सरकार की शक्ति के करीब-करीब बाहर की बात हो गयी। लेकिन कुछ दिन चलने के बाद लोग निराश होने लगे। उन्होंने देखा कि पुरानी तालीम के अनुसार किताबी पढ़ाई बन्द हुई, लेकिन बच्चों में किसी प्रकार के नवीन जीवन की उमंग दृष्टिगोचर नहीं हुई। किसी उत्पादक उद्योग में वे कुशल नहीं हुए और न पुस्तक-ज्ञान ही प्राप्त कर सके। नतीजा यह हुआ कि वे किसी काम के नहीं हुए। ऐसा क्यों हुआ, इस पर गम्भीर विचार करना चाहिए।

एकांगी गुण-ग्रहण

हमने पहले ही कहा है कि नयी तालीम के बुनियादी तत्त्व को छोड़कर सरकार तथा देश के शिक्षा-जगत् ने उसके बाह्य रूप को ही अपनाया है। यानी लोगों ने शिक्षण-कला की सहूलियत की दृष्टि से ही इस पद्धति को ग्रहण किया है। किसी वस्तु की चेतन आत्मा को छोड़कर जड़-देह को अपनाने से जो दशा होती है, देश में नयी तालीम की भी वही दशा हुई। वास्तविकता के साथ ज्ञान-प्राप्ति को जोड़ने की चेष्टा में पहले जिन पद्धतियों का आविष्कार हुआ था, उनमें प्रत्यक्ष वास्तविक जीवन के अनुभव-प्राप्ति के माध्यम की कल्पना न होकर, वास्तविक वस्तुओं के उदाहरण से समझाने की कल्पना थी। यह बात शिक्षण-मनोविज्ञान की दृष्टि से अधूरी थी। आज जगह-जगह जिस ढंग से, नयी तालीम चलायी जा रही है, उसे देखने से यही प्रतीत होता है कि

इसी मनोवैज्ञानिक पूर्णता को देखकर ही शिक्षा-शास्त्री तथा सरकारी विभाग इसकी ओर आकृष्ट हुए हैं। लेकिन केवल इतने से ही नयी तालीम की उद्देश्य-पूर्ति नहीं होती है, बल्कि एकांगी स्वरूप के कारण वह विकलांग होकर समाज जीवन को पंगु कर दे सकती है। यही कारण है कि विनोबाजी ने नयी तालीम पर अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है :

"आज नयी तालीम का जो गुण-ग्रहण हुआ है और हो रहा है, वह इतना एकांगी है कि उसे उस आधार पर स्वीकार किया जाना खतरे से खाली नहीं है।"

वस्तुतः नयी तालीम को ग्रहण करने में जहाँ वास्तविक जीवन-अनुभव के लाभ की बात सोची गयी, वहाँ उसके अमल में मुल्क की वास्तविक परिस्थिति के साथ कोई सामंजस्य नहीं रखा गया। अर्थात् उसे वास्तविकता से ही दूर रखा गया। इसलिए सामान्य शिक्षण-कला की दृष्टि से भी वह अव्यावहारिक हो गया।

शिक्षा-मनोविज्ञान की दृष्टि से वास्तविक क्रम-प्रक्रिया को केन्द्र मानकर ज्ञानप्राप्ति के तरीके को उत्तम माना गया है। इस सिद्धान्त को नजर में रखकर जब गांधीजी की बुनियादी शिक्षा को देश के कर्णधार अपनाने लगे, तो उस समय वे भूल गये कि जिस क्रम-प्रक्रिया को गांधीजी ने शिक्षा के माध्यम के रूप में रखा था, उस क्रम को ही उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

गांधीजी ने दस्तकारी को शिक्षा की बुनियाद माना था। लेकिन देश के नेताओं ने राष्ट्रीय जीवन में दस्तकारी का कोई स्थान नहीं रखा। अगर कुछ माना भी तो, उसे आर्थिक जिन्दगी का केन्द्र न मानकर एक खिलौने के रूप में ग्रहण किया। यही कारण है कि नयी तालीम राष्ट्रीय-जीवन की बुनियाद न बनकर महज एक तमाशे की चीज रह गयी !

राष्ट्रीय अर्थनीति का प्रभाव

आखिर शिक्षा-केन्द्र में जो विद्यार्थी तालीम पावेंगे, वे अपने भविष्य की चिन्ता तो करेंगे ही। वे देखते हैं कि बारह वर्ष तक जिन दस्तकारियों का अभ्यास

कराया जाता है, राष्ट्रीय अर्थनीति में उसका कोई स्थान नहीं है। जहाँ दस्तकारी का ही स्थान नहीं है, वहाँ दस्तकार की जगह कहाँ? यह उनकी समझ में नहीं आता है। इसलिए वे मानते हैं कि इस प्रकार के दस्तकारी के अभ्यास से उनके जीवन का भविष्य अन्धकारमय है। ऐसे अन्धकारमय भविष्य की ओर बढ़ने में भला, किसको दिलचस्पी हो सकती है? नतीजा यह होता है कि बुनियादी शाला के अभ्यासक्रम के अनुसार उत्पादन की प्रक्रिया सीखने में किसी विद्यार्थी का दिल नहीं लगता और न शिक्षक को ही उसमें रस मिलता है। समाज में जिस वस्तु का स्थान ही नहीं है, उसके लिए दिलचस्पी न होना स्वाभाविक है।

आर्थिक ढाँचा और नयी तालीम

ज्ञान-प्राप्ति के माध्यम रूपी श्रम-प्रणाली को ही अस्वीकार कर उसमें दिलचस्पी न लेने के कारण, उस श्रम में से निकले इस ज्ञान की आशा करना दुराशा मात्र है। यही कारण है कि आज की बुनियादी शाला के उत्तीर्ण छात्र न सफल कारीगर ही बनते हैं और न किसी विषय का ज्ञान ही प्राप्त कर पाते हैं; क्योंकि जब बुनियादी तालीम की बुनियाद में ही कोई तथ्य नहीं रह गया, तो आगे के ज्ञान की गुञ्जाइश ही कहाँ! वस्तुतः सरकारी शिक्षा-योजना में बुनियादी शिक्षा-पद्धति से जिस लाभ को अपनाने की कोशिश की गयी है; आज राजनीतिक तथा आर्थिक ढाँचे के अन्दर मेल न बैठने के कारण वह लाभदायक न होकर हानिकारक हो रही है। शिक्षा-प्राप्ति का उद्देश्य तो सफल होता ही नहीं। उल्टे राष्ट्र का श्रम तथा सम्पत्ति का अपव्यय होता है। शिक्षा के माध्यम के रूप में दस्तकारी का इन्तजाम सरकार की ओर से शालाओं में किया जाता है, इस आशा से कि उत्पादन के द्वारा आमदनी से सरकार पर शिक्षा का बोझ कम होगा। लेकिन नतीजा उलटा होता है। उत्पादन की आमदनी तो दूर रही, अनिच्छा-पूर्वक कर्म करने के कारण उत्पादन के साधन में जो पूँजी लगायी जाती है, वह भी बरबाद होकर खतम हो जाती है। फलतः यह

शिक्षा स्वावलम्बी न होकर पुरानी तालीम से भी अधिक खर्चीली हो जाती है। यही कारण है कि देश के प्रधान मंत्री, पंडित जवाहरलाल नेहरू जब कभी नयी तालीम की बात सोचने लगते हैं, तो उसके व्यय को देखकर घबरा जाते हैं। क्योंकि जब वे हिसाब लगाने लगते हैं, तो उनको दीखता है कि देश भर में नयी तालीम चलाने के लिए भारतीय सरकार की आमदनी अपर्याप्त होगी।

समाज-जीवन की गलत धारणा

व्यापक नयी तालीम के विफल होने का एक दूसरा भी कारण है। वह है, समाज-जीवन के मूल्यांकन की सही धारणा का न होना। नयी तालीम समाज में एक नये मूल्य की स्थापना करना चाहती है। वह शोषण-हीन समाज स्थापित करने के उद्देश्य से वर्ग-विषमता दूर कर एक नये मानव की सृष्टि करना चाहती है। यह तब तक नहीं हो सकता, जब तक देश का उत्पादक वर्ग भूखा मरता रहे और कुछ ऊपर के लोग उन्हीं के श्रम-उत्पादित द्रव्य को बटोरकर शान-शौकत से रहने में अपनी तथा मुल्क की प्रतिष्ठा मानते रहें। देश के कर्णधार स्पष्ट कहते हैं कि जब तक मुल्क के प्रतिनिधि, इन्तजामकार तथा राजदूत शान-दार तरीके से नहीं रहेंगे, तब तक मुल्क की प्रतिष्ठा कायम नहीं रह सकती। प्रतिष्ठा की इस धारणा की मान्यता रहते हुए देश का एक भी बच्चा स्वावलम्बी जीवन बिताने का इच्छुक नहीं हो सकता। जब वह तालीम लेने जाता है, तब उसके दिल में इसी बात की उमंग होती है कि तालीम पाने के बाद उसे प्रतिष्ठा मिलेगी। स्वभावतः उसे प्रतिष्ठा की धारणा उन्हीं लोगों से मिलेगी, जिन्हें मुल्क प्रतिष्ठित मानता है। यही कारण है कि आज न बच्चों का पालक और न बच्चे खुद नयी तालीम के प्रति आकर्षित होते हैं; क्योंकि देश का नेतृत्व, नयी तालीम के पीछे रहे हुए मूल्यांकन को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा नहीं करता; बल्कि उसे हेय दृष्टि से देखता है, जैसा कि उनके समय-समय के एलानों से हमें मालूम होता रहता है। यही कारण है कि जब इधर कुछ दिनों से मुल्क के बड़े लोग देश की बेकारी तथा अनुशासनहीनता से परेशान होकर जोरों

से नयी तालीम की ओर झुकने लगे हैं, तो बिनोबाजी को उन्हें सामयिक चेतावनी देने के उद्देश्य से कहना पड़ा है :

"अब जब कि बेकारी बढ़ती हुई दीख रही है और उसीके परिणामस्वरूप विद्यार्थी अनुशासनहीन हो रहे हैं, तब नेताओं का मन नयी तालीम की ओर झुका है! लेकिन बेकारी हटाना और अनुशासन स्थापित करना नयी तालीम का कम-से-कम लाभ है। उसका मुख्य लाभ तो यह है कि वह नये मूल्य स्थापित करना चाहती है। जब इन नये मूल्यों का आकर्षण होगा, तभी नयी तालीम का सच्चा गुण-ग्रहण होगा।"

अतएव अगर सरकारी नेताओं को नयी तालीम के मुकतलिफ लाभ के लिए उसे चलाना मान्य है, तो उन्हें साथ-साथ देश की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में तथा मुल्क के जीवन-दर्शन की धारणाओं में भी नयी तालीम के मूल तत्त्वों के अनुसार क्रांतिकारी परिवर्तन करना होगा। अगर वे ऐसा नहीं कर सकते हैं, तो उनके लिए नयी तालीम चलाने की निष्फल चेष्टा में गरीब मुल्क के सार्वजनिक कोष का अपव्यय करना अनुचित होगा।

● ● ●

परिशिष्ट—२

नयी तालीम का विश्वरूप

अब समय आ गया है कि हम नयी तालीम के सोलह साल के जीवन पर गम्भीरता से विचार करें। शुरू में और विशेषतः सात-आठ साल पहले, नयी तालीम के लिए केवल शिक्षा-जगत् में ही नहीं, बल्कि जनता में भी एक नया उत्साह और एक नयी आशा दिखायी देती थी। जमीनें लेकर बुनियादी शालाएँ खोलने का न्योता इतना अधिक आ रहा था कि सरकार के लिए उतनी शालाएँ खोलना कठिन हो रहा था। लेकिन आज देश भर में इस तालीम के लिए न उतनी श्रद्धा है और न उमंग ही; बल्कि एक प्रकार से विरोधी मनोवृत्ति तक कहीं-कहीं उत्पन्न हो रही है। बिहार-सरकार की ओर से नयी तालीम का काम शायद सबसे अधिक श्रद्धा, आदर तथा ईमानदारी के साथ हुआ है; फिर भी बिहार की जनता में नयी तालीम के प्रति विशेष अरुचि ही दिखायी दे रही है।

जिस समय देश में राष्ट्रपति तथा प्रधान मन्त्री से लेकर समस्त चिन्तनशील व्यक्ति पुरानी तालीम की निःसारता के कारण चिन्तित हैं और उसे बदलकर इस दिशा में आमूल परिवर्तन चाहते हैं, ठीक उसी समय नयी तालीम के प्रति लोगों की अरुचि हम सेवकों के लिए चिन्ता का विषय होना चाहिए। ऐसे समय हमें बुनियादी शिक्षा के बारे में आमूलाग्र विचार करना होगा कि आखिर क्या कारण है कि यद्यपि लोग नयी शिक्षा की खोज में तो हैं, फिर भी हमारे उसी काम के प्रति जनता का आकर्षण नहीं है।

शिक्षा का इतिहास

जब हम गहराई से विचार करने लगते हैं, तब स्पष्टतः तालीम के दो पहलू

हमारे सामने आते हैं। एक, इसका सामाजिक उद्देश्य और दूसरा, शिक्षण-कला। वस्तुतः देश और दुनिया के शिक्षण-शास्त्रियों ने बुनियादी तालीम की जो तारीफ की है, वह इसके क्षिक्षण-कला के पहलू को देखकर ही। इसे समझने के लिए हमें शिक्षा-पद्धति के इतिहास पर भी थोड़ा गौर करना चाहिए। पुराने जमाने में तालीम का तरीका था, विविध शास्त्रों को कण्ठस्थ करना। हमारे देश में पुरानी मान्यता "आवृत्तिः सर्व-शास्त्राणां बोधादपि गरीयसी"—सब शास्त्रों की आवृत्ति समझने से भी अच्छी है—की थी। फिर लोगों ने देखा कि इस तरीके से तालीम पाने पर लोग पण्डित तो हो जाते हैं, लेकिन मनुष्य का बौद्धिक विकास ठीक-ठीक नहीं हो पाता। इसलिए फिर पढ़ाने का तरीका निकला। उससे कुछ लाभ हुआ और कुछ दिन यह तरीका चला। लेकिन मानव प्रगतिशील है। उसे इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उसने सोचा कि केवल किताब पढ़ने से ही बुद्धि का विकास पर्याप्त नहीं हो पाता है। फलतः शिक्षण-कला में वास्तविकता (प्रत्यक्ष-दर्शन) के माध्यम से ज्ञान-प्राप्ति की कल्पना की गयी और अधिक-से-अधिक प्रगति वास्तविकता की ओर बढ़ने की रही। चित्रों के माध्यम से सिखाने का आरम्भ हुआ, फिर लोग प्रतिमूर्त्ति पर आये। आगे चलकर किस्म-किस्म के "प्रोजेक्ट" का आविष्कार हुआ। आखिर में कर्म की मार्फत शिक्षण की बात भी सोची गयी।

यह सब होता रहा। लोग चाहे जितनी वास्तविकता की बात करते रहे हों, पर व्यवहार में वे वास्तविक जीवन की नकल की ही बात सोचते थे। कर्म द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की पद्धति में भी वास्तविक जीवन-संघर्ष के माध्यम की कल्पना नहीं हो सकी थी। गांधीजी ने मानव-समाज को इसी वास्तविकता की माध्यम-प्राप्ति में एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक तथा वास्तविक दृष्टि दी। उन्होंने कहा कि अगर वास्तविकता चाहिए, तो वह नकली नहीं, असली होनी चाहिए। यही कारण है कि जब सोलह वर्ष पहले गांधीजी ने दुनिया को बुनियादी शिक्षा का सन्देश सुनाया, तब संसार भर के शिक्षा-शास्त्री उसके प्रति आकर्षित हुए और उन्होंने उसका स्वागत किया।

शिक्षा का मूल उद्देश्य

लेकिन शिक्षण-कला ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं होता; वह तो एक तरीका मात्र है। शिक्षा का असली मकसद तो सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति ही है। शिक्षा द्वारा मनुष्य ऐसा व्यक्ति पैदा करना चाहता है, जो समाज का सही नागरिक बन सके। यही कारण है कि युग-युग में सामाजिक ढाँचों के अनुसार ही शिक्षा की कल्पना की गयी है। प्राचीन भारत में वर्णाश्रम के आधार पर समाज-व्यवस्था चलानी थी, तो उस समय की शिक्षा-पद्धति भी उसीके अनुसार बनायी गयी। जब अँगरेज भारत में आये, तब उनका सामाजिक उद्देश्य दूसरा था। वे इस देश को एक उपनिवेश बनाना चाहते थे, अतः उन्होंने देश की शिक्षा-पद्धति उसी किस्म की बनायी। लार्ड मैकाले साहब ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया था कि इस शिक्षा के नतीजे से इस देश के लोगों की शकल-सूरत तो भारतीय ही रहेगी, लेकिन उनकी भावना, रुचि तथा विचारधारा यूरोपीय हो जायगी। आज अंगरेजों के चले जाने के बाद भी, जब हम शिक्षित भारत की ओर नजर डालते हैं, तो लार्ड मैकाले साहब के इस उद्देश्य की सार्थकता स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

क्रिया की प्रतिक्रिया

गांधीजी ने भी समाज-रचना की एक नयी कल्पना की थी। वे संसार में एक अहिंसक समाज बनाना चाहते थे। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि समाज की जिन संस्थाओं के कारण मानव-हृदय में निरन्तर हिंसा का उद्भव हुआ करता है, उनका तिरोधान हो। यह बात तो स्पष्ट है कि जब तक समाज में शासन और शोषण का अस्तित्व रहेगा, तब तक दुनिया हिंसा से मुक्त नहीं हो सकती। शासन की शक्ति दण्ड-शक्ति है। उसे मनुष्य द्वारा चाहे जितनी मान्यता प्राप्त हुई हो, है वह हिंसा-शक्ति ही। जिस हद तक मनुष्य के अन्तस पर उसका संचालन चलता है, उस हद तक मानव-हृदय पर उसकी प्रति क्रिया होती रहती है। हिंसा की प्रतिक्रिया प्रति-हिंसा है। अतः शासन के

अस्तित्व के कारण, अदृश्य रूप में ही सही, मनुष्य के अन्दर निरन्तर हिंसा-प्रतिहिंसा का घात-प्रतिघात चलता रहता है। फलस्वरूप मानव-संस्कार में हिंसा बद्धमूल हो जाती है। फिर यह देखा जाता है कि बुद्धि और संस्कार में प्रायः संस्कार की ही जीत होती है। अतः बुद्धि द्वारा मनुष्य चाहे जितनी हिंसा-मुक्ति चाहता रहे, अगर संस्कारों में हिंसा भरी रहेगी, तो संस्कार बुद्धि पर विजय पाते रहेंगे और आज दुनिया में शांति की खोज में युद्ध की जो तैयारी चल रही है, वह अनंत काल तक चलती ही रहेगी।

शोषण के फलस्वरूप मनुष्य के अन्दर किस प्रकार निरन्तर हिंसा का घात-प्रतिघात चलता रहता है, यह आज की दुनिया में इतना स्पष्ट रूप से प्रकट है कि उसके लिए अलग से विवेचन की आवश्यकता नहीं है। लेकिन समाज की किस परिस्थिति के कारण शोषण चल रहा है, उस पर विचार करना आवश्यक है। दुनिया में जो उत्कट वर्ग-विषमता चल रही है, वही शोषण का मुख्य कारण है। यही कारण है कि आज का जमाना पुकार-पुकारकर श्रेणीहीन समाज की माँग कर रहा है। देश में जितनी पार्टियाँ हैं, उनमें और बातों के लिए चाहे जितने मतभेद हों, पर वे सब एक स्वर से श्रेणीहीन समाज की स्थापना के उद्देश्य को जनता के सामने रखती रहती हैं।

शोषण व शासन का गठबन्धन

अतएव अहिंसक समाज में अहिंसा की प्राप्ति के लिए एक शासन-मुक्त तथा श्रेणीहीन समाज कायम करने की आवश्यकता है। अब प्रश्न यह है कि यह सब हो कैसे? ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि दुनिया में शासन की आवश्यकता रह जाय और तब भी संसार शासन-मुक्त हो जाय। दुनिया में आज शासन का दायरा दिन-प्रतिदिन जो बढ़ता ही जा रहा है, इसका स्पष्ट कारण यह है कि मनुष्य शासन की आवश्यकताओं की नयी-नयी सृष्टि करता जा रहा है। आखिर इंसान को किस बात की जरूरत पड़ती है? अगर इसकी सूची का गहराई से विश्लेषण किया जाय, तो मालूम होगा कि उसके लिए मुख्य आवश्यकता जिन्दा रहने के साधनों की है अर्थात् आर्थिक आवश्यकता ही

मनुष्य की प्रधान आवश्यकता है। यही कारण है कि मानव-समाज का सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचा आर्थिक ढाँचे पर निर्भर रहता है। आज शासन, जो क्रमशः सर्वाधिकारी होता जा रहा है, उसका खास कारण यह है कि मनुष्य ने अपनी आर्थिक जिन्दगी को पूँजी के कब्जे में डालकर अपने को ही शासन द्वारा गिरफ्तार करा लिया है। पूँजी जैसे-जैसे केन्द्रित होती जाती है, वैसे-वैसे उसपर राज्य का कब्जा बढ़ाना ही पड़ता है।

अतः हमें यदि अहिंसक समाज की स्थापना के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक क्रांति द्वारा शासन-मुक्त तथा श्रेणीहीन समाज कायम करना है, तो उसकी शुरुआत होगी, एक आर्थिक क्रान्ति करके मनुष्य की जिन्दगी को पूँजी-निरपेक्ष बनाने से। सौभाग्य से विनोबाजी ने भूमिदान-यज्ञ आंदोलन द्वारा हमारे सामने इसका एक महान् और सक्रिय अवसर उपस्थित किया है। आज सबको इस क्रांति को आगे बढ़ाना होगा।

पूछा जा सकता है कि नयी तालीम के साथ आर्थिक क्रांति का क्या संपर्क है? आज बहुत से लोग शायद ऐसा ही सोचते हैं। लेकिन नयी तालीम का उद्देश्य नव-समाज-निर्माण है। पुराना समाज ज्यों का त्यों बना रहे और उसके ऊपर एक नया समाज कायम हो, यह हो नहीं सकता। यही कारण है कि मैंने पहले क्रांति की ही बात की। क्या यह संभव हो सकता है कि मनुष्य आज जैसा है वैसा ही, यानी प्रतियोगिता-युक्त, स्थिर-स्वार्थ-प्रवृत्त तथा हिंसा को माननेवाला रह जाय और समाज शासन-मुक्त भी हो जाय? गांधीजी की शासन-हीन या राज्य-हीन समाज की कल्पना कोई नयी बात नहीं है। यूरोप में इसकी चेष्टा पहले भी हुई थी। लेकिन उन्होंने मानव-निर्माण की परिकल्पना के बिना ही राज्य को समाप्त करने की बात सोची थी। फलतः उस दिशा में चेष्टा के नतीजे अव्यवस्था तथा उच्छृङ्खलता के रूप से निकले और आज अराजकता शब्द का मतलब ही उच्छृङ्खलता माना जाने लगा है।

नवमानवरूपी शिव

अतः जहाँ हमको एक प्रचंड जनक्रांति द्वारा मौजूदा राजनीतिक आर्थिक

तथा सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन करना है, वहाँ उस बदले हुए ढाँचे को चलाने के लिए नये मानव का भी निर्माण करना होगा। जनक्रांति के गंगावतरण के साथ-साथ उसे धारण करने के लिए अगर नवमानवरूपी शिव की प्रतिष्ठा नहीं होती है, तो क्रांति का अवतरण तो होगा, लेकिन प्रतिक्रांति के पाताल में उसका तिरोधान हो जायगा। गांधीजी की सूक्ष्म दृष्टि ने इस तथ्य को समझ लिया था। यही कारण है कि उन्होंने क्रांति के साथ-साथ नयी तालीम का संदेश सुनाया।

अतः स्पष्ट है कि नयी तालीम कोई स्वतंत्र कार्यक्रम नहीं है और न यह केवल शिक्षण-कला है। वह तो नयी क्रांति का वाहन है। देव-वाहन अपने देवता को पीठ पर रखकर ही समाज के आदर के साथ आगे बढ़ सकता है। शिव के वाहन के रूप में नन्दी को पूजा मिल जाती है, लेकिन वही नन्दी शिव के बिना साँड़ के रूप में लोगों के खेतों में भटकता है और जनता द्वारा उसे निरंतर दुत्कार मिलती है। वह उल्लू, जो हेय माना जाता है, लक्ष्मी के वाहन के रूप में देव-मन्दिर में स्थान प्राप्त करके पूजा पा लेता है। अतः आज अगर समाज में नयी तालीम का आदर क्षीण हो रहा है, तो इसका स्पष्ट कारण यही है कि वह देवता को पीठ पर लिये बिना ही चलने की चेष्टा में है।

अतएव वास्तव में अगर नयी तालीम की सेवा करनी है, तो हमें एक बार गहराई से आत्मनिरीक्षण करना होगा कि हम कहाँ हैं ? क्या हमारी नयी तालीम आज की युग-क्रांति के वाहन के रूप में चल रही है ? क्या हमारे कार्यक्रम के सहज नतीजे से क्रांति प्रज्वलित हो रही है ?

मूल्य बदले

भारत सरकार तथा विभिन्न राज्य-सरकारों ने नयी तालीम को मान्यता दी है। वे उसे चला भी रही हैं। लेकिन दुर्भाग्य से उसके पीछे जो जीवन-दर्शन और समाज-क्रान्ति छिपी हुई है, उसे वे नहीं मानती हैं। जब तक नयी तालीम का अपरिग्रही दर्शन, विकेन्द्रित स्वावलम्बी अर्थनीति तथा श्रेणीहीन समाज-व्यवस्था मान्य नहीं की जाती, तब तक नयी तालीम का संगठन तथा संचालन

विडम्बना मात्र है। तब तक इस तालीम के प्रति किसी का आकर्षण नहीं हो सकता। वस्तुतः मौजूदा नीति को कायम रखते हुए सरकार द्वारा नयी तालीम के प्रसार की चेष्टा राष्ट्रशक्ति तथा सम्पत्ति का अपव्यय मात्र है। एक तरफ तो हमारी मान्यता यह रही कि राष्ट्र के नेता, प्रतिनिधि, राजदूत आदि लोग शान और शौकत से नहीं रहेंगे, तो मुल्क की शान में धक्का लग जायगा और दूसरी ओर हम अपने बच्चों को सादगी और स्वावलम्बीशील जीवन की चाहे जितनी महिमा सुनाते रहें, तो भी उसके प्रति किसी भी बच्चे के दिल में आदर पैदा न होगा। आखिर प्रतिष्ठा की आकांक्षा सबको है। हमारी प्रतिष्ठा की मान्यताएँ जैसी होंगीं, देश की आबाल-वृद्ध जनता की तृष्णा तथा आकांक्षा भी वैसी ही होगी। जब देश के नेतृत्व ने लँगोटी की प्रतिष्ठा को मान्य किया था, तब बड़े-बड़े राजाओं की तृष्णा भी उसीकी प्राप्ति में थी। तो सोचना यही है कि आज बुनियादी शिक्षा द्वारा जिस जीवन-दर्शन का प्रचार हम करना चाहते हैं, उसके प्रति जनता का आकर्षण कैसे होगा ?

मुकाम अलग, राह अलग

बुनियादी तालीम का एक मुख्य माध्यम दस्तकारी है। लेकिन देश की अर्थनीति का आधार दस्तकारी न होकर केन्द्रित उद्योग है। ऐसी हालत में हम देश के बच्चों को चौदह-पन्द्रह साल तक दस्तकारी का अभ्यास किस उद्देश्य से कराना चाहते हैं ? अर्थनीति का केन्द्रीकरण करके दस्तकारी के माध्यम वाली शिक्षा-नीति नहीं चल सकती, चलाना अनुचित भी है। ऐसा करने का मतलब यह होता है कि हम अपने बच्चे को बुलाकर कहते हैं कि "देखो बेटा, खूब दिल लगाकर दस्तकारी का अभ्यास करो। लेकिन एक बात समझ लेना कि चौदह-पन्द्रह साल तक लगातार एकाग्रता से अभ्यास करने के बाद जिस हुनर की प्राप्ति होगी, उसका समाज में कोई स्थान नहीं।" इस अत्यन्त निष्ठुर आश्वासन पर किस बच्चे को बुनियादी शाला में तालीम पाने की दिलचस्पी होगी और कौन अभिभावक अपने बच्चे को ऐसी शाला में भेजना चाहेगा ? जब शिक्षक भी समझता है कि ऐसी बेकार वस्तु की प्राप्ति

में हम अपने दिल, दिमाग और जिस्म का व्यय क्यों करें, तो आप समझ सकते हैं कि आज देश भर में नयी तालीम के प्रति उपेक्षा क्यों पैदा हो रही है ?

कुछ लोग यह कह सकते हैं कि हमें इस क्रांति से विशेष दिलचस्पी नहीं है, हम तो शिक्षण-कला की दृष्टि से ही इसे मानते हैं। शायद कुछ शिक्षा-शास्त्री ऐसा मानते भी हैं। परन्तु शिक्षणकला की दृष्टि से आप आखिर इसलिए न अपनाते हैं कि वास्तविकता के माध्यम के मामले में यह पद्धति पूर्ण है ! लेकिन हुआ यह कि वास्तविकता की खोज में हमने उस वास्तविकता को ही खो दिया है। जब माध्यम के रूप में दस्तकारी को अपनाते हैं, तब यह भूल जाते हैं कि दस्तकारी द्वारा उत्पादन-पद्धति आज एक अवास्तविक पद्धति है, क्योंकि राष्ट्र की ओर से आज इसकी मान्यता नहीं है।

अतएव क्रान्ति के बिना ही आज के वास्तविक जीवन के माध्यम से अगर शिक्षा-पद्धति चलानी है, तो चरखा छोड़कर मिल-उद्योगशालाओं को अपनाना होगा। ऐसा करने में एक दूसरी दिक्कत का सामना भी करना पड़ेगा। मिल-उद्योग की प्रक्रियाओं में विभिन्नताएँ नहीं हैं। उसमें काम करनेवाले एक ही प्रक्रिया को आजीवन यन्त्रवत् चलाते रहते हैं। उसमें न सृष्टि का आनन्द है और न कार्यक्रम की विचित्रता। इस कारण अगर शिक्षा का मतलब केवल जड़वत् जानकारी प्राप्त करना है, तो भी इस प्रक्रिया से वह सध नहीं सकेगी। इस प्रकार आज हम एक विकट परिस्थिति के बीच खड़े हैं। दस्तकारी के लिए दिलचस्पी नहीं और मिलकारी में शिक्षण का अवसर नहीं। फलस्वरूप आपकी सम्पूर्ण चेष्टा निष्फल हो रही है और सामान्य शिक्षणकला की दृष्टि से भी इसको यश नहीं मिल रहा है।

आत्मनिरीक्षण की वेला

अब गैर-सरकारी प्रयत्नों की बात लीजिए। अगर हम गहराई से अध्ययन करें, तो यह बात भी स्पष्ट हो जायगी कि हम जो रचनात्मक कार्यकर्ता गैरसरकारी तौर पर काम कर रहे हैं, वह काम भी जनता को आकृष्ट नहीं कर पा रहा

है। इसका भी यही कारण है कि इसे हम यन्त्रवत् स्वतन्त्र कार्यक्रम के रूप में चलाना चाहते हैं। हम भी क्रान्ति-देवी को पीठ पर लेकर चल नहीं रहे हैं। हम गम्भीरतापूर्वक इस बात का विचार नहीं करते हैं कि नयी तालीम के जरिये हमें शोषण-हीन अर्थात् श्रेणीहीन समाज की स्थापना करनी है। यदि समाज में कुछ लोग उपदेश देकर खायें, कुछ व्यवस्था चलाकर गुजारा करें, कुछ लोग केवल माल वितरण करते रहें और कुछ के जिम्मे शरीरश्रम के द्वारा उत्पादन करना मात्र हीं रहे, तो क्या समाज श्रेणीहीन हो जायगा ? आप श्रम-विभाजन की बात करेंगे। क्या वास्तविक श्रेणीहीन समाज का स्वरूप यही रहेगा कि कुछ लोग केवल शरीरश्रम करें और कुछ लोग दिमागीश्रम करें ? क्या प्रकृति ने मनुष्य को इसी तरह से विभाजित किया है ? उसने तो प्रत्येक व्यक्ति को मस्तिष्क और शरीर, दोनों दिये हैं, ताकि वह दोनों का पूर्ण विकास करे और अपनी संयुक्त शक्ति लगाकर शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज की सेवा करे। मनुष्य ने प्रकृति के इस नियम का उल्लंघन किया। उसने अपने को दो हिस्सों में बाँट दिया। एक को हेड्स् कहा और दूसरे को हैंड्स्। विनोबाजी कहते हैं कि इस प्रकार मनुष्य राहु और केतु के रूप में दो टुकड़ों में विभक्त हो गया। मानव-समाज का सनातन अनुभव यह है कि प्रकृति के नियम का उल्लंघन करने पर वह चुप नहीं बैठती, वह उसका प्रतिशोध लेती है। अतएव आज समाज में जो उत्कट वर्गविषमता की सृष्टि हुई है, उसीके कारण प्रकृति अपना प्रतिशोध ले रही है और मानव-समाज त्राहिमाम कर रहा है।

कार्य-विभाजन और क्षमता

प्रायः लोग कहते हैं कि अगर हरएक आदमी शरीरश्रम और बौद्धिकश्रम, दोनों करेगा, तो समाज में योग्यता तथा कर्मकुशलता का ह्रास होगा और दुनिया उन्नति नहीं कर सकेगी। पर ऐसा कहकर वे क्षमता की वेदी पर समता का बलिदान करना चाहते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि वे ही विज्ञान के नाम से जन्म के आधार पर प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का भी विरोध करते हैं।

आखिर यदि क्षमता ही इष्ट है, तो समाज की क्षमता-बुद्धि के लिए पैतृक गुणों का लाभ लेना क्या अधिक वैज्ञानिक नहीं है? लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि उनकी यह धारणा भी भ्रान्ति-पूर्ण है। मनुष्य की समग्र इन्द्रियों के पूर्ण और सन्तुलित विकास से ही क्षमता की प्राप्ति सम्भव है। एकांगी विकास से क्षमता के उद्देश्य की भी सिद्धि नहीं होती है। आखिर प्रकृति ने मनुष्य के अन्दर कुछ इन्द्रियों की सृष्टि की है, तो उसका भी कोई तात्पर्य तो होगा ही! क्या उसे दबाकर समाज की क्षमता बढ़ायी जा सकती है? वस्तुतः आज मनुष्य-शक्ति गलत वर्गीकरण के कारण एक-दूसरे को काटने में ही लगी हुई है। फलस्वरूप सारी सृष्टि तीव्र गति से ध्वंस की ओर अग्रसर हो रही है। अतएव, अगर अहिंसक समाज के उद्देश्य से श्रेणीहीन समाज इष्ट है, तो वह पूर्ण विकसित, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक उत्पादकों के एकवर्गीय समाज के रूप में ही हो सकेगा, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शरीरश्रम के द्वारा समाज की सेवा करता रहेगा। इस सेवा से कोई आर्थिक लाभ यानी इसके बदले में किसी प्रकार के उपभोग की सामग्री नहीं मिल सकेगी। फिर ऐसी सेवा पारस्परिक होने के कारण सामाजिक स्वार्थ-सिद्धि तथा आत्मसन्तोष ही उसका पुरस्कार होगा।

आत्मसमर्पण की घड़ी

उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर नयी तालीम के कार्यकर्ताओं के लिए आज आत्म-परीक्षण की घड़ी उपस्थित हुई है। उन्हें श्रेणीहीन समाज की भूमिका में अपने को तौलना होगा। वर्ग-विषमता के निराकरण के लिए दो रास्तों में से हमें एक को तो चुनना ही है: वर्ग-परिवर्तन की अहिंसात्मक क्रान्ति या श्रेणी-संघर्ष की हिंसात्मक प्रक्रिया। जाहिर है कि हमारा रास्ता वर्ग-परिवर्तन का है। तो हमें अपने को जाँचकर देखना होगा कि हम प्रति वर्ष किस गति से उत्पादक श्रमिक बनने की ओर बढ़ रहे हैं। क्रान्ति का पुरोहित क्रान्तिकारी ही होगा न? अगर हम अपने जीवन में क्रान्ति किये बिना ही समाज में क्रान्ति करने की बात सोचते हैं, तो निस्सन्देह हमारी चेष्टा निष्फल होगी। यदि हमारी आर्थिक क्रान्ति केन्द्रित उद्योगों को समाप्त कर विकेन्द्रित

स्वावलम्बी उद्योगों की स्थापना करने की है, तो आग्रह-पूर्वक केन्द्रित उद्योगों के बहिष्कार द्वारा हम ग्राम-उद्योगों का संरक्षण यदि नहीं करते हैं, तो हम क्रान्तिकारी कैसे हो सकेंगे ? श्रेणी-समता का पौरोहित्य करते हुए अगर हम प्रतिदिन मजदूरों की सेवा छोड़ते न चलें तथा शरीरश्रम के द्वारा गुजारा करने की ओर बढ़ते न चलें, तो हम वास्तविक क्रान्तिकारी न होकर क्रान्ति के नाटक के अभिनेता बनकर ही रह जायँगे और चाहे जितना पुकार-पुकारकर क्रान्ति का सन्देश सुनाते रहें, दुनिया उसे नहीं मानेगी।

अतएव, अगर नयी तालीम को चलाना है, तो हमें वास्तविक क्रान्तिकारी बनना है। आज तो हम लोगों ने कुछ त्याग-मात्र किये हैं, अर्थात् कुछ अच्छे काम के लिए थोड़ा आराम भर छोड़ने के तैयार हुए हैं। वस्तुतः क्रान्ति और त्याग एक ही चीज नहीं है। जीवन का तरीका पूर्ववत् रखते हुए रहन-सहन के स्तर में थोड़ी कमी करने से हम त्यागी हो सकते हैं। लेकिन क्रान्ति तो जीवन का तर्ज बदलने से ही हो सकेगी। यह हो सकता है कि एक बाबू से एक मजदूर का जीवन-स्तर ऊँचा हो। लेकिन जीवन का स्तर नीचा होने पर भी अनुत्पादक उपभोक्ता के नाते वह बाबू शोषक-वर्ग का ही रहेगा, जब कि शरीरश्रम से उत्पादन करने के कारण ऊँचे जीवन के बावजूद वह मजदूर उत्पादक वर्ग का ही रहेगा। अतः नयी तालीम के सेवकों को निरन्तर अपने को कसौटी पर जाँचते रहना होगा कि उनकी गति किस ओर है।

शासन-मुक्त समाज के लिए

नयी तालीम के कार्यक्रम में हम एक और महत्त्वपूर्ण पहलू पर ध्यान नहीं देते हैं। वह है, शिक्षा के माध्यम के रूप में सामाजिक वातावरण का इस्तेमाल। बुनियादी शालाओं में कुछ सांस्कृतिक अनुष्ठान मनाकर या सामाजिक त्यौहार-उत्सव आदि में शामिल होकर ही हम सन्तोष कर लेते हैं। लेकिन इतने मात्र से ही हमारा काम नहीं चलेगा। **जिस प्रकार मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सारी औद्योगिक प्रक्रियाएँ हमारी शिक्षा की माध्यम हैं, उसी प्रकार समाज-व्यवस्था के सारे कार्यक्रमों को भी शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करना होगा, अन्यथा शासन-**

हीन समाज टिक नहीं सकता। आखिर राज्य-निरपेक्ष-समाज का मतलब यह तो नहीं है कि समाज में कोई व्यस्था ही न रहे! व्यवस्था तो रहेगी और इंतजाम भी माकूल रहेगा। सवाल यह है कि वह कैसे और किसके द्वारा चलेगा?

मनुष्य की प्रकृति में संस्कृति और विकृति, दोनों का अंश है। आप उसको चाहे जितनी सांस्कृतिक शिक्षा तथा दीक्षा देकर छोड़ दें, धीरे-धीरे विकृति उसके जीवन में घर करती जायगी। जैसे-जैसे समाज में विकृति का प्रकोप होगा, वैसे-वैसे संचालन, नियन्त्रण तथा शासन की आवश्यकता बढ़ती जायगी। अतएव समाज-जीवन के अंग-प्रत्यंग के साथ संस्कृति तथा शिक्षा का कार्यक्रम जुड़ रहना आवश्यक है। आप जिस घर में रहते हैं, उसमें धूल जमने पर झाड़ू देकर उसे साफ करते हैं। अगर घर को एक बार अच्छी तरह से साफ करके छोड़ दें, तो कुछ दिनों में वह इतना गंदा हो जायगा कि वह रहने लायक भी नहीं रहेगा। इसीलिए आप अपने घरों को प्रतिदिन साफ करते हैं। उसी प्रकर अगर शिक्षा का कार्यक्रम अलग से चलाकर, मनुष्य को एक बार अच्छी तरह से शिक्षित बनाकर समाज में छोड़ दिया जाय, तो उसमें धीरे-धीरे विकृति का प्रवेश होता रहेगा। इसलिए मनुष्य-समाज के जितने कार्यक्रम है, सबको शिक्षा के माध्यम में परिणत करना होगा। यही कारण है कि गांधीजी ने कहा था कि नयी तालीम का क्षेत्र जन्म से मृत्यु तक है।

मनुष्य-समाज का सारा कार्यक्रम तीन विभागों में बँटा हुआ है: (१) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन, (२) समाज की व्यवस्था तथा (३) प्रकृति के साधनों की खोज। इसलिए नयी तालीम के तीनों माध्यम यानी उत्पादन की प्रक्रिया तथा सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण समान रूप से आवश्यक है। अतः इसके अभ्यासक्रम में तीनों का महत्त्वपूर्ण समावेश होना चाहिए।

विकेन्द्रित स्वावलम्बी समाज में औद्योगिक प्रक्रियाएँ तीन प्रकार की होंगी: गृह-उद्योग, ग्राम-उद्योग तथा राष्ट्र-उद्योग। हमारे अभ्यासक्रम में तीनों उद्योगों का वर्गीकरण करना होगा। वह कुछ इस प्रकार का हो सकता

है : बुनियादी-वर्ग में गृह-उद्योग, उत्तर बुनियादी के लिए ग्रामोद्योग और उत्तम बुनियादी के लिए राष्ट्र-उद्योग। कृषि का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह तीनों वर्गों में चल सकेगा।

राष्ट्रोद्योग राज्य के नहीं !

मैं जब विभिन्न प्रान्तों में घूमकर विकेन्द्रित स्वावलम्बी समाज की बात करता हूँ, तो प्रायः लोग यह प्रश्न करते हैं कि आखिर कुछ उद्योग तो केन्द्रित रहेंगे ही। अगर राज्य का विघटन किया जाय, तो उन्हें कौन चलायेगा ? लोगों के मन में ऐसा प्रश्न इसलिए उठता है कि वे नयी तालीम को अच्छी तरह समझ नहीं सके हैं। **राष्ट्र-उद्योगों की जिम्मेवारी न किसी पूँजीपति को लेने की जरूरत है और न सरकार को। उसकी पूरी जिम्मेवारी नयी तालीम की होगी।** सर्वोदय-समाज में टाटानगर, चित्तरंजन, डालमिया नगर, बर्नपुर आदि औद्योगिक केन्द्र न रहकर वे विभिन्न विषयों के उत्तम बुनियादी तालीम के केन्द्र बन जायँगे। उस वक्त वहाँ इंजीनियर और मजदूर नहीं रहेंगे, बल्कि शिक्षक और छात्र रहेंगे। वे ही सब मिलकर उत्पादकश्रम करेंगे तथा आपस में उसकी व्यवस्था भी चलायँगे। उसी तरह समाज की सारी व्यवस्था नयी तालीम के माध्यम से होगी। जिस तरह उद्योग के क्षेत्र में तीन तरह के उद्योगों की परिकल्पना है, उसी तरह समाज-व्यवस्था में भी कुछ स्तर रहेंगे। मौलिक स्तर तो ग्राम-राज्य ही होगा, लेकिन कुछ अनिवार्य आवश्यकता पर प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय व्यवस्था रहेगी। शिक्षा के माध्यम के रूप में सामाजिक वातावरण का इस्तेमाल इन्हीं व्यवस्थाओं के कार्यक्रम का होगा। यह कैसे होगा, उसका कुछ ब्योरा हम समझ लें।

तालीम का तरीका

पुरानी तालीम में घर पर याद करने के लिए कुछ सबक (Home Lessons) दिये जाते हैं। नयी तालीम में भी घर के लिए काम देना होगा। बुनियादी वर्ग में आठ दर्जे होते हैं। साल के बावन सप्ताह में से अगर चालीस सप्ताह भी काम के माने जायँ, तो आठ साल में तीन सौ बीस सप्ताह होते हैं। ग्राम-समाज की समस्याओं का समाधान तथा व्यवस्था का काम बुनियादी शाला

के छात्रों को बताना ही होगा। छोटे दर्जे के बच्चों को हल्के-हल्के कामों से शुरू करके आठवें दर्जे तक काफी जटिल समस्या तथा व्यवस्था का काम दिया जा सकता है। जैसे, पहले ग्रेड के बच्चों से यह कहा जा सकता है कि "तुम्हारे घर में कितने लोग हैं, उनकी उम्र क्या है, आपस के सम्बन्ध कैसे हैं, मकान कितना बड़ा है, उसके कितने कमरे हैं, आदि सारी जानकारी प्राप्त कर बताओ।" इस प्रकार से दूसरी भी छोटी-छोटी बातें मालूम करके वे आवें, ऐसा अभ्यासक्रम बनाना होगा। फिर उसी माध्यम से उनकी विभिन्न विषयों की जानकारी बढ़ानी होगी। इसी तरह ऊपर के दर्जे के बच्चों को गाँव की आबादी, गाँव में कितनी जमीन है, पैदावार कितनी है, अगर पैदावार कम है तो क्यों, इत्यादि बातों की जानकारी हासिल करने का काम दिया जा सकता है। वे भूमि समस्याओं का अध्ययन करके शाला में आ सकते हैं। गाँवों के आपसी झगड़े आदि सामाजिक समस्याओं का अध्ययन तथा समाधान का काम भी वे कर सकते हैं और इसी प्रकार उन्हें दूसरे गाँवों की व्यवस्थाओं का भी काम दिया जा सकता है। इस तरह गाँव की समस्या तथा व्यवस्था के काम को विभिन्न वर्गों तथा छात्रों की योग्यता के अनुसार तीन सौ सप्ताह के लिए तीन सौ बीस अभ्यासक्रम बनाये जा सकते हैं। ग्रामसमाज के पंचायत के सदस्य उस समय ग्राम-संचालक न बनकर ग्राम-व्यवस्था सम्बन्धी शिक्षण के शिक्षक होंगे। गाँवों की जिन समस्याओं का समाधान तथा व्यवस्थाओं के काम बुनियादी दर्जे के बच्चों की शक्ति के बाहर होंगे, उन्हें उत्तर-बुनियादी तालीम के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करना होगा। गाँव के स्तर से ऊपरवाली व्यवस्थाओं में से भी जहाँ तक संभव होगा, उन्हें उत्तर-बुनियादी तथा उत्तम-बुनियादी तालीम के माध्यम के रूप में चलाना होगा।

विज्ञान का अर्थ

प्रकृति के साधनों की खोज का काम भी तालीम के माध्यम के रूप में होगा। बहुत-से शिक्षित लोग कहते हैं कि विकेन्द्रित समाज में विज्ञान की कोई हैसियत नहीं रहेगी। मुझे भय है कि उनको विज्ञान का अर्थ नहीं मालूम है। विज्ञान का अर्थ बड़ी-बड़ी मशीनें नहीं है। विज्ञान का अर्थ है, प्रकृति के

नियमों की जानकारी। अणु-शक्ति की जानकारी विज्ञान है, अैटम बम नहीं! समाज का उद्देश्य जिस ओर होगा, विज्ञान का इस्तेमाल भी उसी दिशा में होगा। आज दुनिया का उद्देश्य राज्य-वादी संचालन तथा पूँजीवादी उत्पादन का संगठन है। उसके नतीजों से जो युद्ध-विग्रह अनिवार्य हो जाता है, उसके लिए आज विज्ञान ध्वंसकारी शास्त्रों के बनाने में लगा हुआ है। जब समाज का ध्येय 'विकेन्द्रित स्वावलम्बी व्यवस्था' तथा 'श्रमवादी उत्पादन का संगठन' होगा, तो वही विज्ञान विकेन्द्रित उत्पादन-शक्ति के आविष्कार में तथा उसके साधनों की खोज में जुट जायगा। जब विकेन्द्रित उत्पादन-शक्ति की आवश्यकता होगी, तो जिस तरह आज सामान्य व्यक्ति द्वारा सूर्य-किरण को केन्द्रित करके खाना बनाने के कूकर का आविष्कार किया जाता है, उसी तरह बड़े वैज्ञानिकों द्वारा उसी सूर्य-किरण को अधिक केन्द्रित करके प्रत्येक आँगन में विद्युत्-शक्ति का उत्पादन करना क्या असम्भव होगा? मनुष्य इस प्रकार के आविष्कार में लगा रहे, तो क्या कहेंगे कि वह विज्ञान को छोड़ रहा है? बल्कि इस दिशा की सिद्धि के लिए तो अधिक सूक्ष्म वैज्ञानिक चिन्तन की आवश्यकता होगी।

समाज-जीवन का ताना-बाना

अतः मनुष्य-समाज के सारे कार्यक्रम यानी उत्पादन-कार्य, समाज-व्यवस्था तथा प्राकृतिक साधनों की खोज नयी तालीम के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार समाज के सारे कार्यक्रमों के ताने में शिक्षण तथा संस्कृत के बाने डालकर नव-समाज-निर्माण करना होगा। ऐसा करने में मनुष्य के अन्दर निरन्तर पैदा होनेवाली विकृति की सफाई, साथ-साथ के सांस्कृतिक कार्यक्रमों से होती रहेगी और शासन की आवश्यकताओं की सम्भावना जाती रहेगी।

चिन्मय स्वरूप को परखें

सर्वोदय-समाज का अर्थ है, शिक्षामय समाज। नयी तालीम के इस विश्वरूप का दर्शन हमें करना होगा। बुनियादी शालारूपी मृण्मय-मूर्ति की पूजा से सिद्धि नहीं मिल सकेगी, बल्कि उस मूर्ति के पीछे जो चिन्मय स्वरूप है, उसकी उपासना करनी होगी।

परिशिष्ट—२

एक घंटे की पाठशाला

[विनोबा जी के साथ कुछ प्रश्नोत्तर]

१. प्रश्न :—आपने कहा है कि गाँव में प्रतिदिन चलनेवाली एक घंटे की पाठशाला पर्याप्त है। क्या इतने ही समय में बच्चों को पूरा ज्ञान दिया जा सकता है ? जिस तरह शारीरिक दृष्टि से गाँव के लोग अधभूखे (under-fed) हैं, क्या उसी तरह एक घंटे की पढ़ाई से वे मानसिक दृष्टि से भी अधभूखे नहीं रह जायँगे ?

विनोबा :—नित्य एक घंटे का बौद्धिक वर्ग बच्चों के शिक्षण के लिए पर्याप्त है। शिक्षक खुद गाँव के दूसरे लोगों की तरह अपने उद्योग से अपना भरण-पोषण करनेवाला होगा ; अतः बाकी के समय में भी उसका और गाँव-वालों का जीवित सम्पर्क रहेगा और बच्चे उससे कुछ-न-कुछ सीखते ही रहेंगे। पर इसे छोड़ दें, तब भी एक घंटे का नियमित 'पाठ' बच्चों के लिए काफी है। मैंने तो एक सिद्धांत ही बनाया है कि जितना समय खाने में, याने शरीर को भोजन पहुँचाने में लगता है, उतना ही समय शिक्षा के लिए, यानी बुद्धि और मन को खुराक पहुँचाने के लिए काफी है। बाकी समय तो खाये हुए को पचाने के काम में लगता है। दिन भर में हम तीन बार खायें, तो भी भोजन करने में कुल मिलाकर हमें डेढ़ घंटे से ज्यादा नहीं लगता। तो बुद्धि को भोजन देने में भी इससे ज्यादा समय नहीं लगना चाहिए। घंटे भर में अच्छी तरह पढ़ाया जाय, तो इतने समय में बच्चों को इतना ज्ञान दिया जा सकता है कि जिसे पचाने के लिए, यानी जिसका मनन और अभ्यास करने के लिए, उन्हें काफी

समय चाहिए। हमें यह समझ लेना चाहिए कि शिक्षा का मतलब जानकारी देना नहीं है, जैसा कि अक्सर आजकल माना जाता है। शिक्षा का मतलब तो है, बच्चे में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति पैदा करना। यह हो जाने पर, यानी ज्ञान-पिपासा जाग्रत हो जाने पर बाकी का काम सहज है और वह शिक्षार्थी स्वयं कर लेगा। अतः एक घंटे का समय इस काम के लिए काफी समझना चाहिए।

फिर हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आज-कल जो पाँच घंटे चलने वाले स्कूल हैं, वहाँ साल में पाँच महीने तो छुट्टी रहती है! इसलिए पाँच के ढाई घंटे ही मानने चाहिए। फिर, बीच-बीच में छुट्टी हो जाने से बच्चे को ग्रहण करने में समय भी ज्यादा लगता है। हमारी 'पाठशाला' तो नित्य एक घंटे चलेगी। उसके शिक्षक भी आज की प्रायमरी पाठशालाओं के अध्यापकों की अपेक्षा ज्यादा योग्यतावाले होंगे। आज की शिक्षा-प्रणाली में तो उलटा चलता है। प्रायमरी स्कूलों में, जहाँ अच्छे-से-अच्छे शिक्षक चाहिए, वहाँ कम-से-कम योग्यतावाले रखे जाते हैं। अतः कुल मिलाकर हमारा एक घंटे का शिक्षण कम नहीं रहेगा।

२. प्रश्न:—आपने जो कहा, वह सामान्य शिक्षण के लिए तो ठीक है; पर क्या एक घंटे का शिक्षण 'उच्च शिक्षा' की तैयारी के लिए भी काफी होगा?

विनोबा:—मैंने तो बच्चों को सीधे उपनिषद् ही सिखाया है। इस तरह नित्य एक घण्टे के पाठ से ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान दिया जा सकता है। पर मैंने एक घंटे की पाठशाला की जो कल्पना रखी है, वह तो बुनियादी या प्राथमिक शिक्षण के लिए है। उसकी तुलना आज की चार या पाँच घंटे की प्रायमरी शिक्षा से ही की जानी चाहिए। हमें देखना यह है कि जितनी तैयारी आज के स्कूल के द्वारा बच्चों की होती है, उतनी हमारी एक घंटे की पाठशाला से होती है या नहीं। इसके अलावा मैंने तो कहा ही है कि गाँव-गाँव में 'यूनिवर्सिटी' होनी चाहिए। एक घंटे की पाठशाला तो सामान्य व्यापक शिक्षण के लिए है। पर गाँवों में इतने से ही हमारा संतोष नहीं होगा। अगर हर गाँव में जन्म से मृत्यु पर्यन्त

लोग रहते हैं और सारे काम होते हैं, तो हर गाँव में पूरे शिक्षण की व्यवस्था होनी ही चाहिए। साधारण शिक्षण गाँव में, उससे ऊँचा जिले में, उससे ऊँचा बड़े शहर में और उससे ऊँचा आगे और कहीं भी; इस तरह की योजना ही गलत है। जब जन्म से मृत्यु तक के सारे काम गाँव-गाँव में चलते हैं, तो सब प्रकार के शिक्षण के साधन भी वहाँ मौजूद ही हैं। इसलिए मैं कहता हूँ और मेरा मानना है कि गाँव-गाँव में 'विश्वविद्यालय' के जैसी ऊँची शिक्षा का प्रबन्ध हो सकता है और वह होना चाहिए।

३. प्रश्नः—आप जैसा कहते हैं, उसके अनुसार ऊँचे से ऊँचे तत्त्व-ज्ञान या समाजशास्त्र के ज्ञान के लिए तो हर गाँव में व्यवस्था हो सकेगी, पर जिसे हम विज्ञान कहते हैं, उसका, यानी उच्च टेकनिकल शिक्षण का तथा खोज का प्रबन्ध गाँव-गाँव में कैसे संभव है? हर गाँव में उसके लिए साधन कहाँ से आयँगे?

विनोबाः—जब मैं कहता हूँ कि हर गाँव में यूनिवर्सिटी होनी चाहिए, तो मेरा मतलब यह नहीं है कि हर गाँव में हर चीज का पूरा ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था होगी। आज यूनिवर्सिटियों में भी यह कहाँ संभव है? हर यूनिवर्सिटी में, हर 'फॅकल्टी', यानी हर विषय के उच्च शिक्षण और खोज की व्यवस्था तो नहीं होती। दो जगह में अन्य व्यवस्था समान हो, तब भी शिक्षार्थी उसी जगह जाते हैं, जहाँ उस विषय का गुरु ज्यादा योग्य होता है। इसी तरह गाँवों की यूनिवर्सिटी में होगा। सामान्य तौर पर ऊँचे से ऊँचे शिक्षण की व्यवस्था हर जगह रहेगी, पर जहाँ जंगल अधिक हैं, वहीं 'जंगल-शास्त्र' या 'लकड़ी-शास्त्र' या 'औषधि-विज्ञान' की 'फॅकल्टी' रहेगी। वह सब जगह नहीं हो सकेगी। यह भी समझ लेना चाहिए कि बहुत-सा उच्च ज्ञान भी सब-का-सब भौतिक साधनों पर अवलम्बित नहीं रहता। उदाहरण के लिए, ज्योतिष-शास्त्र के ज्ञान के लिए रोज दूरबीन से देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उससे कभी-कभी देख लेना काफी होता है। तो अगर दूरबीन हर गाँव में नहीं रखी जा सकती, तब भी ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन गाँव-गाँव में हो

सकता है। दूरबीन कहीं एक केन्द्रीय स्थान पर रखी जा सकती है और जरूरत पड़ने पर वहाँ जाकर उसका उपयोग किया जा सकता है।

खोज (Research) के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं : दार्शनिक वृत्ति, हाथों से काम करने का अभ्यास और कुशलता तथा भौतिक साधन। गाँवों में दार्शनिक वृत्ति निर्माण होने के मार्ग में कोई रुकावट नहीं है, यह तो हमने देखा। काम करने की कुशलता के लिए भी वहाँ पर्याप्त अवकाश है ही, क्योंकि वहाँ हर काम लोग स्वयं हाथों से करते हैं। भौतिक साधन भी अधिकांश वहाँ उपलब्ध हैं, क्योंकि सारी सृष्टि वहाँ खुली पड़ी है। जो साधन सब जगह उपलब्ध नहीं हो सकते हैं, उनकी चर्चा भी हमने ऊपर की है।

इस प्रकार गाँव-गाँव में सम्पूर्ण, यानी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा और खोज का अवकाश है और हर गाँव में उसका प्रबन्ध होना चाहिए। इसकी शुरुआत और तैयारी गाँव-गाँव में 'एक घंटे की पाठशाला' से होनी चाहिए। आज तो ज्ञान सीमित है। ज्ञान को व्यापक बनाना हो और सबके लिए उसके दरवाजे खोलने हों, तो इसी प्रकार यह सम्भव होगा।

नयी तालीम साहित्य

पुस्तक का नाम	लेखक	मूल्य	पोस्टेज
		रु. आ.	आ. पा.
सच्ची शिक्षा	गांधीजी (नवजीवन)	२—८	५—०
शिक्षा की समस्या	,, ,,	३—०	४—०
बुनियादी शिक्षा	,, ,,	१—८	२—०
विद्यार्थियों से	,, ,,	४—०	६—०
शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति	,,	१—८	२—०
नयी तालीम	धीरेनभाई	०—८	१—६
शिक्षण-विचार	विनोबा (प्रेस में)	—	—
जीवन और शिक्षण	विनोबा	२—०	२—०
मूल उद्योग : कातना	विनोबा	०—१२	१—०
प्रौढ़ शिक्षा का उद्देश्य	शांता बहन और मार्जरी साइक्स	०—१२	२—०
बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त		१—१०	२—०
जीवन-शिक्षा का उद्देश्य	शांता बहन	१—१४	२—०
कम्पोस्टवाली सण्डास		०—५	१—०
आठ साल का सम्पूर्ण शिक्षाक्रम		१—८	२—०
शिक्षकों की ट्रेनिंग का पाठ्यक्रम		१—०	२—०
पूर्व बुनियादी शिक्षकों की ट्रेनिंग का पाठ्यक्रम		०—१०	१—०
पूर्व बुनियादी समिति का पाठ्यक्रम का विवरण		०—४	१—०
बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा		१—८	२—०
पूर्व बुनियादी तालीम	शांता बहन	१—०	१—६
सुंदरपुर की पाठशाला का पहला घंटा	जुगतराम भाई दवे	(प्रेस में)	

"... नये मूल्यों को लाना होगा, नये विचार के अनुसार तालीम को चलाना होगा। शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर उत्पादन करेंगे, स्वावलंबन का माद्दा सबमें होगा, श्रम की प्रतिष्ठा होगी, ज्ञान-विज्ञान की कमी न होगी। खेती और उद्योगों के साथ जो ज्ञान-विज्ञान चाहिए, वह दिया जायगा। इसलिए परिश्रमनिष्ठ, ज्ञान-विज्ञान युक्त साम्ययोग का विचार माननेवाली तालीम देनी होगी। तब हर लड़का शोधक होगा, सेवक होगा, श्रमिक और तत्त्वज्ञानी बनेगा। उससे देश में विचार की और अन्न की, दोनों की समृद्धि होगी। यह काम हमको फौरन करना होगा।"

—विनोबा

आठ आना